उत्तर भारतीय प्रवर्तक राष्ट्र सन्त भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज के
प्रवर्तक पद-चादर महोत्सव के शुभावसर पर

अमर दीप

[अध्यात्म शास्त्र-ऋषिभाषितानि पर चिन्तन प्रधान प्रवचन]

[प्रथम भाग]

प्रवक्ता
उत्तर भारत केसरी श्रुतवारिधि
श्री अमर मुनि

सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक
श्री आत्म ज्ञान पीठ
मानसा मण्डी, (पंजाब)

☐ अमर दीप (प्रथम भाग)

☐ श्री पी० सी० जैन द्वारा-जैन एण्ड एसोसियेटेड
चण्डीगढ के उदार अर्थ सौजन्य से प्रकाशित

☐ प्रथमावृत्ति
वि० स० २०४२ चैत्र
३० मार्च १९८६

☐ प्रकाशक
श्री आत्म ज्ञान पीठ
मानसा मण्डी (पंजाब)

☐ मुद्रण व्यवस्था
राजेश सुराना,
दिवाकर प्रकाशन के निर्देशन में
शक्ति प्रिंटर्स आगरा
एन० के० प्रिंटर्स आगरा

☐ मूल्य
लागत मात्र बीस रुपया

समतायोग के समर्थ साधक

भारतीय ऋषि-परम्परा के गौरव

आदर्श श्रमण, आत्म-कुल-द्योतक

राष्ट्रसन्त उत्तर भारतीय प्रवर्तक

गुरुदेव श्री भण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज

के

कर-कमलों में

सादर-सविनय भेंट

३० मार्च १९८६

अम्बाला शहर

चादर महोत्सव

—अमर मुनि

प्रकाशकीय

अपने प्रेमी पाठको के हाथों मे हम आज एक महत्वपूर्ण अध्यात्म ग्रन्थ प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसे जीवन का ग्रन्थ भी कह सकते हैं। इस ग्रथ मे भारत के ४५ ऋषि महर्षियो की साधना से प्राप्त अनुभवो पर आधारित उपदेश-वचनो की व्याख्या है। जैन परम्परा मे यह ग्रन्थ 'ऋषिभाषितानि' नाम से प्रसिद्ध हैं। इस ग्रन्थ मे अनेक शिक्षाप्रद, रोचक अध्यात्म प्रधान विविध विचार हैं। हमारे परम श्रद्धेय उत्तर भारत केसरी श्री अमर मुनि जी महाराज तो इसे जैन परम्परा का 'उपनिषद्' ही कहते हैं, और स्थान-स्थान पर इसी ग्रन्थ के आधार पर बडे प्रेरक, जीवनस्पर्शी प्रवचन करते हैं।

इस पुस्तक मे ऋषिभाषितानि सूत्र पर प्रदत्त प्रवचनो का सग्रह है। इन प्रवचनो में जीवन को आलोक प्रदान करने वाली अद्भुत ज्योति है, प्रकाश है और यह प्रकाश एक शास्वत प्रकाश है, अक्षयज्योति है—इसलिए इसका सार्थक नाम भी यही रखा गया है—'अमरदीप'।

इन प्रवचनो का सग्रह करने मे गुरुदेव श्री के मेधावी शिष्य श्री सुव्रत मुनि शास्त्री जी ने बड़ा परिश्रम किया है, तथा इनके सम्पादन मे प्रसिद्ध साहित्यकार भाई श्रीचन्द जी सुराना ने बडी निष्ठा के साथ कठिन प्रयास किया है।

इस पुस्तक के प्रकाशन मे जैन समाज के जाने-माने कार्यकर्त्ता, उदार हृदय श्रीयुत प्रेमचन्द जी जैन (जैन एण्ड एसोसियेडेट चडीगढ) ने अपने पूज्य माता-पिता जी की भावनानुरूप बडी उदारता के साथ धनराशि प्रदान की है। वे गुरुदेव श्री के परम भक्त है और समाज के दानवीरो मे उनकी गिनती है। हम सस्था की तरफ से उनको भी हार्दिक धन्यवाद देते हैं, पुस्तक बडी होने से इसे दो भागो मे विभक्त किया गया है। अभी प्रथमभाग पाठको के कर-कमलो मे सादर समर्पित है।

पूज्य गुरुदेव उत्तर भारतीय प्रवर्त्तक राष्ट्रसत श्री भडारी पद्मचन्द्र जी महाराज के प्रवर्तक पर चादर महोत्सव पर इस पुस्तक का प्रकाशन 'सोने मे सुगन्ध' की तरह हो गया है। हमे विश्वास है, हमारे इस प्रकाशन से जनता लाभ उठायेगी।

फकीरचन्द जैन

प्रधान—आत्म ज्ञान पीठ



जैन परम्परा का उपनिषद्—ऋषिभाषितानि

हम जिस संसार में जी रहे है, इसका नाम है लोक ! लोक का अर्थ है, जो दीखता है, या जो देखा जाता है। यह दुनियाँ हमे आखो से साफ दिखाई देती है—इसलिए हम इसे 'लोक' कहते हैं।

एक आचार्य ने लोक का अर्थ किया है—

यत्र पुण्य-पाप फल-लोकन स लोक —(राजवार्तिक)

जहाँ पुण्य और पाप का फल प्रत्यक्ष देखा जाता है, वह है लोक।

मनुष्य को, इन्सान को भी लोक कहते हैं। जो स्वय देख सकता है—जो देखता है वह भी लोक है अर्थात् मनुष्य मे देखने की शक्ति है, इस लिए इसे भी 'लोक' कहते हैं।

आप कहेगे, देखने की शक्ति तो पशु मे भी है, बिल्ली बड़ी तेज देखती है, गीध की दृष्टि भी बड़ी तेज है, पर यह 'लोक' क्यो नही ? इसका उत्तर स्व० विनोबा जी ने यो दिया है—

पश्यति इति पशु—जो सिर्फ देखता है, वह पशु है।

मननशील मनुष्य

—"जो देखकर उस पर विचार भी करता है, चिन्तन मनन करता है, वह मनुष्य है।

पशु और मनुष्य में यही अन्त है—पशु सिर्फ देखता भर है, उस पर विचार नही करता। क्यो, क्या, कैसे किसलिए—इन प्रश्नो पर उसका दिमाग काम नही करता, किंतु मनुष्य लोकन करता है, अवलोकन भी करता है। मनन करता है, विचार करता है। अपने जीवन के विषय मे अपने अतीत के विषय में और अपने भविष्य के विषय मे भी सोचता है—मननशील है, इसलिए वह मनुष्य है। अवलोक शील है, इसलिए यह लोक है।

जब मनुष्य देखता है, तो क्या देखता है—यही कि इस दुनियां में कुछ लोग बुरे हैं, कुछ भले हैं। कुछ सज्जन है, कुछ दुर्जन हैं ! कुछ सुखी

है। कुछ दुखी है। फिर इस पर विचार करना है—सुखी है तो क्यो है ? दुखी है ता क्यो ? बुरा है तो क्यो है ? भला है तो क्यो है ? यह जीवन क्या है ? जगत क्या है ? मैं इस दुनियाँ मे आया हूँ तो मुझ क्या करना है, यह जिन्दगी कितने दिन की है ? जब मनुष्य यह शरीर छोडकर जाता है तो कहाँ जाता है ? मर कर मिट्टी का पुतला यही खत्म हो जाता है या कोई ऐसा तत्व है, जो मर कर भी 'अमर' रहता है ?

इन सब बातो पर विचार चिन्तन करना मनुष्य का स्वभाव है। वह सदा सदा से इन बातो पर विचार-मनन करता आया है। यह विचार ही 'दर्शन' कहलाता है। दर्शन की उत्पत्ति जिज्ञासा से होती है। जिज्ञासु मनुष्य दार्शनिक बनता है।

भारत की मिट्टी की यह विशेषता है कि यहाँ का मानव प्रारभ से ही जीवन और जगत के विषय मे सोचता आया है। साधारण से साधारण दीखने वाला व्यक्ति भी यहाँ 'आत्मा' 'परमात्मा' लोक, परलोक कर्म और पुनर्जन्म की बाते करता है। जीवन की गति-प्रगति का रहस्य जानने को वह सदा से उत्सुक रहा है। चिन्तन की यह उत्सुकता मनुष्य को ज्ञान-विज्ञान और अध्यात्म के क्षेत्र मे आगे बढाती है।

भारत के ऋषि-मुनि चिन्तनशील, मननशील तो रहे है पर साथ ही आत्म-दृष्टा भी रहे है। जो सिर्फ जीव और जगत के विषय मे सोचता है, वह दार्शनिक होता है, किंतु जो अपने विषय मे भी सोचता है, वह 'आध्यात्मिक' होता है।

भारत का दार्शनिक सिर्फ दार्शनिक नही, किंतु 'आध्यात्मिक' भी रहा है। वह ससार के विषय मे सोचता हुआ अपने विषय मे भी सोचता है। ससार मे कोई मनुष्य सुखी है, बुद्धिमान है, सुन्दर है, और सर्वत्र उसका सम्मान होता है, तो कोई मनुष्य दुखी है, निरा बुद्धू है, दीखने में भी कुरूप है, पद-पद पर उसे अपमान और असफलता का सामना करना पडता है—यह सब भेद क्यो है, किस कारण है ? इस तथ्य पर जब चिन्तन किया जाता है तो मनुष्य की 'आत्मा' सामने आती हैं। कर्म, पर विचार आता है। जिस आत्मा ने जैसा कर्म किया है, पुण्य या पाप, शुभ या अशुभ जैसा आचरण किया है, उसी के अनुसार जीवन मे उसके परिणाम या फल मिलते है। जैसा बीज बोया जाता है उसी प्रकार का फल भी लगता है।

भारतीय विचारकों में मुख्यतः तीन प्रकार की विचार धाराएँ चलती रही हैं।

१ नास्तिकवादी

२ ईश्वरवादी

३ आत्मवादी

नास्तिक, जिसे प्राचीन भाषा में चार्वाक कहते थे, वह सिर्फ शरीर को ही मानता है। उसका कहना है—"मनुष्य तो माटी पानी के संयोग से पैदा हुआ एक पुतला है, कुछ दिन अपना खेल दिखाकर वापस इसी मिट्टी पानी, आकाश में मिल जायेगा। इस शरीर से आगे कोई नई दुनियाँ नहीं है।" इस प्रकार की नास्तिक विचारधारा में 'पुण्य-पाप' आत्मा-परमात्मा नाम की वस्तु ही नहीं है। कोई परम शक्ति या शास्वत तत्व ही नहीं हैं। खाना-पीना भोग-विलास, यही क्षुद्र लक्ष्य है इस जीवन का।

दूसरी विचारधारा है—ईश्वरवादी। उनका कहना है—मनुष्य केवल क्षणस्थायी माटी का पुतला नहीं है, इसके अन्दर अमरत्व का दीपक भी जल रहा है। जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद पुनः जन्म—यह संसारचक्र है और इस विराट संसारचक्र को चलाने वाली कोई परमशक्ति या सत्ता भी है, वह सत्ता भले ही हमें दृष्टिगोचर नहीं हो रही है, किन्तु वह दूध में चिकनाई की तरह कण-कण में व्याप्त है, और उस परम सत्ता के इशारे पर ही मनुष्य-प्राणी कठपुतली की तरह नाच रहा है। वह परम सत्ता है 'ईश्वर' उसी की प्रेरणा से मनुष्य शुभ कार्य करता है, अशुभ कार्य भी उसी की प्रेरणा से करता है।

तीसरी विचारधारा—आत्मवादी है। आत्मवादी का कहना है, मनुष्य स्वयं ही शक्ति का केन्द्र है। मनुष्य एक आत्मा है, और आत्मा ही परमात्म शक्ति का रूप है। जब तक कर्म का, वासना का, मोहमाया का आवरण या पर्दा पड़ा है तब तक वह परम ज्योति निखर नहीं पाई है, इसलिए यह मानव दीन-हीन असमर्थ दीखता है जब यह प्रयत्न करके, तपस्या और साधना करके उन आवरणों को हटा देगा तो उसी के भीतर से वह परम ज्योति फूट पड़ेगी। आत्मा ही परमात्मा के रूप में प्रकट हो जायेगा। बीज ही वृक्ष का विराट रूप धारण कर लेगा। बीज और वृक्ष दो अलग वस्तुएँ नहीं है, इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा की भी अलग सत्ता नहीं है। जीव ही शिव है, नर ही नारायण है। सिर्फ जरूरत है पुरुष को पुरुषार्थ करके, साधना करके 'परमेश्वर' स्वरूप प्रकट करने की। यह

तीसरी विचारधारा—आत्मवादी विचारधारा है। इसे हम जैन दर्शन या जैन विचारधारा कह सकते हैं।

आत्मवादी विचारधारा मनुष्य के विराट रूप मे विश्वास करती है, और इसे आत्मा से परमात्मा बनने की प्रेरणा देती है। वह प्रेरणा है, त्याग, सयम, साधना, वैराग्य और समाधि की। साधना—ईश्वर का दर्शन करने के लिए नही, किन्तु ईश्वर स्वरूप को प्रकट करने के लिए है।

तो आत्म-विकास के विचार, चिन्तन, उपदेश जिन शास्त्रो में होते है, वे अध्यात्म शास्त्र कहलाते हैं। जिन ऋषियो ने अपने अनुभव से जो कुछ देखा है, जाना है, अनुभव किया है, वे वही अनुभव दूसरो के कल्याण के लिए प्रकट करते हैं, उनके वे अनुभव ही शास्त्र हैं, ग्रन्थ है।

हम जिस **'ऋषिभाषित'** सूत्र पर आगे चर्चा कर रहे है, वह एक अध्यात्मशास्त्र है। भारत की अध्यात्मवादी विचारधारा का इस पर गहरा प्रभाव है। इसमे ऋषि, मुनि, तपस्वी परिव्राजक और भिक्षुओ के जीवनानुभव है। साधना के द्वारा जो 'अमृत' उन्हे प्राप्त हुआ वही विचारो का अमृत उन्होने हमारे लिए प्रस्तुत किया है, इस ग्रथ मे।

'ऋषिभाषित' सूत्र किसी एक व्यक्ति की रचना नही है, किंतु यह तो भारत की तपोभूमि पर पैदा हुए उन विभिन्न ४५ ऋषि-मुनियो के आत्मानुभव का सकलन है, जिन्होने स्वयं को तपाया है, खपाया है, साधना के क्षेत्र मे। इसमे विविध प्रकार के विषय हैं, विविध प्रकार की शैलियाँ हैं, और अपने-अपने आत्मानुभव मे भी बडी विविधता और रोचकता है।

'ऋषि भाषितानि' का मैंने कई बार अध्ययन किया है, इस पर अनेक बार प्रवचन दिये है। मैं जैसे-जैसे इस पर विचार करता हू--मुझे लगता है यह ग्रन्थ जैन परम्परा का उपनिषद् हैं। उपनिषद् मे जिस प्रकार विविध ऋषियो के अध्यात्म अनुभव गुम्फित है, इसी प्रकार इस ग्रन्थ मे भी बडे ही गहन, अनुभव मूलक, आत्मस्पर्शी अध्यात्म-अनुभव है। इसकी भाषा शैली भी सूत्रात्मक है, थोडे मे बहुत व्यक्त करने वाले गूढ वचन हैं। ऋषियो ने बडी स्पष्टता और सूक्ष्मता के साथ मनुष्य के अन्तर मन को जागृत करने, प्रबुद्ध करने का प्रयास किया है। इसलिए कही-कहीं यह सूत्र बहुत गभीर भी हो गया है। चूंकि यह 'अध्यात्मवाद' का ग्रन्थ है, इसलिए कथा-कहानी जैसा सरल और रोचक होने का प्रश्न ही नही। इससे जीवन की, अन्तरमन की गुत्थियो को सुलझाने का प्रयास किया गया है। इसमे आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, सयोग-वियोग, क्रिया अक्रिया, संयम, निर्जरा-सवर

तप जैसे गहन विषय हैं तो कहीं-कहीं बड़े सरल, रोचक और शिक्षाप्रद विषय भी हैं। इसलिए हो सकता है ये प्रवचन पाठकों को एक ही बार में समझ में कम आयें; वे इसे पुन' पुन, मननपूर्वक पढ़ेंगे, उन पर चिन्तन करेंगे तो वे विषय हृदयंगम हो सकेंगे। और जैसे-जैसे वे इनकी गहराई में पहुँचेंगे, लगेगा इनमें लीक से हटकर कुछ नया है, और विचार सामग्री भी नई है, सूक्तियाँ भी मन को छूने वाली हैं।

बहुत वर्षों से मेरी भावना थी कि इन प्रवचनो का सकलन कर पुस्तकाकार रूप प्रदान किया जाय तो अध्यात्म रसिक बन्धुओ के लिए काफी अच्छी सामग्री तैयार हो जायेगी। मेरे परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव राष्ट्रसन्त श्री भण्डारी जी महाराज की भी प्रेरणा रहीं। और मेरे शिष्य श्री सुव्रत मुनि शास्त्री एव स्नेहीबन्धु श्रीचन्द जी सुराना की भी इच्छा थी कि इन प्रवचनो का सम्पादन प्रकाशन होना चाहिए, अब यह पुस्तकाकार 'अमरदीप' बनकर पाठको के समक्ष प्रस्तुत है। आशा है प्रेमी और जिज्ञासु पाठक गम्भीरतापूर्वक इन्हे पढकर लाभ उठायेंगे।

इस प्रकाशन मे धर्मप्रेमी श्री पी० सी० जैन के परिवार ने जो सहयोग दिया है, वह भी अनुकरणीय और प्रशसनीय है।

—अमर मुनि

□

धर्मप्रेमी उदारहृदय सेठ श्रीराम जैन तथा उनका परिवार–

[एक परिचय]

जैसे फूल की विशेषता उसकी सुगन्ध है, दीपक की महत्ता प्रकाश में है, वैसे ही मनुष्य जीवन की महत्ता उसके सद्‌गुणो मे है।

जिस जीवन मे सद्‌गुण हैं, धर्म-प्रेम, उदारता, प्रभु भक्ति, राष्ट्रभक्ति और मानव-सेवा की भावना जिस मानव में है, वह मानव मानवता का शृगार है, ससार का श्रेष्ठ मानव है।

सेठ श्रीराम जी जैन भी श्रेष्ठ मानवो की इस शुभ परम्परा में आते हैं। आपका पूरा परिवार ही भगवान महावीर की उदार शिक्षा और उपदेशो पर आचरण करने वाला, राष्ट्रीय विचारो का सुसस्कृत तथा प्रतिष्ठित परिवार है।

आप मूलतः ग्राम मडलोडा जि० करनाल (हरियाणा) के निवासी हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती कलावती जैन भी बडी धार्मिक, श्रद्धाशील और सेवापरायण नारीरत्न है। आपके पाच सुपुत्र तथा पाच सुपुत्रियाँ है।

सहारनपुर (उ० प्र०) मे आपका चावल मिल तथा सालवेंट प्लाण्ट है। आप एक परिश्रमी तथा नीतिमान उद्योगपति है। आपके ही सुसस्कार आपके पुत्र-पुत्रियो मे, परिवार में पल्लवित हुए हैं। आपकी सभी सन्तान आज्ञाकारी, सुशिक्षित तथा अपने व्यवसाय मे कुशल है। आपके समस्त परिवार की जैनधर्म, भगवान महावीर तथा राष्ट्रसन्त गुरुदेव भण्डारी श्री पद्‌मचन्द्र जी महाराज के प्रति अगाध श्रद्धा है।

आपकी पाचो पुत्रियाँ अच्छे प्रतिष्ठित सुखी परिवार में विवाहित है। पाँचों पुत्रो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—



धर्मप्रेमी उदारहृदय उद्योगपति

सेठ श्रीराम जैन, मडलोडा (करनाल)



धर्मशीला अध्यापिका श्रीमती कलावती जैन

धर्मपत्नी सेठ श्रीराम जैन, मडलोडा

१. श्री प्रेमचन्द जैन (C.A) आपकी धर्मपत्नी हैं—
—श्रीमती कमलश्री जैन बी. ए. बी. एड.

२. श्री बाबू राम जैन (C.A.) धर्मपत्नी ; श्रीमती डा० अनीता जैन एम बी. बी. एस ।

३. श्री विजेन्द्र जैन (C.A.) धर्मपत्नी श्रीमती सन्तोष जैन एम ए ।

४ श्री सुशील जैन (C.A) ।

५ श्री राकेश जैन (B.Com) अध्ययन कर रहे हैं ।

आपके सुपुत्र देश के विभिन्न बडे नगरो जैसे चण्डीगढ़, पानीपत, दिल्ली, बम्बई आदि में अपने व्यवासय मे सलग्न है। चार्टर्डेट एकाउन्टेण्ट तथा अन्य उद्योग व्यवसाय भी सम्भालते हैं ।

आपकी प्रमुख फर्मों का कार्यालय निम्न हैं—

जैन एण्ड एसोसियेट्स
S C O 819 20 सेक्टर 22 A
चण्डीगढ, 160,022

फोन 20761/20967

हम प्रभु जिनशासनदेव से प्रार्थना करते हैं कि यह सुसस्कारी प्रतिष्ठित परिवार धर्म एवं राष्ट्र की सेवा करता हुआ धार्मिक सस्थाओं को इसी प्रकार उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान करता रहेगा ।

फकीरचन्द जैन
प्रधान—श्री आत्म ज्ञानपीठ, मानसा मडी

नवयुग सुधारक राष्ट्रसन्त उत्तर भारतीय प्रवर्तक श्री भंडारी पद्मचन्द्र जी महाराज

कुछ लोग अपने माता-पिता तथा गुरु के नाम से प्रसिद्ध होते हैं, तो कुछ लोग अपने ज्ञान व अध्ययन-डिग्री आदि के कारण। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो अपनी सेवा और उदारता के कारण ही प्रसिद्धि प्राप्त करते है।

हमारे पूज्य गुरुदेव प्रवर्तक श्री पद्मचन्द जी महाराज अपनी उदारता, सेवाभावना के कारण समाज मे प्रारम्भ से ही 'भडारी जी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज ने ही आपकी सेवा और सत्र के लिए, सब कुछ समर्पण की भावना को देखकर भण्डारी नाम का प्यारा व सार्थक सम्बोधन दिया था। आचार्यश्री के प्रमुख शिष्य प्रकाण्ड पडित और शान्तमूर्ति पडित श्री हेमचन्द्र जी महाराज आपके दीक्षागुरू थे। प्रारम्भ से ही आप गुरुदेव तथा दादागुरु आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज की सेवा मे रहे। आचार्यश्री की अन्तिम अवस्था मे तो आपने उनकी अभूतपूर्व सेवा की जिसके कारण उन्हे परम शान्ति व समाधि अनुभव हुई।

आपश्री स्वभाव से बहुत ही सरल, निष्पृह, नाम की कामना से दूर रहते हुए धर्म का प्रचार करते हैं। आपके सदुपदेश तथा प्रेरणा से आपश्री के सुयोग्य शिष्य श्री अमरमुनि जी महाराज के मार्गदर्शन से पजाब एव हरियाणा में स्थान-स्थान पर धर्मस्थानक, जैन हॉल, विद्यालय आदि का निर्माण हुआ है। आप श्री जी की प्रेरणा व प्रयत्न से पटियाला यूनीवर्सिटी मे 'जैन चेयर' की स्थापना हुई जहां जैन धर्म, दर्शन व साहित्य पर विशेष शोध-अध्ययन चल रहा है।

जैन शासन एव श्रमण संघ की उन्नति-अभ्युदय में आपका योगदान इसी प्रकार दीर्घकाल तक मिलता रहे, और आप स्वस्थ एव दीर्घजीवन प्राप्त करें—यही मगल भावना है। ☐

वाणी के जादूगर : प्रवचनभूषण

उत्तर भारत केसरी श्री अमर मुनि

वक्ता वाग्देवता का प्रतिनिधि है। वक्ता की वाणी मुर्दों मे प्राण फूंक देती है तथा पापियो को पुण्यात्मा बना देती है।

प्रवचनभूषण श्री अमर मुनि जी एक उच्चकोटि के सन्त-वक्ता हैं। वे कवि भी हैं, भक्ति की धारा मे डुबकियाँ लगाने वाले सन्त हैं, और ऊँचे विचारक, विद्वान तथा लेखक भी हैं। हृदय से बड़े सरल, सबका भला चाहने वाले, अत्यन्त मृदुभाषी और वह भी अल्पभाषी, देव-गुरु-धर्म के प्रति अटल श्रद्धा-भक्ति रखने वाले, प्रसन्नमुख और आकर्षक व्यक्तित्व के धनी ऐसे सन्त हैं जिनके निकट एक बार आने वाला, बार बार उनसे मिलना चाहता है, बोलना चाहता है, सुनना चाहता है और पाना चाहता है उनका आशीर्वाद।

वि० सं० १९९३, भादवा सुदि ५ तदनुसार ई० सन् १९३६ सितम्बर मे क्वेटा (बलूचिस्तान) के सम्पन्न मलहोत्रा परिवार मे आपका जन्म हुआ। आपके पिता श्री दीवानचन्द जी और माता श्री बसन्तीदेवी बड़े ही उदार और प्रभुभक्त थे।

पूर्व जन्म के सस्कार कहिए या पुण्यो का प्रबल उदय, आप ११ वर्ष की लघु वय मे आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के चरणों मे पहुँच गये और वैराग्य सस्कार जागृत हो उठे। आचार्यश्री ने अपनी दिव्य दृष्टि से आप मे कुछ विलक्षणता देखी और जब आपकी भावना जानी तो अपने प्रिय सेवाभावी प्रशिष्य भंडारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज को कहा—"भंडारी, इसे तुम सँभालो, यह तुम्हारी सेवा करेगा और नाम रोशन करेगा।"

११ वर्ष की आयु से ही आपने हिन्दी, संस्कृत और जैन धर्म का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। १५ वर्ष की आयु में वि० स० २००८ भादवा सुदि ५ को सोनीपत मंडी में जैन श्रमण दीक्षा ग्रहण करली।

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के स्नेहाशीर्वाद एव गुरुदेव श्री भडारी जी महाराज की देख-रेख मे आपने जैनधर्म, दर्शन प्राकृत, सस्कृत, गीता, रामायण, वेद तथा भारतीय दर्शनो व धर्मों का गहरा अध्ययन किया। आप एक योग्य विद्वान, कवि और लेखक के रूप मे प्रसिद्ध हुए। आपकी वाणी, स्वर की मधुरता और ओजस्विता तो अद्भुत हैं ही, प्रवचन शैली भी बडी ही रोचक, ज्ञानप्रद और सब धर्मों की समन्वयात्मक हैं। हजारो जैन-जैनेतर भक्त आपकी प्रवचन सभा मे प्रति-दिन उपस्थित रहते हैं।

आप समाज की शिक्षा एव चिकित्सा आदि प्रवृत्तियो पर ज्यादा ध्यान देते है। जगह-जगह विद्यालय, गर्ल्स हाईस्कूल, वाचनालय, चिकित्सालय और सार्वजनिक सेवा केन्द्र तथा धर्मस्थानको का निर्माण आपकी विशेष रुचि व प्रेरणा का विषय रहा है। पजाब व हरियाणा मे गाँव-गाँव मे आपके भक्त और प्रेमी सज्जन आपके आगमन की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

आपश्री ने जैनधर्मदिवाकर आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज की जन्म शताब्दी वर्ष मे उनकी स्मृति मे जहाँ अनेक धर्मस्थानक, हाईस्कूल आदि की प्रेरणा दी है, वहाँ साहित्य के क्षेत्र मे भी महान् कार्य किया है।

सूत्रकृताँग जैसे दार्शनिक आगम को दो भागो मे सम्पादन-विवेचन किया, भगवती सूत्र जैसे विशाल सूत्र का (५ भाग) सम्पादन विवेचन किया है जो आगम प्रकाशन समिति ब्यावर से प्रकाशित हो रहे हैं। आचार्य श्री की अमरकृति "जैन तत्त्व कलिका" विकास को भी आधुनिक शैली मे सुन्दर रूप मे सपादित किया है। और 'जैनागमो मे अष्टाग योग' का भी बहुत ही सुन्दर व आधुनिक ढग का एक परिष्कृत-परिवर्धित सस्करण 'जैन योग सिद्धान्त और साधना' के रूप मे तैयार किया है। ऋषि भाषितानि सूत्र पर आपश्री के विवेचना पूर्ण प्रवचन अमरदीप मे सकलित है।

आप यश एव पद की भावना से दूर रहकर समाज मे धर्म तथा ज्ञान का प्रचार करने मे ही रुचि रखते है। समाज ने आपको प्रवचन भूषण, श्रुतवारिधि, उत्तरभारत केसरी श्रुतवारिधि आदि पदो से सम्मानित किया है। गुरुदेव भंडारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज के सान्निध्य मे आप युग-युग तक धर्म की यश पताका फहराते रहें—यही शुभ कामना है। □



प्रखरवक्ता श्रुतवारिधि उत्तरभारत केसरी

श्री अ[illegible] [illegible]नि जी म[illegible]

अ म र दी प

अनुक्रमण

१

ऋषिभाषितसूत्र : एक अमर दीपक है

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आप लोग बड़ी उत्सुकता और जिज्ञासा लिये आज यहाँ शास्त्र सुनने के लिए उपस्थित हुए है। अत मैं आज से आपको **ऋषिभाषित सूत्र** पर अपना प्रवचन सुनाना चाहूँगा। चातुर्मास में यह प्रवचन-माला लगातार कई दिनो तक चलेगी और आपको इससे जीवन की अनेक बहु-मूल्य उपयोगी बाते भी सुनने को मिलेंगी। मैं प्राय प्रतिवर्ष ही चातुर्मास मे ऋषिभाषितसूत्र को आधार बनाकर प्रवचन करता हूँ। मुझे तो यह सूत्र एक महान जीवन-दीपक जैसा लगता है। ऋषियो के अनुभव जीवन की गहरी अनुभूतियो पर टिके हैं। और ये अनुभव सूत्र हमारे, जीवन मे भी प्रकाश दे सकते है, जीवन यात्रा के अमर दीपक बन सकते है।

ऋषिभाषित सूत्र कौनसा सूत्र ?

आप शायद चौककर यह कहेगे कि यह 'ऋषिभाषित-सूत्र' कौन-सा सूत्र है ? हमने बत्तीस आगमो के नाम तो सुने है। उनमें तो यह नाम नही है, तो क्या यह कोई तेतीसवाँ नया शास्त्र है ? जिसे महाराजश्री ने खोज निकाला है ?

बधुओ ! ऐसी बात नही है। वैसे देखा जाए तो बत्तीस सूत्रो मे इस शास्त्र का समावेश तो नही है। किन्तु 'नन्दी-सूत्र' मे जहाँ कालिक सूत्रो की नामावली दी है, वहाँ सातवे नम्बर मे इस सूत्र का नाम आया है। सुनिये नन्दीसूत्र का वह पाठ—

> "से किं त कालियं ?"
>
> "कालियं अणेगविहं प०, तं जहा—उत्तरज्झयणं, दसाओ, कप्पो, ववहारो, निसीहे, महानिसीहे, इसिभासियाइं ... .।"

अर्थात्—(पूछा गया है)—भगवन् ! वह कालिक श्रुत कौन-सा है ?
उत्तर - कालिक सूत्र अनेक प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार :

(१) उत्तराध्ययन, (२) दशाश्रुतस्कन्ध, (३) कल्प (बृहत्कल्प सूत्र) (४) व्यवहार सूत्र, (५) निशीथ सूत्र, (६) महानिशीथ सूत्र, (७) ऋषिभाषित सूत्र इत्यादि।

समवायाग सूत्र के चवालीसवे समवाय मे तो और भी स्पष्ट रूप से इस सूत्र का परिचय देते हुए कहा है—

चोयालीस अज्झयणा वियलोय-चुय-भासिय-पण्णत्ता।
दिय-लोय-चुयाण इसीण चोयालीस इसिभासिज्झयणा पण्णत्ता॥

चवालीस अध्ययन देवलोक मे च्युत ऋषियो द्वारा भाषित है। अर्थात्—देवलोक म च्युत, चवालीस ऋषियो द्वारा भाषित (कथित) अध्ययनो के कारण इसे 'ऋषिभाषित-अध्ययन सूत्र' कहा गया है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यहाँ चवालीस ऋषियो के द्वारा भाषित प्रवचनो को 'ऋषिभाषित सूत्र' नाम दिया गया है, परन्तु इस 'ऋषिभाषित-सूत्र' मे तो पैतालीस अध्ययन है, फिर इस कथन की सगति कैसे होगी ?

इसका समाधान करते हुए नन्दीसूत्र के वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि ने कहा है—उक्त चवालीस ऋषि तो देवलोक से आये है, किन्तु हो सकता है, पैतालीसवे ऋषि किसी अन्य गति से आए हो, अतएव उनका उल्लेख यहाँ न किया हो। जो भी हो, यह शास्त्र बत्तीस सूत्रो की ही तरह, नन्दी-सूत्र, समवायागसूत्र आदि द्वारा प्रमाणित है।

मूलभाष्य मे आचार्यश्री चार अनुयोगो की व्याख्या करते हुए इसिभासियाइ की गणना 'धर्मकथानुयोग' मे करते है। जैसे कि वहाँ कहा गया है—

कालियसुअ च इसिभासियाइ, तइयामसूरपन्नत्ति।
सव्वोअ दिट्ठिवाओ, चउत्थो होइ अणुओगो॥

इसिभासियाइ (ऋषिभाषित सूत्र) कालिक है। कालिक श्रुत मे प्रथम चरण-करणानुयोग है, फिर द्वितीय अनुयोग है-धर्मकथानुयोग, इसमे 'ऋषिभाषित' की गणना की गई है। गणितानुयोग मे सूर्यप्रज्ञप्ति की और द्रव्यानुयोग मे दृष्टिवाद (१२वा अग) की गणना की गई है।

यहाँ तो इतना ही बताना पर्याप्त होगा कि नन्दीसूत्र मे विभिन्न तीर्थंकरो के शासन में हुए प्रत्येकबुद्धो की सख्या दी है। इनके द्वारा रचित शास्त्रो को सम्यक्श्रुत मे परिगणित किया गया है। अतएव इस शास्त्र को तीर्थंकर वचनो से सम्मत मानने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

'गुणिषु प्रमोदम्' इस सत्र के अनुसार हमे प्रमोद भावना के सन्दर्भ मे गुणो का उपासक बनना चाहिए। सत्य कही से भी मिलता हो, अनेकान्त-

वादी श्रमण या श्रमणोपासक को या मार्गानुसारी नीतिमान सद्गृहस्थ को उसे ग्रहण करने से इन्कार नहीं करना चाहिए।

ऋषिभाषित के रचयिता

प्रश्न होता है कि ऋषिभाषित के रचयिता कौन थे ? परन्तु इसके कुल ४५ अध्ययनो मे प्रत्येक अध्ययन के साथ उसके प्रवक्ता अर्हतर्षि का नाम उल्लिखित है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इस सूत्र का कोई एक रचयिता नही है, क्योंकि यह किसी एक व्यक्ति की कृति नही है। इसमें विभिन्न वक्ताओ के चिन्तन-सूत्र सकलित है। ऋषिभाषित के प्राय प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ मे उस-उस प्रवक्ता ऋषि का अर्हत् ऋषि-विशेषणपूर्वक नामोल्लेख किया गया है। अत ये सभी ऋषि आर्हत्-परम्परा मे दीक्षित, विशिष्ट ज्ञानी साधक या अर्हत्-सिद्धान्त-प्ररूपक थे। वैदिक धर्म के 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार' इस परिभाषा के अनुसार ये सभी ऋषि अध्यात्मतत्त्वों के मूलमन्त्रो के ज्ञाता-द्रष्टा थे। जैन परिभाषा मे इन्हें 'प्रत्येकबुद्ध' कहा गया है। यद्यपि जैन जगत् मे चार ही प्रत्येकबुद्ध प्रसिद्ध है, तथापि इसका यह अर्थ नही है कि प्रत्येकबुद्ध चार ही हुए हैं। यही कारण है कि नन्दीसूत्र मे विभिन्न तीर्थंकरो के शासन में हुए प्रत्येकबुद्धों की सख्या दी गई है, जो हजारो तक पहुँची है। जैसे—भगवान् आदिनाथ के ८४००० शिष्य तथा भगवान् महावीर के १४००० शिष्य ऐसे थे, जो चार प्रकार की (औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी) बुद्धि से युक्त थे, उन्होने उतने ही हजार प्रकीर्णक रचे तथा वे सब 'प्रत्येक-बुद्ध' हुए थे। प्रत्येकबुद्ध का अर्थ है—वह पवित्र और जागृत आत्मा, जो किसी एक निमित्त को पाकर प्रबुद्ध हुआ, जाग उठा है, जिसके अन्तर् मे सोया हुआ 'परमात्मा' जागृत हो गया है।

जिस बीज मे हवा, पानी एव प्रकाश के सयोग से वृक्ष का विराट् रूप प्रस्फुटित हो जाता है, वह बीज विराट् वृक्ष के रूप मे ससार मे पूजा जाता है। उसी प्रकार ऐसे प्रत्येकबुद्धो के जीवन मे भी आर्हत्-सिद्धान्त के बीज विराट् वृक्ष के रूप मे विस्तार पा गये थे। उन्ही सिद्धान्तो का उन्होने प्रतिपादन किया है। उनके अन्त करण मे अध्यात्म ज्ञान का आलोक जगमगा उठा था। उनकी आन्तरिक वृत्तियाँ प्रशान्त, पवित्र एवं निर्मल थी।

ऋषिभाषित सूत्र मे जिन प्रत्येकबुद्धो की वाणी का सकलन है, वे मुख्यतया तीन तीर्थंकरो के युग के थे—(१) भगवान् नेमिनाथ, (२) भगवान् पार्श्वनाथ और (३) भगवान् महावीर।

इसके अतिरिक्त इस सूत्र के प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ में उसके प्रवक्ता के रूप मे अर्हत्-ऋषि कुर्मारपुत्र, तेतलिपुत्र जैसे जैन-सस्कृति के

प्रतिनिधि तत्त्वचिन्तको और साधको के नामो का उल्लेख है, वैसे ही वैदिक सस्कृति के प्रतिनिधि के रूप मे देवनारद और आगिरस ऋषि का, तथा पिंग और इसिगिरि जैसे माहण (ब्राह्मण) परिव्राजको का एव बौद्ध सस्कृति के 'सालिपुत्त' जैसे बौद्ध श्रमणो का भी उल्लेख आया है। इस पर यह तथ्य दिन के उजाले की तरह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषिभाषित-सूत्र के प्रवक्ता निष्पक्ष एव सत्यग्राही थे, अत चाहे यह सूत्र तीर्थंकर भगवान् के द्वारा साक्षात् कथित न हो, परन्तु उनका अध्यात्म-ज्ञान इन प्रत्येकबुद्धो की वाणी मे अवश्य ही अवतरित होकर आया है। ये सभी निश्चयत सम्यग्दृष्टि थे। इसलिए इनके द्वारा रचित शास्त्र सम्यक्श्रुत है, ऐसा मानने मे कोई भी आपत्ति नही होनी चाहिए।

ऋषिभाषितसूत्र की विशेषता

यह बात निश्चित है कि सत्य और अध्यात्मज्ञान किसी एक सम्प्रदाय-विशेष की बपौती नही होते। ऋषिभाषित-सूत्र सत्य एव आध्यात्मिक अनुभवो का खजाना है। यह निष्पक्षदृष्टि से शाश्वत सत्य का पिटारा है। अध्यात्म की गहन बाते बहुत ही सरल शब्दो मे समझाई गई है। साधक-जीवन की उलझी हुई गूढ ग्रन्थियो को सुलझाने का सरल-सरस तरीका इसमे सुझाया गया है।

ऋषिभाषितसूत्र मे आप यह विशेषता पायेगे कि इसका प्रवक्ता ऋषि अपने जीवन मे अनुभूत एव प्रयुक्त तथ्य-सत्य को अपने प्रवचन मे प्रस्तुत करता है। वह रटी-रटाई या कही से उधार ली हुई बाते नही कहता, अपितु तीर्थंकरो के द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तो का प्रतिबिम्ब उनके अनुभूत वचनो मे स्पष्ट प्रतीत होता है। वस्तुत ये सभी प्रत्येकबुद्ध साम्प्रदायिकता से उन्मुक्त सत्यान्वेषी साधक थे इसलिए उन्होने अपने विचार खुले दिलोदिमाग से बिना किसी पूर्वाग्रह के प्रस्तुत किये है। जैसे मक्खन छाछ या मट्ठे मे रहता है, किन्तु छाछ उसमे नही रहती, नौका पानी मे रहती है, किन्तु पानी नौका मे नही रह पाता, इसी प्रकार विशिष्ट अनाग्रही सन्त देह से अपनी मौलिक मर्यादा से सम्प्रदाय या समाज मे रहता है, किन्तु उसकी आत्मा मे साम्प्रदायिकता या सम्प्रदाय का जोशो-खरोश नही रहता। उसका हृदय महासागर की भाँति गम्भीर, विशाल एव गुणो का रत्नाकर होता है।

आप ऋषिभाषितसूत्र में यह विशेषता भी पायेगे कि इसमे समग्र भारतीय अध्यात्म का एव भारतीय सस्कृति का बडा मधुर सगम है। हजारो हजार वर्षों से साथ-साथ बहने वाली जैन, बौद्ध और वैदिक सस्कृति की पावनधारा का त्रिवेणी-सगम इस सूत्र मे मिलेगा और इसकी शीतलता से आपको बडी तृप्ति मिलेगी।

जीवन और जगत् के रहस्यवेत्ता इन ऋषियो ने मानव की वृत्तियो का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। वे साधक जीवन के बहुरुपियापन पर सीधा प्रहार करते है। वे प्रत्येक साधक को निहित स्वार्थियो या अज्ञपुरुषो द्वारा की हुई तीखी आलोचना को या निन्दा प्रशसा के प्रवाह को सुनकर अपने स्वीकृत अध्यात्म-पथ से विचलित न होने के लिए प्रेरित करते हैं। प्रत्येक साधक को आलोचना-प्रत्यालोचना के द्वन्द्व मे भी स्थिरप्रज्ञ रहने का परामर्श देते हैं।

ऋषिभाषित एक शुद्ध आध्यात्मिक शास्त्र है। इसमे आत्म-दर्शन के हर पहलू का प्रतिपादन है। यह आत्मा की विकृतियो या विभावपरिणतियो को दूर करके शुद्ध आत्म-स्वरूप मे स्थित रहने की प्रेरणा देता है। कही यह कषाय-विजय की प्रेरणा देता है। कही आध्यात्मिक युद्ध मे प्रतिक्षण सावधानीपूर्वक विकारो से जूझकर आत्मा को विजयी बनाने की प्रेरणा करता है। कही समभाव की साधना का पाठ पढाता है। कही आध्यात्मिक कृषि का सागोपाग निरूपण करता है। कही इन्द्रियो और मन पर विजय पाने के लिए सुन्दर मार्ग-दर्शन करता है। कही सुख, शान्ति और समाधि के वास्तविक राजमार्ग का प्रतिपादन करता है।

जैनधर्म सदा से अनेकान्तवादी और गुणपूजक रहा है। वह वेश, पथ या परम्परा का पिछलग्गू नही, गुणो का ग्राहक रहा है। जैसे समझदार व्यक्ति गाय के रग-रूप या कद को नही देखता, किन्तु वह अमृततुल्य दूध को महत्त्व देता है, जिसे पीने से शरीर मे बल, वीर्य, स्फूर्ति और कान्ति की वृद्धि होती है। इसी प्रकार जैनधर्म किसी व्यक्ति को महत्व न देकर उस उज्ज्वल चरित्र व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत सत्य के प्रकाश तथा अध्यात्म के अनुभवो को चन्द्र-सूर्य के सार्वजनीन प्रकाश की तरह महत्त्व देता है। इसलिए कहना होगा कि इस सूत्र मे उज्ज्वल चरित्र ऋषियों के द्वारा कथित अध्यात्म का अनुभव एव सत्य का सार्वजनीन प्रकाश है।

मेरा विश्वास है कि इस सूत्र पर विश्लेषणपूर्वक प्रवचनो के श्रवण, मनन और चिन्तन से श्रोताओ के अन्तःकरण मे आत्मानुभूति जगेगी, उनमे त्याग, वैराग्य और विवेक जागृत होगा, समता, एकरूपता और सरलता के संस्कार उद्‌बुद्ध होगे। उनके आचरण मे नैतिकता और धार्मिकता पनपेगी। उनके जीवन मे क्षमा, दया, सत्यता, शील, कष्ट-सहिष्णुता, उदारता, समता आदि गुणो की अभिवृद्धि होगी।

साधना के पथ पर बढ़ने वाले प्रत्येक साधक को इनसे प्रकाश मिलेगा। ये दीपक की भाँति उसके पथ को आलोकमय बनायेगे। □

२

श्रवण : निर्वाण पथ का पहला दीपक

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष मानव-जीवन और विशेषत मुमुक्षु मानव-जीवन के लिए मोक्ष की साधना मे सर्वप्रथम आवश्यक 'धम श्रवण' के महत्व पर प्रकाश डालूँगा।

जैसा कि मैंने आपको बताया— यदि आप किसी अन्धकारमय अन-जाने पथ पर चल रहे हो, रास्ता भी साफ न हो तो आप उस समय क्या चाहेगे ? यही न, कि इस अन्धकारमय पथ पर कोई एक दीपक जला दे, या मोमबत्ती रख दे, कोई मशालधारी मिल जाये तो रास्ता साफ दिखाई देने लगे - हम अपनी यात्रा तय कर लेवें।

मैंने कहा था—ऋषिभाषितसूत्र हमारे लिये अमर दीपक है। इसके अनुभवपूर्ण वचन प्रकाश की किरणे है। इन वचनो के उजाले से हम अपनी यात्रा का पथ अच्छी तरह देख सकते है और आराम से चलते हुए अपनी मजिल पर पहुँच सकते है। तो आज हम इसके पहले दीपक—'श्रवण' पर विचार करेंगे।

ऋषिभाषित-सूत्र के प्रथम अध्याय मे अर्हत्-ऋषि नारद ने 'श्रोतव्य' अर्थात् सुनना चाहिये, इसी विषय पर विशेष जोर दिया है। उन्होने श्रवण का महत्व और फल दो गाथाओ मे बताया है—

> सोयव्वमेव वदति, सोयव्वमेव पवदति।
> जेण समय जीवे, सव्वदुक्खाण मुच्चति ॥ १ ॥
> तम्हा सोयव्वातो पर नत्थि सोयति।
> देवनारदेण अरहता इसिणा वुइय ॥ २ ॥

सभी जिनेश्वर देव कहते है-श्रवण करना चाहिये, वे पुन. पुनः कहते है-सुनना चाहिये. जिससे (श्रवण से) जीव स्वमत (स्वधर्म) अथवा समय (स्वपरसिद्धान्त) का ज्ञान प्राप्त करके सभी दु खों से मुक्त होता है।

इसलिये श्रवण—श्रोतव्य से बढकर अन्य कोई पवित्र (शौच) नही है। अर्हत्-ऋषि देवनारद ने यह कहा है।

श्रवण करने का उपदेश क्यों ?

देवनारद ऋषि के श्रवण करने के उपदेश को जब हम तर्क और लाभ की तराजू पर तौलते है तो बिल्कुल सही उतरता है। कारण यह है कि श्रवण करना कान का विषय है और कान वाला जीव ही सुन सकता है। जैन शास्त्रो मे समस्त जीवो को पाच जातियो मे विभक्त किया है। वे हैं - एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय। जीव की इन पाच जातियो में से पहली चार जातियो को श्रोत्रेन्द्रिय (कान) प्राप्त नही होती। कर्ण सभी इन्द्रियो मे अन्तिम है। विकास के चरण की दृष्टि से अन्य इन्द्रियो की अपेक्षा श्रोत्र मन के अधिक निकट है। अर्थात्—चेतना के एन्द्रियक विकास मे कान अन्तिम पडाव है। अत कर्णेन्द्रिय वाले होने से केवल पचेन्द्रिय जाति वाले जीव ही श्रवण कर सकते है। पचेन्द्रिय जाति में नारक, तिर्यञ्च मनुष्य और देव, इन चारो ही प्रकार के जीवो का समावेश होता है। परन्तु क्या आप बता सकते है कि ये चारो ही प्रकार के पंचेन्द्रिय जीव श्रवण, सत्यश्रवण या धर्मश्रवण करने के अधिकारी हो सकते हैं ?

माना कि इन चारो प्रकार के पचेन्द्रिय जीवो के कान है, इसलिये वे सुन सकते है, परन्तु क्या वे सभी श्रोतव्य—सुनने योग्य का सुन सकते हे ? क्या वे सभी सुनकर हित और अहित का, श्रेय और प्रेय का, कल्याण और अकल्याण का, पाप और पुण्य का, बन्ध और मोक्ष का तथा आस्रव और सवर का निर्णय कर सकते है ? इसीलिए अनुभव की आँच मे तपी हुई वाणी मे भगवान् महावीर कहते है कि पचेन्द्रियजाति मे नरक और तिर्यञ्च अवस्था मे जीवो की परवशता के कारण श्रोतव्य का प्राय श्रवण नही हो सकता। बहुत बार नारक या तिर्यञ्च सुनकर हिताहित आदि का निर्णय भी नही कर पाते। यद्यपि देव विशिष्ट शक्ति सम्पन्न होते है तथापि उन्हे भी श्रवण - सत्यश्रवण या धर्म-श्रवण का विशेष अवकाश नही होता, क्योकि देवयोनि प्रायः भोगप्रधान होती है। अत मनुष्य जाति ही श्रवण की वास्तविक अधिकारी है, वही श्रवण करके हिताहित आदि का विशेष मनन-चिन्तन कर सकती है। यही कारण है कि पावापुरी की अपनी अतिम देशना मे भगवान् महावीर ने धर्मश्रवण को दुर्लभ बताते हुए कहा है—

> माणुस्स विग्गह लद्धु, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
> ज सोच्चा पडिवज्जति तव खतिमहिंसय ॥

अर्थात्—मनुष्य का शरीर पाकर धर्म का श्रवण दुर्लभ है, जिसे श्रवण करके मनुष्य तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार कर पाता है।

मेरे प्यारे बन्धुओ !

मनुष्य जीवन के लिये श्रवण और उसमे भी श्रोतव्य (जो सुनना चाहिये उसका) का श्रवण परम उपलब्धि है। श्रवण मानव के लिए वरदान है, वह मनुष्य को अभीष्ट पथ पर चलने के लिये प्रेरक और मार्ग-दर्शक है। नीतिकार ने स्पष्टत बताया है—

श्रोत्र श्रुतेनैव न तु कुण्डलेन ।

'कान की शोभा श्रोतव्य का श्रवण करने में है, कुण्डल से नही।'

तीर्थंकरो ने धर्म-श्रवण करने मे दक्ष नर-नारियो को 'श्रावक' एव 'श्राविका' का पद दिया है। श्रावक-श्राविका-पद कोई सामान्य शब्दो या सगीत ध्वनियो को सुनने वालो का नही है, यह विशिष्ट श्रोताओ के लिए है। श्रवणगुण का आराधक होने से ही गृहस्थ उपासक को 'श्रावक' कहा जाता है। इसलिए मानव-जीवन मे इस श्रोतव्य के श्रवण का विशेष महत्व है। देवनारद ऋषि ने तो श्रोतव्य—श्रवण से बढकर और किसी भी वस्तु को पवित्र (शौच) नही माना है।

श्रोतव्य श्रवण मे सर्वाधिक ध्यान दो

मानव शरीर मे श्रवणेन्द्रिय प्राप्त होने के बावजूद भी अधिकाश मानव इसका दुरुपयोग करते है। इन कानो से अश्लील, गन्दे, कामोत्तेजक, कलहवर्द्धक, मोहवर्द्धक बाते एव सिनेमा की पापवर्द्धक विकथा सुनते है, जिससे मारकाट, चोरी, कामुकता अनीति आदि की ही प्राय चर्चा होती है। इसीलिए ऋषि कहते है कि अश्रोतव्य को सुनकर कानो को अपवित्र मत करो, श्रोतव्य को सुनो, जिससे तुम्हारे कान पवित्र हो, तुम्हारा चिन्तन-मनन और आचरण कल्याणमार्ग की ओर प्रवृत्त हो।

मैं आपसे पूछता हू कि आप साधु-साध्वियो के मुख से मागलिक (मगलपाठ) क्यो श्रवण करते है ? जब कोई भी धर्मात्मा व्यक्ति रुग्ण हो जाता है, मरणासन्न स्थिति मे होता है, तब आप लोग उसे मगल-पाठ सुनाने की विनति क्यो करते है ? इसीलिए कि मगलपाठ श्रवण करने से उसके कान पवित्र हो, उसका चिन्तन-मनन या परिणाम शुद्ध हो, वह रुग्ण-अवस्था मे या मरणासन्न अवस्था मे आर्तध्यान करने के बदले धर्म-ध्यान करे, आत्मचिन्तन करे, पच-परमेष्ठी भगवन्तो परम-आत्माओ के आदर्श का चिन्तन-मनन कर सके। इसीलिए करते है—जैसा सुनेंगे, वैसा भुनेंगे।

इसके विपरीत प्राय यह देखा जाता है कि कई मनुष्य जो धर्म-श्रवण के महत्त्व से अनभिज्ञ है, वे रुग्णावस्था मे या मरणासन्न अवस्था में

परम आत्माओं के नामश्रवण या धर्मश्रवण की अपेक्षा या तो मोहवर्द्धक बातें सुनते-सुनाते है, या फिर अपने स्वार्थ की ही बातें सुनते-सुनाते हैं। आप में से कितने ऐसे लोग हैं, जो अश्रोतव्य शब्दों को न सुनकर दिन और रात में श्रोतव्य शब्दो को ही अपने कानो मे प्रवेश करने देते हैं।

श्रोतव्य श्रवण ही सत्यश्रवण और पवित्र है

नारद ऋषि के कहने का तात्पर्य यही है कि अमूल्य मानव-जीवन मिला है तो श्रोतव्य का श्रवण करो। यह तुम्हारे जीवन का पवित्र पाथेय है। पवित्र श्रवण ही तुम्हारी बुद्धि, हृदय, मन, प्राण और इन्द्रियो को पवित्र बना सकता है, वही तुम्हारे अज्ञात मन मे सुसस्कारो का सिंचन कर सकता है। इसीलिए महर्षियो ने सर्वप्रथम श्रोतव्य श्रवण का उपदेश दिया है।

इस अध्ययन के प्रवक्ता देवर्षि नारद के विषय मे भी कुछ बता दूं।

ऋषिभाषित की टीका मे एक कथा आती है, जिसका साराश इस प्रकार है—

एक बार भगवान महावीर के दो शिष्य—धर्मघोष और धर्मयश सोरियपुर नगर के बाहर वन मे ध्यान-साधना कर रहे थे। वे एक वृक्ष के नीचे ठहरे। मध्यान्ह काल हुआ तब भी उस वृक्ष की छाया ढली नही, जैसी सुबह थी वैसी ही स्थिर रही। यह देखकर मुनियो को बडा आश्चर्य हुआ। दोनो एक दूसरे से पूछने लगे - क्या यह आपकी तपोलब्धि का प्रभाव है? दोनो ही क्रमश वहाँ से हटे, तब भी छाया स्थिर रही। उन्हे बडा कुतूहल हुआ। भगवान के पास आये और पूछा तो भगवान महावीर ने बताया—

आज से बहुत समय पहले की बात है। सोरियपुर मे राजा समुद्र-विजय के शासन मे यज्ञदत्त तापस रहते थे। वे एक दिन पूर्वान्ह मे अशोक वृक्ष के नीचे अपने नन्हे शिशु नारद को सुलाकर खेत मे धान्य कण चुनने चले गये। सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर ढलने लगा तो बालक पर सूर्य की तेज किरणे गिरने लगी।

तब उस समय वैश्रमण जाति के जृम्भक देव उधर से निकले। वृक्ष की छाया मे एक तेजस्वी शिशु को अकेला सोया देखकर वे वहाँ रुक गये। बालक के प्रति उनके हृदय मे सहज ही स्नेह उमड आया। जब अवधिज्ञान लगाकर देखा तो पता चला, यह शिशु हमारे जृम्भक देव-निकाय से च्यवकर ही यहाँ आया है तो एक प्रकार से हमारी बिरादरी का ही है। इसलिए देवताओ ने वृक्ष की छाया को स्थिर कर दिया, बालक की देह पर अब छाया स्थिर हो गई। तब से इस वृक्ष की छाया स्थिर है।

बाद मे बालक नारद बडा हुआ। माता-पिता ने उसे विद्याएँ पढ़ाईं। गुरुकृपा से नारद ने अनेक प्रकार की विद्याएँ हस्तगत कर ली। विद्याबल से उसे सोने की कुण्ड (काचन कुण्डिका) और मणि-पादुका (खडाऊँ) भी प्राप्त हो गईं जिसके बल से वह पक्षी की भाति ऊंचे आकाश मे मनचाही उडानें भरने लगा।

एक बार देवर्षि नारद द्वारका गये। वहाँ वासुदेव श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा—शौच क्या है ? नारद इसका उत्तर न दे सके। वे समाधान के लिए पूर्वविदेह पहुचे। वहाँ देखा, सीमधर तीर्थंकर से युगबाहु वासुदेव भी यही प्रश्न पूछ रहे थे तो प्रभु ने कहा—'सत्य ही शौच है'।

नारद इस समाधान को पाकर पुन द्वारिका आए और वासुदेव श्रीकृष्ण से कहा—'सत्य ही शौच है।' परन्तु वासुदेव ने प्रतिप्रश्न किया—'सत्य क्या है ?' नारद इस प्रश्न का भी उत्तर न दे सके। सशयलीन नारद इस पर गहरे चिन्तन मे डूब गए। इस पर ऊहापोह करते-करते उन्हे जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया। वे स्वय प्रतिबोध पाकर 'प्रत्येक-बुद्ध' हो गए।

अत सत्य क्या है ? इसका उत्तर उन्होने इसी प्रथम अध्याय मे दिया है कि "श्रोतव्य श्रवण ही सत्य है, और वही पवित्र (शौच) है। धर्म (सत्य) श्रवण करने से बढकर अन्य कोई शौच नही है।"

श्रवण मोक्ष की पहली सीढ़ी

भगवान् महावीर ने एक रूपक की भाषा मे भगवती सूत्र (२/३/५) मे बताया है कि अध्ययन का सर्वोच्च शिखर है—निर्वाण- मोक्ष। यह अध्यात्म साधना की चोटी है। इस चोटी पर पहुँचने के लिए पहली सीढ़ी है—श्रवण - धर्मश्रवण। जैसा कि उन्होने श्रवण से निर्वाण तक का क्रम बताया है

सवणे नाणे विन्नाणे पच्चक्खाणे य सवरे।
अणण्हए तवे चेव वोदाणे अकिरिया-सिद्धी॥

अर्थात् श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, प्रत्याख्यान, सवर, सयम, तप, व्यवदान यो क्रमश बढते-बढते अन्त में सभी कर्म—क्रियाओ से मुक्त होने पर ही सिद्धि मुक्ति की प्राप्ति होती है। ये निर्वाण मोक्ष की क्रमिक सीढियाँ जिसमे श्रवण सर्वप्रथम सीढी है।

धर्मोपदेश-श्रवण उत्तम गुणो के अर्जन के लिए

जिनवचनो के पुन.-पुन श्रवण करने से मुख्यतया तीन गुण उपलब्ध होते है। जैसा कि सावयपण्णत्ति (३) मे कहा है—

नव-नव-सवेगो खलु, नाणावरण-खओवसमभावो।
तत्ताहिगमो य तहा, जिणवयण-सवणस्स गुणा॥

(१) मोक्ष की अभिलाषा स्फुरित होती है, (२) ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है और (३) तत्त्वज्ञान की उपलब्धि होती है। जिनवचन-श्रवण से ये तीन लाभ होते है।

यह ठीक है कि सुनना मात्र ही साधना नही है। जिस किसी से कुछ भी सुन लेना भी साधना नही है, अपितु तत्त्वजिज्ञासा से युक्त होकर ज्ञानी-साधक से धर्मकथा का श्रवण करना ही साधना है। वस्तुत तत्त्व की खोज, प्राप्त तत्त्व की स्थिरता और सम्यग्भाव मे रमण करने के लिए श्रवण करना ही तपरूप होता है। ऐसा श्रवण ही हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक प्रदान कर सकता है।

जिस प्रकार विद्यार्थी के लिए पाठ्य पुस्तकें पढते रहने पर भी किसी अध्यापक से पढने और उक्त विषय को समुचित रूप से समझने की जरूरत रहती है, उसी प्रकार धर्मशास्त्रो की बातें केवल पढकर नही, किन्तु शास्त्रज्ञ गुरु से सुनकर समझ मे आती हैं। जैसे कोई व्यक्ति पिस्तौल या बन्दूक से फेंकी जाने वाली गोली हाथ से फेंकता है तो उसका कोई खास असर नही होता, जबकि वही गोली बन्दूक से छूटती है तो उसमे वेग पैदा हो जाता है, वह शत्रु का सफाया कर सकती है, वैसे ही स्वय पुस्तको या ग्रन्थो से पढने का प्रभाव मन पर उतना नही पड़ता, जबकि शास्त्रज्ञ उपदेशक से सुनने से उपदेशक के आत्मबल से उपदेश के शब्दो में अमित ऊर्जा भर जाती है। कई बातें जो केवल पढ़ने से समझ मे नही आती, वे भी उपदेश श्रवण के माध्यम से यथार्थरूप मे हृदयगम हो जाती है।

दूसरी बात यह है कि उपदेश-श्रवण करने मे सच्चा श्रोता चार गुणो को धारण करता है। जैसे कि विंशति-विंशिका (१/१८) मे कहा है—

> मज्झत्थयाइ नियमा सुबुद्धि-जोएण अत्थियाए य।
> नज्जइ तत्तविसेसो, न अन्नहा, इत्थ जइयव्व ॥

उपदेशश्रवण से मध्यस्थता, नियमितता, उत्तम बुद्धि का योग और अर्थिता (उद्देश्य के अनुकूल पुरुषार्थ करने की योग्यता) आती है, और इनके कारण तत्त्वबोध होता है। इसमे कोई अन्यथा नही है। अत इन गुणो के उपार्जन के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

नीतिकार ने भी श्रवण से प्राप्त होने वाले गुणो के विषय मे पचतन्त्र (५/६३) मे कहा है—

> य सतत परिपृच्छति, शृणोति सन्धारयत्यनिशम्।
> तस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीव विवर्धते बुद्धि ॥

—जो सदैव पूछता है, सुनता है और सुने हुए को हृदय मे धारण

करता है, उसकी बुद्धि सूर्य-किरणो से विकसित होने वाले कमल के समान बढ़ती रहती है–खिलती है।

निष्कर्ष यह है कि मन को सुशिक्षित करना हो तथा बुद्धि को विकसित करना हो तो धर्मोपदेश-श्रवण एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

श्रवण का महत्व और लाभ

भगवान् महावीर ने श्रवण के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है –

> सोच्चा जाणइ कल्लाण, सोच्चा जाणइ पावग।
>
> उभय पि जाणइ सोच्चा, ज सेय त समायरे॥ (दशवै० ४/११)

सुनकर ही मनुष्य कल्याण को जान सकता है और सुनकर ही पाप को पहचान सकता है। अर्थात् पुण्य और पाप अथवा श्रेय और प्रेय दोनो का ज्ञान श्रवण करने से ही होता है, दोनो को जानकर व्यक्ति जो श्रेय है, उसका समाचरण कर पाता है।

श्रोतव्य-श्रवण का महत्व इसलिए भी है कि कानो के रास्ते से ज्ञान की धारा हृदय मे उतरती है। वह हृदय ज्ञानधारा से सरसब्ज, कोमल और मृदु हो जाता है। फिर उस हृदय मे सदाचरण की फसल लहलहाती है। श्रवण बीज है तो सदाचरण पल्लवित वृक्ष है। जिस प्रकार नदी की जलधारा जिस तट पर बहती है, उस पर सदैव हरियाली छायी रहती है। उस नदी के तट की भूमि सदैव तर और उपजाऊ रहती है। इसी प्रकार जिस हृदयतट के समीप ज्ञान-श्रवण रूप जलधारा बहती है, वह हृदय भी सदा तर, सरसब्ज और कोमल रहता है, वहा धर्माचरण का उत्पादन प्रचुर मात्रा में मिलता है।

भारतवर्ष के प्रसिद्ध नीतिकार चाणक्य ने भी 'चाणक्यनीति' (१६/१) मे श्रवण का महत्व बताते हुए कहा है—

> श्रुत्वा धर्म विजानाति, श्रुत्वा जानाति दुर्मतिम्।
>
> श्रुत्वा ज्ञानमवाप्नोति, श्रुत्वा मोक्षमवाप्नुयात्॥

मनुष्य सुनकर ही धर्म (जीवन के श्रेय) को जानता है और सुनकर ही वह दुर्बुद्धि—पापमति को जान सकता है। श्रवण करने से ही मनुष्य सद्ज्ञान प्राप्त कर पाता है और श्रवण करने से ही क्रमश मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

पजाब के एक चिन्तनशील कवि ने धर्मश्रवण की महत्ता को उजागर करते हुए कहा है—

जीवन अपना चमका ले, गुण-गुण के लाभ उठा ले ।
शास्त्रा च आए जेहड़े बोल ।
इक-इक हीरा अनमोल ।
मन सुधरे, सुधरे बाणी, ऊँचा उठ जाए प्राणी ।
सुन-सुन के अक्खां लेवे खोल ।। टेक ।।
उत्तों है दुनिया सोहणी, भरिया है गद गब्भे ।
क्रोध क्लेश जित्थे जाओ, ओत्थे ही लब्भे ।।
शास्त्रा दे बोल मिट्ठे, पी के जिन्होंने दिट्ठे ।
मिलदी ओन्हानू समता सारी, मिट जांदी ममता ।।
मित्था धर्मदी खुले पोल ।। १ ।।

मुक जांदी तृष्णा भूखी आत्मा ये रजदी जावे ।
विषय विकारा विचों, वो कौडी-कौडी आवे ।।
शान्ति अपार मिलदी, अमृतदी धार मिलदी ।
मुकदा है आणा-जाणा, पावा आनन्द-खजाना ।।
जिसदे ए कुंजी होवे कोल ।। २ ।।

सुननेतो ज्ञान मिलदा, दूणा विज्ञान मिलदा ।
पापानू दूर-करण लई त्याग पचक्खान मिलदा ।।
जप-तपदी ज्योति जग्गे, चानण हो अग्गे-अग्गे ।
कर्मांदे कटदे बन्धन, दुक्खादे मिटदे कारण ।।
मुक्ति मिल जांदी है अमोल ।। ३ ।।

कवि ने नपी-तुली भाषा मे धर्मश्रवण के सुपरिणामो को अभिव्यक्त कर दिया है ।

धर्मश्रवण : जीवन को देखने का दर्पण

वास्तव मे धर्मश्रवण ही श्रोतव्य का श्रवण अथवा सत्यश्रवण है । सत्य का अर्थ है— 'सद्भ्यो हितम् सत्यम्' जो प्राणियो के लिए हितकर— श्रेयस्कर हो । अत सत्यश्रवण या धर्म-श्रवण जीवन को देखने का एक दर्पण है । जैसे—आइने मे आप अपना चेहरा भलीभाति देख लेते हैं, वैसे ही धर्मश्रवण रूपी आइने मे आप अपनी आत्मा का प्रतिबिम्ब देख सकते है कि आपके जीवन पर कहाँ कालिमा है, कहाँ लालिमा है ? कहाँ धर्म और पुण्य का कमल सरोवर है और कहाँ पाप का गड्ढा है ? कहाँ अच्छाई है, और कहाँ बुराई है ?

धर्मश्रवण का अद्भुत प्रभाव

जो कार्य राजदण्ड नही कर सकता, जिन अपराधियो का जीवन

परिवर्तन तलवार, बन्दूक या भय प्रदर्शन नही कर सकते, उनका जीवन महात्माओ या महापुरुषो के एक ही वचन या प्रवचन सुनने से बदल गया, बदल जाता है। बडे-बडे सगीन अपराध करने वाले हत्यारे, चोर, डाकू, वेश्या आदि पापात्मा व्यक्तियो का जीवन एक ही बार के धर्मवचन श्रवण से बदल गया। भारतीय धर्मों का इतिहास साक्षी है कि पापी से पापी व्यक्तियो का जीवन एक झटके मे, एक प्रवचन सुनते ही नया अहिसक मोड ले लेता था। ११४१ व्यक्तियो की हत्या करने वाला अर्जुनमाली भगवान् महावीर का एक प्रवचन सुनते ही एकदम बदल गया। वह पापात्मा से धर्मात्मा बन गया। इतना ही नही, साधु जीवन अगीकार करके वह कष्टसहिष्णु, क्षमामूर्ति और सयम का कठोर आचरण करने वाला बन गया। क्रुद्ध चण्डकौशिक सर्प को भगवान् महावीर ने इतना ही कहा था—

चडकोसिया ! बुज्झह बुज्झह बुज्झह !!

हे चण्डकौशिक ! अब भी समझ, अब भी समझ ! अभी तक कुछ नही बिगडा है, तुझे पचेन्द्रिय का चोला मिला है। तू हिंसक साप की योनि मे भी अहिसक श्रावकत्व धारण कर सकता है।

और भगवान् का धर्मवचन सुनकर क्रूर चण्डकौशिक शान्त चण्डकौशिक बन गया, पापी से धर्मी हो गया।

और मेघकुमार मुनि भी दीक्षा ग्रहण करने की प्रथम रात्रि मे साधुओ के पैरो की ठोकर लग जाने मे झुंझलाकर मुनि-जीवन को छोडने का विचार कर चुका था, मगर श्रमण भगवान् महावीर के श्रीमुख से युक्तिपूर्वक कहा हुआ वचन श्रवण कर पुन सयम पथ मे स्थिर हो गया।

गणधर गौतम, जो एक दिन पाण्डित्य के अभिमान मे छके हुए थे, भगवान् महावीर की वाणी सुनते ही अपना सर्वस्व अह छोडकर उनके शिष्य बन गए।

वचन-श्रवण का प्रभाव कितना गहरा होता है, इसे समझाते हुए कवि कहता है—

वाणी सुनाई ऐसी, वीर भगवान ने,
नया ही प्रकाश पाया, भूले इन्सान ने ॥ टेक ॥
गौतम ने वाणी सुनी, छोडा अभिमान था,
दृष्टिराग टूटा, नष्ट हुआ अज्ञान था ॥
सीधी राह पाई उस वेद-विद्वान् ने ॥ वाणी० ॥ १ ॥
वाणी मे बहा जब अमृत का निर्झर, हुआ उपशान्त चण्डकौशिक विषधर।
स्वागत किया था पचम स्वर्ग के विमान ने ॥वाणी० ॥ २ ॥

वाणी को सुनकर अर्जुनमाली सुधर गया,
रक्तपात छोडा सारा नशा-सा उतर गया।
क्षय किया कर्मों का मुनि क्षमावान ने ॥ वाणी० ॥ ३ ॥
सुनते ही वाणी मेघमुनि का शिथिल मन, दृढ़ हुआ किया सारा जीवन अर्पण।
जोश में भी होश पाया, उठते तूफान ने ॥ वाणी० ॥ ४ ॥
वाणी श्रवण कर अतिमुक्त मुक्त हुए, भवसिन्धु तरने की भावना से युक्त हुए।
जल मे तिराई नाव शिशु अनजान ने ॥ वाणी० ॥ ५ ॥

सचमुच कवि ने वाणी-श्रवण का अमोघ प्रभाव इस गीत में चित्रित कर दिया है।

अनमने श्रवण का भी प्रभाव

ये सब उदाहरण तो श्रद्धापूर्वक धर्मश्रवण करने के प्रभाव के है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति बिना श्रद्धा के, बिना मन के भी किसी सन्त, महात्मा या महापुरुष का धर्म वचन सुन लेता है, उसका भी प्राय अचूक प्रभाव पडता है।

उज्जैन का राजा चन्द्रसिह अपने भव्य शयनकक्ष से शय्या पर लेटा हुआ था। आधी रात को वैभव के गर्ववश स्वप्न मे बडबडाने लगा। गर्व ही गर्व मे वह मूँछो पर ताव देकर उठा और सस्कृत का एक श्लोक बनाकर बोल उठा—

चेतोहरा युवतय सुहृदोऽनुकूला,
सद्बान्धवा प्रणतिगर्भगिरश्च भृत्या.।
वलगन्ति दन्ति निवहास्तरलास्तुरगा

अर्थात्– मेरे यहाँ मनोहर युवती रानियाँ हैं। अनुकूल मित्र हैं। अच्छे बान्धव है, प्रेम के साथ मधुर वचन बोलने वाले नौकर है, तथा हाथियो और चपल घोडो का झुड शोभा पा रहा है।

राजा चन्द्रसिंह ने श्लोक के तीन चरण तो बना लिये, परन्तु चौथा चरण बहुत कुछ प्रयास करने पर भी नही बना पा रहा था। तीनो चरणो का नौ बार उच्चारण करने पर भी चौथा चरण नहीं बना कि एक अज्ञात आवाज आई—

'सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति।'

आँखें मुँद जाने पर ये सब कुछ भी नही है, अर्थात्–स्वप्नवत् हैं।

राजा के कानो मे यह चौथा चरण पडते ही एकदम चौककर उठा। इधर-उधर देखकर कहा—यह कौन है, जिसने धर्मवचन की तरह चौथा चरण कहकर मेरे गर्व के महल को धराशायी कर दिया।

यह सुनकर अभाव मे पीडित तथा चोरी करने हेतु छिपा हुआ एक

पण्डित बोला—"राजन् ! चौथा चरण मैने बनाया है। मैं आया तो था चोरी करने, किन्तु आपकी गर्वस्फीत श्लोकरचना सुनकर मेरे से रहा नही गया। अब आपको जो भी सजा देना हो, दीजिए।" राजा ने चोर बने हुए पण्डित को पास बुलाकर कहा—"आप दण्ड के नही, पुरस्कार के पात्र है। आपने तो मेरे गर्व को ही चुरा लिया है।"

राजा ने उसे इनाम दिया और अपना घनिष्ठ मित्र बना लिया। उसी दिन मे राजा के जीवन मे विलासिता, अभिमान और प्रमाद के बदले प्रजापालन और जनसेवा साकार हो उठी।

यह था - सद्वचन-श्रवण करने का अचूक प्रभाव ! कहा भी है—

एक वचन श्री सद्गुरुकेरा, जो बसे ते दिलमाय रे प्राणी।
नरक निगोद मे ते नहि जावे, इम कहे जिनराय रे प्राणी॥

वास्तव मे, धर्म का या महात्माओ का एक सद्वचन भी मनुष्य को नरक या निगोद जैसी दुर्गति से बचा सकता है। उसके जीवन मे सदा-बहार आ जाती है।

राजगृहवासी रोहिणेय डाकू के पिता लोहखुर ने मरते समय यह शिक्षा दी थी कि, "बेटा ! किसी भी साधु का धर्मोपदेश न सुनना।"

किन्तु एक बार वह राजगृह की ओर आ रहा था, तभी मार्ग मे भगवान् महावीर का धर्मोपदेश हो रहा था। रोहिणेय कानो मे अगुलियाँ लगाकर तेजी से भागने लगा। जब वह समवसरण के ठीक सामने मे गुजरने लगा, तभी एक काँटा पैर मे लग गया। वह नीचे झुक कर हाथो से काँटा निकालने लगा, उसी समय भगवान के मुख से निकले हुए ये शब्द कानो मे पड गए—'देवो के पैर पृथ्वी को नही छूते, उनकी पलकें नही झपती, उनकी पुष्प-मालाएँ नही कुम्हलाती तथा उसके शरीर मे पसीना नही आता।" रोहिणेय न सुनना चाहते हुए भी अनमने भाव से इन शब्दो को सुन चुका। आगे चलकर ये ही शब्द उसको बन्धन मे डालने के लिए अभयकुमार द्वारा रचे गए षडयत्र को निष्फल बनाने मे सहायक हुए और वह जीवन भर भगवान् के धर्मवचनो को सुनकर उन पर अमल करने के लिए डाकू से साधु बन गया। रोहिणेय के जीवन को आमूलचूल बदलने मे धर्मवचन-श्रवण ने अद्भुत काम किया।

बन्धुओ ! इसीलिए अर्हतर्षि नारद ने श्रोतव्य का श्रवण करने के लिए बार-बार जोर दिया है। आप भी मोक्ष के प्रथम सोपान श्रोतव्य-श्रवण पर मुस्तैदी के साथ पैर जमाइए और अध्यात्म के अन्तिम शिखर—मोक्ष तक पहुँचने का पुरुषार्थ कीजिए। □

३

श्रवण का प्रकाश; आचरण में ......

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

पिछले प्रवचन मे मैंने बताया था कि श्रवण आध्यात्मिक शिखर तक पहुँचने के लिए पहली सीढी है। परन्तु प्रश्न यह होता है कि क्या धर्म-श्रवण या सत्यश्रवण कर लेने मात्र से ही हमारा कल्याण हो जाएगा ? क्या श्रवण के द्वारा हेय, ज्ञेय और उपादेय को जान लेने मात्र से हमारा आध्यात्मिक विकास हो जाएगा ?

इसका समाधान करने के लिए ही अर्हतर्षि देवनारद श्रवण से आगे की भूमिका का निर्देश इसी अध्ययन मे करते है। उनके कथन का आशय यह है कि श्रवण—श्रोतव्य श्रवण मोक्ष की पहली सीढी अवश्य है, परन्तु उसके आगे की सीढियो को पार किये बिना हम मजिल नही पा सकते। अत श्रवण के बाद उसका आचरण होना आवश्यक है। श्रवण बीज है तो सदाचरण पल्लवित वृक्ष है। बीज को खाद पानी मिले, फिर भी वहाँ सदाचरण रूप वृक्ष के रूप में विकसित न हो, उस सदाचरण वृक्ष पर एक भी फल न आए तो श्रम और समय का अपव्यय ही माना जाएगा।

एक विद्यार्थी पहली कक्षा से लेकर बारहवी कक्षा तक गणित पढता है। गणितशास्त्र के द्वारा वह हिसाब-किताब मे प्रवीण हो जाता है और जब स्नातक (ग्रेज्युएट) होकर विद्यालय से विदा लेकर अपने पिता के व्यवसाय को सँभालता है, उस समय उसके पिताजी उसे कोई हिसाब करने को कहते है, यदि उस समय वह यह कहे कि 'पिताजी ! यह हिसाब तो मुझे विद्यालय मे आता था, यहाँ नही आता है', तो आप उस गणित के भूतपूर्व विद्यार्थी को क्या कहेगे ? यही कहेगे कि अगर वह गणितशास्त्र मे निष्णात हो चुका है तो उसे वह हिसाब आना ही चाहिए। अथवा मालूम होता है, वह गणित की परीक्षा मे नकल करके पास हुआ है, या परीक्षक को दक्षिणा देकर उसने गणित की परीक्षा मे उत्तीर्णांक प्राप्त कर

लिए है। या उसने गणित का अध्ययन भली-भाँति नही किया है, बिना समझे-बूझे रट-रटाकर परीक्षाएँ पास कर ली है। अगर वह गणित पढा होता तो जो हिसाब या सवाल उसे विद्यालय मे आता था, वह अपनी दुकान या फर्म मे भी आना चाहिए था। यही बात हम उस व्यक्ति के विषय मे कह सकते है, जिसने वर्षो तक धर्मशास्त्रो का गुरु-मुख से श्रवण किया, धर्म-श्रवण करके उस धर्म को आचरण मे लाने के उपाय भी जाने, गुरु-मुख से धर्माचरण मे बाधक तत्त्वो-- अतिचारो से बचने का उपाय भी सीखा। परन्तु वह सब अभ्यास उसने धर्मस्थानरूपी विद्यालय मे किया। धर्मस्थान मे बचपन से वह आता था, धर्म श्रवण करता था। स्कूल का छात्र था, तब तक तो उसे धर्माचरण मे बाधक तत्त्वो से बचने मे कोई कठिनाई नही आई किन्तु जब वह सयाना हुआ, अपने गृहस्थाश्रम को, व्यवसाय को तथा पिताजी द्वारा किये जाने वाले सामाजिक या राष्ट्रीय कार्यों को सँभाला, तब वह धर्मस्थान मे सुने हुए, जाने हुए या सीखे हुए धर्म को आचरण मे लाना भूल जाए, तो आप उसे क्या कहेगे? क्या वह कोरा धर्मश्रवण या धर्मज्ञान उस व्यक्ति के जीवन को विकसित कर सकेगा या अध्यात्म के उच्च शिखर तक पहुँचा सकेगा? कदापि नही।

राजस्थान के एक विचारक ने ऐसे श्रोताओ के लिए बहुत ही कडवी बात कह दी है--

> सुणता सुणता फूट्या कान।
> पण नही आयो हिवडे ज्ञान॥

धर्म-श्रवण करने के साथ दुर्गुण भी छोड़ो

सेम्युएल जॉनसन नामक एक अँग्रेज लेखक ने ठीक ही कहा है

'शब्द पृथ्वी की पुत्रियाँ है और कार्य स्वर्ग के पुत्र।

आचरण के बिना कोरे धर्मश्रवण से हमारा उत्थान नही हो सकता। लगातार प्रवचन सुनते जाएँ, तत्त्वो और व्रतों का ज्ञान भी करले, किन्तु श्रवण से प्राप्त वह ज्ञान हृदय मे नही उतरे, आचरण मे न आए तो उस ज्ञान का आत्म-विकास की दृष्टि से क्या और कितना महत्त्व है?

मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है -

सदैव व्याख्यान सुनने के रसिक एक सेठजी एक बार एक मुनि का व्याख्यान सुन रहे थे। धाराप्रवाही व्याख्यान सुनते-सुनते सेठजी झूमने लगे और बीच-बीच में—'वाह वाह!' 'बहुत सुन्दर!' 'बहुत खूब' की

ध्वनि से परिषद् का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते जाते थे। सेठजी को देखकर लगता था—परिषद् मे धन्ना सेठ या शालिभद्र विराजित हो।

मुनि के व्याख्यान का विषय था —कथनी करनी मे अन्तर ! वे कह रहे थे—"धर्मात्मा व्यक्ति को धर्म की आड मे चोरी, झूठ, छल, मिलावट, बेईमानी आदि दुर्गुण अवश्य ही छोड देने चाहिए, क्योंकि ये बुराइयाँ धर्म के साथ मेल नही खाती।" सेठजी बडे प्रेम से सुन रहे थे। उसी परिषद् मे एक चोर मुनि के उपदेश को ध्यानपूर्वक सुन रहा था। उसे अपने दुष्कृत पर इतना पश्चात्ताप हुआ कि उसने अपनी चौर्यवृत्ति सदा के लिए छोड दी।

व्याख्यान समाप्त होने के पश्चात् परिषद् उठकर चली गई। सभी अपने अपने कामो मे लग गये। प्रवचन श्रवण रसिक सेठजी भी अपनी दुकान पर पहुँचे। सयोगवश वह चोर भी इन्ही सेठजी की दुकान पर शक्कर लेने पहुँचा। सेठजी ने तराजू उठाया और लगे डडी मारने। मानो वे भूल ही गये हो कि अभी-अभी मुनिवर के व्याख्यान मे क्या सुनकर आया हूँ। चोर, जो अपनी चौर्यवृत्ति को तिलाजलि दे चुका था, बडे असमजस मे पड गया और बोला—"सेठजी ! परिषद् मे तो आप श्रेष्ठ प्रवचन रसिक श्रोताओ मे थे, किन्तु आचरण तो यहाँ कुछ और है।" सुनकर सेठजी तुनक कर बोले—"मूर्ख ! तू मुझे शिक्षा दे रहा है। सौदा लेना हो तो ले, वरना अपना रास्ता पकड।" चोर भला कहाँ चूकने वाला था। वह तत्काल बोल पडा —

एक बार के श्रवण से मुझे हो गया ज्ञान।
तुम सुनकर कोरे रहे, जान-जान अनजान॥

दायित्व कान का कम, पैर का अधिक

आप कहेगे कि क्या सुनने मात्र से व्यक्ति तदनुसार आचरण कर लेगा ? मै समझता हूँ, सभी व्यक्तियो से ऐसी अपेक्षा रखना ठीक नही होगा। कई व्यक्ति, जो मिथ्यात्वी, अभवी या नियाणा किये हुए होते है, ऐसे और इस प्रकार के व्यक्ति धर्म-प्रवचन तो सुन सकते है, परन्तु उस पर अमल करना उनके वश की बात नही। क्योकि ऐसे लोग धर्म-श्रवण की भाव-परिणति के अयोग्य होते है। परन्तु ऐसे लोग जो सम्यग्दृष्टि है, मुमुक्षु है, जिज्ञासु है, श्रावक है, उनके द्वारा बार-बार धर्मश्रवण करने पर उनसे तो आचरण की अपेक्षा रखी ही जा सकती है। परन्तु इसमे दो मत नही है कि आत्मा के विकास एव सद्गुणो के अभ्यास के लिए श्रवण के

साथ मनन और आचरण अवश्य होना चाहिए। जैन शास्त्र स्थानाग सूत्र (स्थान २/१/६६) इस बात का साक्षी है—

'दोहि ठाणेहि आया केवलिपण्णत्ते धम्म लभेज्जा सवणयाए, त०—
सोच्चा चेव, अभिसमेच्चा चेव।'

'आत्मा दो कारणो से केवलि-प्रज्ञप्त धर्म को श्रवण की भाव-परिणति के रूप मे प्राप्त कर सकता है। वह इस प्रकार—सुनकर और समझ कर।'

हिमालय के शिखर की ऊँचाई इतनी है और इस-इस मार्ग से तथा इस-इस विधि से उस पर चढना चाहिए, इसका वर्णन कहने-सुनने मे कोई अधिक समय नही लगता। ऐसी बाते किताबो, पत्रो या रेडियो आदि से सुनी भी जा सकती है। परन्तु हिमालय पर यदि आपके पैर चढना चाहेगे तो आपको कितनी तैयारी करनी पडेगी ? कितनी कठिनाइयो और विघ्नो-सकटो से जूझते हुए आपको चढाई सफल करनी होगी ? वह एक दीर्घकालीन साहसिक महायात्रा कहलाएगी। परन्तु आप अनुमान लगाइए कि कानो से हिमालय के शिखर का वर्णन सुनने की अपेक्षा हिमालय पर पैरो से चढने का महत्त्व कई गुना अधिक है। अर्थात्—कानो की अपेक्षा पैरो का उत्तरदायित्व कई गुना अधिक है। पैरो का काम कानो से श्रवण-कार्य की अपेक्षा कठिन, श्रमसाध्य और साहसपूर्ण भी है। किन्तु एक बात निश्चित है कि श्रवण के बाद पैर जब उस निर्दिष्ट या प्रदर्शित पथ पर एक बार चलना शुरू कर देते है और कुछ हद तक चल चुकते है, तब आप मे नया जोश, नई उमग, नयी स्फूर्ति, नया आल्हाद तथा दृढ आत्म-विश्वास पैदा हो जाता है। आपके मन मे उस श्रवणगोचर विषय के प्रति गाढ श्रद्धा पैदा हो जाती है कि हम भी इस मजिल को पार कर सकते है।

श्रवण दही और आचरण नवनीत है

अर्हतर्षि नारद इस अध्ययन में सर्वप्रथम श्रोतव्य श्रवण का महत्त्व बताकर तदनुसार आचरण की ओर इगित कर रहे है। उनका अभिप्राय जिज्ञासु और मुमुक्षु श्रोता को अपने साध्य या ध्येय की बात श्रवण करके बिठा देने या श्रवण मे इति समाप्ति करा देने की नही है। हाँ, कदाचित् वह सुनी हुई बात को समझना चाहे, उस विषय मे स्पष्टीकरण करना चाहे तो थोडा-सा विश्राम ले सकता है, परन्तु यदि वह श्रवण और मनन के बाद श्रोतव्य विषय को हृदयगम कर चुका है तो उसे अधिक रुकने की आवश्यकता नही अपने लक्ष्यबिन्दु की ओर तुरन्त कदम बढाने चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि श्रवण दही है, मनन-चिन्तन उसका मन्थन है और आचरण नवनीत (मक्खन) है।

श्रवण का सार : आचरण

भगवान् महावीर ने कहा है—

एव खु नाणिणो सार, ज न हिंसइ किचण।

'ज्ञानी होने का सार यही है कि वह किसी जीव की हिंसा न करे।'

वस्तुत श्रवण का सार ज्ञान है, और ज्ञान का सार है— आचरण। आचरण के बिना श्रवण निष्फल है, वन्ध्य है। जैसा कि पहले दशवैकालिक सूत्र मे बताया गया था—

उभय पि जाणइ सोच्चा, ज सेय त समायरे।

सुनकर पुण्य और पाप अथवा श्रेय और अश्रेय की पहचान होती है। फिर जो श्रेय है, जीवन के लिए उत्तम है, श्रेष्ठ है, उसका आचरण करे।

एक तोते को रटाया गया—बिल्ली आये तो डरते रहना। वह रोज रटता रहा, पर उसे यह नही पता था कि बिल्ली आने पर क्या करना चाहिए? एक दिन बिल्ली आ गई। तोता रटता रहा—'बिल्ली आये तो डरते रहना।' और बिल्ली झपट्टा मारकर तोते को खा गई। तो तोता-रटन्त का ज्ञान आचरण मे नही उतरे तो उसमे कोई लाभ नही।

श्रवण अधिक आचरण अत्यल्प

आज तो वर्षो तक लगातार प्रवचन सुनने के बाद भी व्यक्ति वही का वही रहता है। भारतवर्ष मे सन्तो के मुख से प्रवचन सुनने की प्रथा हजारो वर्षो मे है। धर्मकथा सुनना-सुनाना एक प्रकार का स्वाध्याय तप भी है। प्राचीन काल की बात तो हम सुनते आए है कि धर्मकथा एक-दो बार सुनने से ही व्यक्ति का जीवन प्राय बदल जाता था। परन्तु वर्तमान मे यह बात बहुत दुर्लभ हो गयी है। आज अधिकाश भारतवासी प्रवचन तो सुनते है, परन्तु सुनकर उस पर अमल करने का विचार कम करते है। यहाँ अध्यात्म की बडी-बडी बाते बघारने वाले मिल जाएँगे, गाँवो के अनपढ लोग भी त्याग और वैराग्य की, आत्मा-परमात्मा की बाते करते मिलेंगे, परन्तु जीवन मे तदनुसार आध्यात्मिकता, समता, मैत्री, करुणा, मानवता आदि गुण विरले ही लोगो मे देखने को मिलेंगे। इसी कारण मैं कहता हूँ कि भारतवर्ष में आध्यात्मिक श्रवण के फलस्वरूप ज्ञान तो बहुत है, परन्तु तदनुसार आचरण न होने के कारण आन्तरिक दरिद्रता छाई हुई है।

एक बार स्वामी विवेकानन्द जब विदेश मे भ्रमण कर रहे थे तो एक विदेशी ने उनसे पूछा - "स्वामी जी ! भारतवर्ष मे गीता, रामायण, त्रिपिटक, वेद, जैनागम आदि अनेक धर्मशास्त्रो के श्रवण से प्रचुर ज्ञान होते हुए भी इतनी दरिद्रता क्यो है ? ज्ञान के इतने खजाने जहाँ हो, वहाँ इतनी दीनता-हीनता, अभावग्रस्तता क्यो ?"

स्वामीजी ने उसे युक्तिपूर्वक समझाया—"बन्धु ! किसी के पास बहुत अच्छी बन्दूक हो, बारूद भी हो, मगर यदि उस बन्दूक को चलाने की कला उसके पास न हो तो क्या वह बन्दूक किसी काम आएगी ? उसी प्रकार यदि किसी के पास सुना-सुनाया ज्ञान तो बहुत हो, परन्तु उसे आचरण मे लाने की कला न हो, तो वह सुना हुआ ज्ञान किस काम का ?"

आशय यह है कि सुने-सुनाए ज्ञान की दृष्टि से भारत के पास इतनी सम्पन्नता होते हुए भी आचार की दरिद्रता है, इसी कारण आज भारत मे चहुँमुखी दरिद्रता छाई हुई है।

यही कारण है कि धर्मश्रवण मे उपार्जित ज्ञान-गाम्भीर्य के कारण जो देश विश्व का आध्यात्मिक गुरु कहलाता था, वही भारत आचरण से दूर रहकर न केवल दासता की जजीरो मे वर्षो तक बधा रहा, इतना ही नही, बल्कि वह शनै -शन अपने प्राप्त ज्ञान की गहराइयो को भी खो बैठा, उसका अर्जित ज्ञान भी विस्मृत हो गया। इस सारी दुर्दशा को मिटाने के लिए प्रत्येक भारतवासी को श्रवण से उपार्जित ज्ञान को विकसित एव पल्लवित करने के लिए आचरण की आग प्रज्वलित करनी होगी। श्रवण से उपार्जित ज्ञान सोना है तो आचरण उस सोने को चमकाने-दमकाने वाली आग है।

धर्मोपदेशश्रवण जीवन परिवर्तनकारी हो

भारत के सभी धर्मप्रेमियो को अपना यह रवैया बदलना होगा कि हम धर्मोपदेश सुने तो टनभर परन्तु आचरण कणभर भी न करे। जीवन की यह दुर्बलता मनुष्य को हीनभावना, दरिद्रता, विचारहीनता या परमुखापेक्षता की ओर ले जाती है। एक विचारक वर्तमान युग का यथार्थ चित्रण करते हुए कहता है—

हर ओर देखिये उपदेशो की कैसी झड़िया लगती है।
हर बात-बात मे पुरखाओ की साक्षी यहाँ निकलती है।
गीता, रामायण, सूत्र, ग्रन्थ हर ओर सुनाये जाते हैं।
मन्दिर, मस्जिद स्थानक मे कई बार रटाये जाते हैं।
पर परिणाम जो देखोगे तो पोलमपोल पलोटा है।
सुनने वाले यहाँ बहुत मिले, करने वालों का टोटा है॥

एक जगह गाँव के बाहर एक वटवृक्ष के नीचे एक महात्मा प्रतिदिन धर्मोपदेश देते थे। ३०-४० व्यक्ति प्रतिदिन धर्मोपदेश श्रवण करते थे। उपदेश के बीच-बीच में श्रोतागण झूम उठते थे। एक राजकुमार घोडे पर सवार होकर वहाँ आया। वह घोडे से उतरा, उसने घोडे को एक ओर बाँधा और महात्माजी का व्याख्यान सुनने लगा। व्याख्यान सुनते-सुनते उसे ससार से विरक्ति हो गई। उसने उसी समय महात्मा से सन्यास-दीक्षा ले ली। घोडा उसने किसी गरीब को दे दिया। कुछ कपडे थे, वे उसने गरीबो को बाँट दिये। सन्यास लेकर वह चल पडा देश-परदेश मे विचरण करने।

सन्यासी बना हुआ वह राजकुमार देश-परदेश मे घूमता-घूमता बारह वर्ष बाद उसी गाँव के बाहर उसी तटवृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ उसने सन्यास-दीक्षा ली थी। वहाँ उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे ही प्रवचन सुनने वाली मूर्तियाँ बैठी थी। उन्हे मूर्तिया ही कहना चाहिए, जिनमे इतने वर्षों तक सुनने पर भी कोई तब्दीली नही आई। वे ही उपदेशक है, वे ही सुनने वाले है, जो जहाँ के तहाँ हैं। संन्यासी बना हुआ वह राजकुमार सबके हृदय के पास हाथ रखकर टटोलने लगा। उपदेशक महोदय ने पूछा— 'यह क्या कर रहे हो ?"

वह बोला—"मै यह देख रहा हूँ कि इनके हृदय मे कुछ सवेदनशीलता है या नहीं ? क्योकि बारह वर्ष बाद भी मैं इन्हे जहाँ के तहाँ देख रहा हूँ, इतना अधिक धर्मोपदेश सुनने पर भी।"

यह घटना इस बात को स्पष्टतया घोषित कर रही है कि वर्षों तक धर्मश्रवण करने पर भी जिस व्यक्ति का जीवन-परिवर्तन नही होता, उसका श्रवण करने मे लगाया हुआ श्रम और समय प्राय व्यर्थ जाता है। एक विचारक सन्त ने तीखी आलोचना करते हुए कहा है—

सुनते-सुनते बीती सारी, तेरी रे उमरिया।
बाध बाध अब तो तू, त्याग तपस्या की गठरिया ।। (ध्रुव)

आठ वर्ष का लगा था सुनने, साठ वर्ष का हो गया।
पोते से तू हो गया दादा, परिवर्तन न हुआ ।।
है काली की काली अब तक तेरी यह चदरिया ।। सुनते० ।।१।।

थे जो काले बाल हो गए, वह बगुले की पांख-से।
कानो से तू सुन नहीं सकता, नही दीखता आंख से ।।
बडा अचम्भा फिर भी तेरा, मन तो है चकरिया ।। सुनते० ।।२।।

सुन करके कुछ असर अगर हो, तो सुनने का सार है।
इधर सुना और उधर निकाला, तो सुनना बेकार है ॥
टूटा तलवा तर न सकेगी, तेरी यह नावड़िया ॥ सुनते० ॥३॥

कवि ने कितना मार्मिक चित्रण ऐसे श्रोताओ का कर दिया है, जो इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते हैं, श्रवण के अनुरूप कुछ भी आचरण नही करते।

श्रोतव्य का प्रथम लक्षण अहिसा

अर्हतर्षि देवनारद ने इस अध्याय के उत्तरार्द्ध मे श्रोतव्य के मुख्यतया चार लक्षण बताए है—अहिसा, सत्य, अस्तेय और अब्रह्म-परिग्रहविरतिरूप व्रताचरण। अर्थात्—ये चारो व्रताचरण श्रोतव्य श्रवण के मधुरफल है।

यहा चतुर्थ और पचम महाव्रत को इसलिए एक साथ लिया गया है कि इस अध्याय के प्रणेता अर्हतर्षि नारद बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ के युग के है। आदि और अन्तिम तीर्थकरो के अतिरिक्त शेष बाईस तीर्थंकरो के शासन मे चातुर्याम धर्म की देशना है।

श्रोतव्य के प्रथम लक्षण के रूप मे अर्हतर्षि नारद कहते है--

पाणातिपात तिविह तिविहेण णेव कुज्जा ण कारवे। पढम सोयव्व-लक्खण।

अर्थात्—श्रोतव्य का प्रथम लक्षण है—त्रिकरण और त्रियोग से हिसा स्वत न करना और न अन्य से करवाना तथा न ही करते हुए का अनुमोदन करना।

प्राणातिपात-निषेध अहिसा का निषेधात्मक रूप है। श्रवण से श्रवणकर्ता के दिल मे मन-वचन-काया से हिंसा न करने, न कराने और न अनुमोदन करने की भावना उमडे। अहिसा आत्मा का स्वभाव है। विभाव को हटाना, साधक के लिए स्वभाव के प्रति यह पहला कदम है। जैसे मूर्तिकार मूर्ति-निर्माण के लिए सर्वप्रथम अपनी पैनी छैनी और हथौडे से पाषाण के अनिष्ट अश को छील-छाल कर दूर करता है। अनिष्ट अश दूर होते ही मूर्ति का अपना असली रूप निखर आता है। इसी प्रकार श्रवण-कर्ता साधक भी धर्म-श्रवण करके अपनी आत्मा पर लगे हुए हिंसा रूप अनिष्ट अश को दूर कर देता है, फिर अहिंसा के विधेयात्मक रूप को भी अपनाता है। श्रवण मे उसके अन्तर्मन में दया, सेवा, करुणा, मैत्री एव सहानुभूति का निर्झर बहता है। वह श्रवण ही क्या, जिससे श्रोता के अतर् मे घनीभूत करुणा का स्रोत न फूटे? यही सच्चे श्रवणकर्ता का प्रथम

लक्षण है। धर्मश्रवण से श्रोतव्य—श्रोता का हृदय दु खी को देखकर दया से द्रवित हो जाए यह प्रथम लक्षण है। कवि कहता है—

दया बिन बावरिया हीरा-जनम गवाए
कि पत्थर से दिल को, क्यो ना फूल बनाए ? ॥ दया० ॥ टेर ॥
कोमलता का भाव न मन में
फिर क्या सुन्दरता से तन मे
जीवन, विष बरसाए ॥ दया० ॥१॥
दीन-दु खी की सेवा कर ले
पाप-कालिमा अपनी हर ले।
तिहु जग मगल गाए ॥ दया० ॥२॥

श्रोतव्य को इससे पहचाना जा सकता है कि उसके दिल मे दया है, मैत्री है, बन्धुत्व की भावना है।

श्रोतव्य का द्वितीय लक्षण सत्य

जिसने धर्म श्रवण किया है, उसे पहचानने का दूसरा लक्षण सत्य-भाषिता है। मिथ्याभाषी आत्मा सच्चा श्रोता नही हो सकता है। धर्म श्रवण करने के बाद उसके जीवन में सत्य होना ही चाहिये। इसी बात को अर्हतर्षि नारद कहते है—

मुसावाद तिविह तिविहेण णेव बूया ण भासए।
बितिय सोयव्व – लक्खण ॥

श्रोतव्य का दूसरा लक्षण यह है कि वह त्रिकरण-त्रियोग से मिथ्या-भाषण स्वय न करे, अन्य से मिथ्या न बुलवाये तथा न ही मिथ्याभाषण करने वाले का अनुमोदन करे, मन-वचन-काया से।

वास्तव मे धर्मश्रवणकर्त्ता के लिये असत्यभाषण एक कलक है। मिथ्याभाषण से व्यक्ति अविश्वसनीय बनता है।

श्रोतव्य का तृतीय लक्षण अदत्तादान-विरमण

अदत्तादान, अर्थात् चोरी से विरत होना श्रोतव्य का तीसरा लक्षण अर्हतर्षि ने बताया। उनके शब्दो मे देखिये—

अदत्तादाण तिविह तिविहेण णेव कुज्जा ण कारवे।
ततिय सोयव्व – लक्खण ॥

श्रोतव्य का तीसरा लक्षण है कि वह तीन करण, तीन योग से अदत्तादान न करे, न करावे और न ही इसका अनुमोदन करे। आत्मा एवं आत्मगुणो के सिवाय समस्त वस्तुएँ परभाव है, विभाव है, स्वभाव नही।

चोरी, बेईमानी, ठगी, झूठ-फरेब, धोखेबाजी, डकैती, धनहरण, अपहरण, चकमा आदि सब अदत्तादान के अन्तर्गत है। श्रोतव्य को भलीभाँति जानने-पहचानने का तीसरा लक्षण है अचौर्यव्रत का आचरण। इस व्यक्ति मे चोरी और उससे सम्बन्धित समस्त दुर्गुण नही होगे। उसमे ईमानदारी विश्वसनीयता आदि सद्गुण होते है। वह सब लोगो का विश्वासभाजन बन जाता है।

श्रोतव्य का चतुर्थ लक्षण अब्रह्मपरिग्रहत्याग

अब्रह्मचर्य और परिग्रह मे तीन करण और तीन योग से मन-वचन-काया से दूर रहे, दूसरे को भी दूर रखता है और अब्रह्मचर्य एव परिग्रह के सेवन का अनुमोदन भी न करे। यही बात अर्हतर्षि नारद ने कही है —

अबभ-परिग्गह तिविह तिविहेण णेव कुज्जा ण कारवे।
चउत्थ सोयव्वलक्खण ॥

अब्रह्मचर्य एव परिग्रह—ये दोनो जीवन को दु खमय बनाते है। जहाँ ये दोनो होगे वहाँ शान्ति भग हुए बिना नही रहती। अत श्रोतव्य-साधक को इन दोनो का त्याग करना अनिवार्य है।

श्रोतव्य के विविध गुण

अर्हतर्षि नारद ने आगे इसी को विशेष स्पष्ट करते हुए कहा है—जिस साधक ने हिसा आदि अशुद्ध एव वैभाविक दुर्गुणो का परित्याग कर दिया है, जिसके मन वाणी एव कर्म मे अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह की त्रिवेणी बह रही है, वह साधक ममत्व के सभी प्रकारो का त्याग सहजभाव से कर देता है, चाहे वह ममत्व देह-गेह-परिवार, सम्प्रदाय, प्रान्त, भाषा, जाति आदि किसी भी प्रकार का हो। साधक उसके वास्तविक रूप को पहचान कर उसी क्षण उससे दूर हट जाता है। क्योकि मोह-ममत्व ही प्रगाढ़ बन्धन है। श्रोतव्य साधक इस बन्धन से दूरातिदूर रहता है।

इसके अतिरिक्त श्रोतव्य साधक सर्वथा विरत, दमनशील और शात होता है। अत उसे बाह्याभ्यन्तर सयोगो से सर्वथा विमुक्त होकर समस्त पदार्थो के प्रति सम होकर चलना है। इसका आशय यह है कि वह पदार्थो के प्रति न तो राग करे, और न द्वेष ही, अपितु समत्वभाव मे लीन रहे।

ऐसा श्रोतव्यग्राही साधक ही उपधानवान् है

बन्धुओ!

शास्त्र मे उपधान तप का वर्णन आता है, उसमे मुख्यत स्वादेन्द्रिय

पर विजय पाने के लिये तथा शास्त्र वाचना के उपलक्ष मे आयम्बिल तप अमुक अवधि तक करना होता है। परन्तु यहाँ नारदऋषि भाव-उपधान का वर्णन करते हुए सत्य, दत्त और ब्रह्मचर्य को उपधान बताते हैं। जो श्रोतव्य साधक सत्य, दत्त और ब्रह्मचर्य की उपासना करता है, उसे उपधानवान् कहते है।

मैने पहले जिन ४ श्रोतव्यो का वर्णन किया था, उन्हे ग्रहण करने वाले साधक के लिये अर्हतर्षि नारद कहते है—

सव्व सोयव्वमादाय अउय उपहाणव।
सव्वदुक्ख-पहीणे उ सिद्धे भवति णीरए॥

समस्त श्रोतव्यो को ग्रहण करके साधक प्रशसनीय उपधानवान् (तपस्वी) बनता है। फिर वह समस्त दु खो से मुक्त एव सिद्ध हो जाता है, तथा कर्म-रज से भी रहित हो जाता है।

वास्तव मे वही साधक प्रशसनीय उपधानवान् (तपस्वी) कहलाता है जो श्रोतव्य श्रवण किये हुए को जीवन मे उतारता है। जो सुनकर जीवन में नही उतारता, उसके लिए वह श्रवण किया हुआ ज्ञान केवल भाररूप हो जायेगा। जैसा कि कहा है—

ज्ञान भार क्रियां बिना।

क्रियान्वित किये बिना ज्ञान भाररूप होता है। ज्ञान के भार मे बडप्पन का अहकार भले ही हो, आनन्द नही मिल सकता। सुने हुए ज्ञान को आचरण मे न लाने को व्यर्थश्रम की उपमा देते हुए एक विचारक कहता है—

'दो व्यक्ति व्यर्थ ही श्रम करते है। एक तो वह जो पैसा एकत्रित करता है, पर उसका उपयोग नही करता। दूसरा वह, जो अध्ययन करता है, पर उसे जीवन मे नही उतारता।'

अर्हतर्षि नारद के मतानुसार ऐसा उपधानवान श्रोतव्य साधक शान्त, दान्त, (सब पापो से) विरत, निष्पाप, समर्थ, त्यागी, आत्मरक्षा करने मे समर्थ होता है। वह फिर भव-परम्परा के चक्र में नही फँसता।

धर्मश्रवणानुरूप आचरण ही श्रेयस्कर

प्रिय श्रोताजनो!

मैने आपके समक्ष श्रोतव्य श्रवण के अनुरूप व्रतादि का आचरण एव शम-सम-दमादि की साधना करने वाले साधक को मोक्ष रूप उत्तम फल को प्राप्ति का वर्णन किया है। इसमें कोई सन्देह नही कि ऐसा सर्वो-

त्कृष्ट साधक ससार के जन्म-मरणादि समस्त दु खो और क्लेशो से मुक्त हो जाता है।

मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य सिद्धि

अर्हतर्षि नारद के कहने का फलितार्थ यह है कि जिसके लिए मानव जीवन मिला है, उस अन्तिम लक्ष्य की सिद्धि श्रोतव्य-श्रवणानुरूप आचरण से प्राप्त होती है। याद रखिये आपको मानव-जीवन इसलिये मिला है कि—

* आत्मा से परमात्मा बनें।
* नर से नारायण बनें।
* जीव से शिव बनें।
* इन्सान से भगवान् बनें।
* जन से जिन बने।

आप इन पाँच सूत्रो को अपने हृदय मे अकित कर ले, अवश्य ही एक दिन आपका मनोरथ पूर्ण होगा।

□

४

दु:ख के मूल : समझो और तोड़ो

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

आज मैं आपके समक्ष ऐसे विषय की चर्चा करूँगा जो आपके या मानव जाति के ही नही समस्त प्राणियो के जीवन से सम्बन्धित है। वह है दु ख क्या है, क्यो है और उससे मुक्त होने का उपाय क्या है ?

दो प्रकार की वृत्ति वाले मानव

इस ससार मे दो तरह की वृत्ति वाले मनुष्य होते है। एक होते है—श्वानवृत्ति वाले। जिस प्रकार श्वान पत्थर मारने वाले को नही, परन्तु पत्थर को पकडने दौडता है, उसी प्रकार कई अज्ञानी मनुष्य इस वृत्ति के होते है, जो दु ख आ पडने पर दु ख के निमित्तो पर आक्रोश करते है। इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष सिंहवृत्ति के होते हैं। सिंह गोली लगने पर गोली पर नही, गोली मारने वाले पर झपटता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष दु ख के मूल पर प्रहार करते है, दु ख के निमित्तो पर नही।

दु ख से बचना चाहते हैं, कारणों से नहीं

यो तो ससार के समस्त प्राणी दु ख से बचना चाहते है। वे चाहते है, जरा-सा भी दु ख हम पर न आए। परन्तु अधिकाश मानव दु ख से बचना तो चाहते है, मगर दु ख के कारणो का परित्याग नही करते। अतएव द्वितीय अध्ययन मे 'वज्जियपुत्र अर्हतर्षि' इसी तथ्य को अभिव्यक्त करते है—

जस्स भीता पलायंति जीवा कम्माणुगामिणो।
तमेवादाय गच्छंति, किच्चा दिन्ना व वाहिणी ॥१॥

अर्थात्—कर्मानुगामी आत्मा जिस दु ख से भयभीत होकर भागते है, उसी दु ख को अज्ञानवश ग्रहण करते है। जिस प्रकार युद्ध से भागती हुई सेना पुन शत्रु के घेरे में फँस जाती है। इसी प्रकार दु ख से बचने के

लिए भागने वाला व्यक्ति, भाग तो सकता नही, उलटे वह दु ख के शिकजे मे अधिकाधिक फँसता जाता है। जैसे किसी को खासी हो गई तो वह खासी से तो छुटकारा पाना चाहता है लेकिन दही खाना नही छोड सकता। दही और खट्टी चीज का मोह नही छूटता तो फिर खासी मे छुटकारा कैसे हो सकता है। किसी को बुखार आया तो वह उसे उतारने का विचार करता है। डॉक्टर के पास जाकर दवा लेता है, परन्तु वह यह विचार नही करता कि बुखार आने का कारण क्या है। इसका मूल कारण ढूढकर इसे जडमूल से दूर करने का उपाय वह शायद ही करता है।

दु ख को दबा देना ही सुख नहीं है

साधारण मनुष्य जिसे दु ख समझता है, उसे अपनी मनचाही वस्तु से दबा देता है और उसे ही वह सुख मान लेता है। परन्तु वास्तव मे वह ऐलोपैथिक दवा की तरह एक रोग को दबाकर दूसरे रोग को उभारने के समान है। वह दु ख को जडमूल मे मिटाने का यथार्थ उपाय नहीं है। भर्तृहरि ने वैराग्य शतक मे वर्तमान जनमानस का चित्रण करते हुए कहा है—

> तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिल शीतमधुर
> क्षुधार्त्त शाल्यन्न कवलयति माषादिकलितम्।
> प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिगति वधूम्
> प्रतीकार व्याधे सुखमिति विपर्यस्यति जन ॥

जब मुख सूखने लगता है, तब साधारण मनुष्य ठडा और मधुर जल पी लेता है, जब भूख से पीडित होता है, तब उडद की दाल आदि से स्वादिष्ट बनाये हुए शालि चावल का भोजन कर लेता है, कामाग्नि भडकने पर प्रिया के साथ सहवास कर लेता है। इस प्रकार इन विभिन्न कोटि की व्याधियो के सामान्य प्रतीकार को ही मनुष्य 'यही सुख है', ऐसा मानकर विभ्रम मे पडता है। आज ससार के अधिकाश लोग इसी भ्रान्ति के शिकार हो रहे ह। इसी प्रकार सुख की भ्रान्ति को वे सुख समझे बैठे हैं। अज्ञानदशाग्रस्त मानव यह मानता है कि मेरे पास प्रचुर धन हो तो मैं मनमाना सुखोपभोग कर सकता हूँ। वह भ्रान्तिवश मानता है कि जगत् मे जो कुछ दु ख है, वह धन के अभाव मे है। परन्तु यदि आप किसी लक्ष्मीनन्दन के हृदय की जॉच करे तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि उसके पास सुख के प्रचुर साधन होगे, परन्तु पुत्र न होने से पुत्र की लालसा मे वह झूरता होगा। कदाचित् उसे पुत्र-प्राप्ति हो जाए, तो भी अपनी छोटी-सी जिन्दगी मे दु साध्य व्याधि से पीडित होकर कराहता

रहता है, या मर जाता है। इस कारण उसके समक्ष एक के बाद दूसरा महादुःख उपस्थित होता रहता है। किसी के अनेक पुत्र होते हैं, किन्तु वह उनके भरण-पोषण की चिन्ता से व्याकुल रहता है।

सुख के कल्पित साधन सुखप्रद नहीं

निष्कर्ष यह है कि दुःखरूप रोग का प्रतीकार साधारण बुद्धि वाला मानव जडमूल से नही कर पाता। मैं आपसे पूछता हूँ, मनुष्य जिन-जिन साधनो से सुख प्राप्ति की आशा करता है, क्या उन साधनो के मिलने मे उसका दुःख दूर हो जाएगा, उसके जीवन मे सुख का सागर लहराने लगेगा ? यह तो आप किसी साधन-सम्पन्न मानव से पूछकर देखें तो आपको पता लग जाएगा।

एक राजा है, वह भव्य महलो मे रहता है। उसके चारो ओर वैभव और विलास की रगबिरगी दुनिया है। बाहर की दुनिया का उसे कुछ भी भान न हो, फिर भी कोई न कोई दुःख का कीडा उक्त राजा के हृदय को खा रहा होता है। दो लाख रुपये की चमचमाती कार में बैठकर सैर करते हुए किसी धनाढ्य को देखकर दर्शक के दिल मे विचार आएगा कि 'ओहो ! कितना सुखी है, कितना भाग्यशाली है ?' मगर उस कार वाले सेठ से पूछो तो पता लगेगा कि उसके दिमाग मे कितनी चिन्ताओ का जाल बिछा हुआ है ? उसे चाहे जितना सरस स्वादिष्ट भोजन क्यो न कराओ, सुखकर व रुचिकर नही लगेगा।

ग्रीस मे सोलन नामक एक तत्त्वचिन्तक के पास एक दिन एक दुःखी मनुष्य आया और कहने लगा—"ओ सुखी भाई ! मुझे सुख का कोई मत्र दीजिए, ताकि मैं भी सुखी हो सकूँ।"

सोलन ने कहा—'भाई ! मेरे पास सुख का कोई मत्र नही है।" परन्तु आगन्तुक किसी तरह मानने को तैयार नही था। कहने लगा—"मैं सुख का मत्र लिये बिना यहाँ से जाऊँगा नही।" सोलन ने उससे कहा—"तुम किसी सुखी मनुष्य का कोट ले आओ, फिर मै तुम्हे सुख का मत्र दे दूँगा।"

आगन्तुक ने कहा—"जी, यह अच्छा कहा ! एक कोट ही तो आपको चाहिए न ? मैं कई सुखियो के कोट ला सकता हूँ। अच्छा, नमस्ते !"

तथाकथित दुःखिया एथेस महानगर मे पहुँचा और वहाँ एक विशाल बंगले वाले सेठ के द्वार पर दस्तक दी। अन्दर से आवाज आई—

"कौन ?" वह बोला—"मैं हूँ एक दुखिया। मुझे सोलन ने आपका एक कोट लेने के लिए भेजा है।" सेठ बोला—"किसलिए ? मेरा कोट क्यो चाहते हो ?" वह बोला—"सोलन ने कहा है कि तुम किसी सुखी मनुष्य का कोट ले आओ तो मैं तुम्हे सुख का मत्र दे दूंगा।"

सेठ—"भाई ! कोट तो भले ही तुम एक के बदले दो ले जाओ, परन्तु मैं सुखी नही हूँ।"

आगन्तुक "अजी ! क्यो मुझे बहकाते है ? आपके पास इतना बडा बगला है, चार-चार कारें है। सैकडो नौकर-चाकर है, कई मुनीम-गुमाश्ते है, फिर भी आप कहते है, कि मैं सुखी नही हूँ। मैं मान नही सकता।"

सेठ "अच्छा ! तुम तीन दिन मेरे यहाँ रहकर देख लो कि मैं दुःखी हूँ या सुखी।"

आगन्तुक ने रहना मजूर कर लिया। सेठ ने अपने सेवक से कह कर अपने खास दीवानखाने से समीप ही अतिथिगृह मे आगन्तुक के रहने तथा खाने-पीने का प्रबन्ध करा दिया। दूसरे दिन सुबह होते ही उक्त सेठ की अपने पुत्र के साथ झडप हो रही थी। लडका कह रहा था—"मेरे भी अपने अरमान है। मैं भी इस दुनिया मे आया हूँ तो दुनिया का आनन्द लूट लूँ ! आप मुझे किसी भी बात से रोक नही सकते।"

सेठ बोल रहा था—"परन्तु तू मेरी भी कुछ माना कर। मेरे नाम पर कालिख तो मत पुतवा। अगर इस पर भी तू नही मानता तो मेरे घर से निकल जा।"

लडका कहने लगा—"मैं आपका गुलाम नही हूँ। मै हर जगह जाने के लिए आजाद हूँ। आप जैसे कजूस, अनुदार, जिद्दी और क्रोधी पिता के पास रहना मुझे कतई पसन्द नही है।"

पिता बोला—"नालायक ! कमीने ! निकल जा, अभी का अभी।"

इस प्रकार पिता-पुत्र का कलह सुनकर आगन्तुक ने सोचा मैं तो समझता था यह सेठ बडा सुखी है, परन्तु यह तो मुझसे भी दुःखी है। मेरा लडका कम से कम मेरी आज्ञा का तो पालन करता है। उसने सेठ से कहा—"नमस्ते सेठजी ! यह मैं चला। सचमुच आप सुखी नही है, मैंने देख लिया।"

सेठजी से विदा लेकर वह एक बडे जमीदार के यहाँ पहुँचा और उससे अपना कोट देने को कहा। कारण वही पहले वाला बताया। जमीदार ने भी कहा—"तुम मुझे सुखी मानते हो, पर मैं सुखी नही हूँ।"

आगन्तुक बोला—"वाह ! आपके यहाँ इतना बड़ा ठाठबाट है, फिर भी आप कहते हैं कि मैं सुखी नही हूँ, मैं मान नही सकता।"

जमीदार ने भी उसे कुछ दिन रहकर अनुभव करने को कहा। तीसरे ही दिन जमीदार का अपनी पत्नी के साथ झगडा देखा तो आगन्तुक दग रह गया। वह मन ही मन सोचने लगा –'इस जमीदार की अपेक्षा तो मैं अधिक सुखी हूँ। मेरी पत्नी इतनी विनीत, सुशील, कष्टसहिष्णु और सहृदय है कि वह मेरे सामने कभी उफ् तक नही करती। चलो, यहाँ से।' उसने जमीदार से भी विदा ली और चल पड़ा, एक बडे दूकानदार के यहाँ जिसके यहाँ ग्राहको की भीड लगी थी और चाँदी बरस रही थी। जब सभी ग्राहको को उसने निपटा दिया तो उसने दूकानदार से नमस्ते करके अपना कोट दे देने के लिए कहा। दूकानदार ने कहा –"भाई ! तुम मुझे जैसा सुखी समझते हो, वैसा मैं सुखी नही हूँ।"

आगन्तुक ने कहा –"आपको क्या दु ख है ? इतना धन बरस रहा है फिर भी आपको दु ख !"

दूकानदार ने कहा "भाई ! इतना सब होते हुए भी मुझे तो सुख से भोजन करने को भी अवकाश नही मिलता। ग्राहको की इतनी भीड रहती है कि प्राय प्रतिदिन मुझे तीन-चार बजे बडी मुश्किल से पाँच मिनट भोजन के लिए मिलते है। न तो मै समय पर खा-पी सकता हूँ, न सो सकता हूँ, न ही अपने परिवार मे सुख-दु ख की बात कर सकता हूँ। मनोरजन के लिए भी मुझे समय नही मिल पाता। फिर मैं अपने आपको कैसे सुखी मानूं ?"

दूकानदार को भी नमस्ते करके वह छोटे व्यापारी, किसान, गोपालक, मजदूर, ग्रामीण, नागरिक आदि कई प्रकार के लोगो के पास पहुँचा, परन्तु कोई भी सुखी मनुष्य उसे नही मिला। निर्धन की शिकायत थी—धन नही है। किसान की शिकायत थी—पानी न बरसने के कारण खेती मे उपज अच्छी नही होती। मजदूर और नौकरो की शिकायत थी - दिन-रात मालिक का काम करते है, फिर भी झिड़कियाँ और ताने सुनने को मिलते है, पैसा भी कम देता है। हमे क्या सुख है, ऐश तो ये लोग ही करते है।

मतलब यह है कि उस दुखिया को इतनी जगह घूमने पर भी कोई व्यक्ति ऐसा नही मिला, जो स्वय को सुखी कहता हो। आखिर निरुपाय होकर वह 'सोलन' के पास पहुँचा और कहा –"इतना भटका किन्तु मुझे कोई सुखी नही मिला। अत आप सुखी व्यक्ति का कोट लिए बिना ही सुख का कोई मन्त्र देना चाहते हो तो दे दीजिए।"

सोलन ने उसे शांति से समझाया –"जब तक तुम्हारे मन मे शरीर और शरीर से सम्बन्धित स्वजन आदि सजीव और घर, दूकान, मकान, धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने माने हुए सम्प्रदाय, जाति, भाषा, प्रान्त, मत आदि के प्रति अहत्व, ममत्व और मोह रहेगा तब तक सुख और शांति तुम से कोसो दूर रहेगी।"

यह सुनकर दुःखी मनुष्य सुख के इस मूल मन्त्र को पाकर प्रसन्नता से बिदा हुआ।

दुःख के कारणो मे सुख कहाँ ?

बन्धुओ! वास्तव मे दुःख के जो कारण है, उन पदार्थों मे सुख ढूँढने वाला मानव कैसे सुख प्राप्त कर सकेगा ?

जो परभाव या परवस्तु है आत्मा तथा आत्म-गुणो से भिन्न वस्तु है, उसके प्रति मोह, ममत्व अहत्व आदि दुःख के कारणो को दूर किये बिना जो मानव इनमे ही सुख ढूढता है, उसका पुनः-पुनः दुखी होना आश्चर्य की बात नही है।

वर्तमान युग का मनुष्य दुःख तो कतई नही चाहता, परन्तु उसके कारणभूत अज्ञान, भ्रम या मोह को नही छोडना चाहता। परिणाम यह होता है कि वह घूम-फिर कर पुनः दुःख के चक्र मे फँस जाता है।

इसीलिए वज्जियपुत्त अर्हतर्षि कहते है

> दुक्खा परिवित्तसति पाणा, मरणा जम्मभया य सव्वसत्ता।
> तस्सोवसम गवेसमाणा, अप्पे आरभभीरुए ण सत्ते॥

अर्थात्—प्राणी दुःख मे परित्रसित है। मृत्यु और जन्म के भय से समस्त प्राणी प्रकम्पित है। वे दुःख के उपशमन की खोज मे लगे है, परतु (उसके कारणभूत) आरम्भ से जरा भी नही डरते।

दुःख को उपशान्त करने के लिए समस्त आत्माएँ यत्र-यत्र भ्रमण कर रही है। अनन्त युग बीत गये है। आज तक मानव का लक्ष्य अशांति से हटकर शांति की खोज रहा है, किंतु आज तक उसने भूलें ही की है, दुःख के कारणो को समझने मे। उसका पुरुषार्थ पानी का विलोवन मात्र रहा है। इसी कारण वह दुःख के बाहरी कारणो से बचता रहा, किन्तु उसके उपादान से चिपटा रहा। सुख के लिए वह आरम्भ करता है, किंतु वह आरम्भ ही दुःख का मूल है।

भगवान् महावीर से पूछा गया—

> से ण भते! दुक्खे केण कडे ?

'भगवन् ! दुःख किसका किया हुआ है ?'

भगवान् ने कहा—'जीवेण (अत्त) कडे, पमाएण ।'

—स्थानांग० ३/२

जीव ने स्वयं प्रमाद के द्वारा दुःख को उत्पन्न किया है। प्रमादी एवं अज्ञानी मानव अपने आप से किये हुए दुःखो के लिए दूसरों को जिम्मेवार ठहराता है। वह दुःख आ पडने पर या तो किसी व्यक्ति को, या भगवान को, काल को अथवा अमुक परिस्थिति को उस दुःख के लिए दोषी या जिम्मेदार ठहराता है, परन्तु यह नही सोचता कि मैं अगर दुःख के कारणभूत दुष्कर्म न करता तो मुझे यह दुःख क्यो प्राप्त होता।

अतः अगर दुःख से बचना चाहते हो तो उसके कारण को ढूंढो और फिर उसके निवारण के लिए पुरुषार्थ करो।

दुःख का मूल कारण : स्वकृत कर्म

प्रश्न होता है कि जब दुःख के लिये मनुष्य स्वयं जिम्मेवार है, तब दुःख का मूल कारण क्या है ? दुःख का मूल कारण जानने मे पहले संसार के विशिष्ट दुःख कौन से है, जिनमे समस्त संसारी जीव पीडित है ? इसके विषय मे भगवान् का कथन सुनिए—

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ किस्सति जंतवा ।।

—जन्म दुःखरूप है, जरा (वृद्धावस्था) दुःखरूप है, रोग और मृत्यु दुःखरूप है। इस प्रकार सारा ही संसार दुःखमय है, जहाँ सासारिक प्राणी क्लेश पाते है।

वस्तुतः सारा संसार इन और इनके समकक्ष सैकडो दुःखो से त्रस्त है। सबसे बडा दुःख तो प्राणियो को जन्म-मरण का है। प्राणी संसार मे जहाँ भी, जिस किसी योनि या गति मे जन्म लेता है, वहाँ अनेको दुःख लगे हुए है। अतः भगवान् महावीर ने कर्म : शुभाशुभ कर्म को ही दुःख का मूल कारण बताते हुए कहा है—

कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं ।

—जन्म-मरणरूप दुःखो का मूल कर्म है।

इसी तथ्य को अर्हतर्षि वज्जियपुत्त उजागर करते हुए कहते है—

गच्छति कम्मेहिं सेऽणुबद्धे, पुणरवि आयाति से सयकडेण ।
जम्ममरणाइ अट्टो पुणरवि आयाइ से सकम्मसित्ते ।।३।।

—प्राणी अपने किये हुए कर्मों से अनुबद्ध (बधा हुआ) होकर परलोक

में जाता है तथा अपने ही कर्मो के द्वारा इस ससार मे आता है । इस प्रकार वह आर्त (दु ख से पीडित) आत्मा अपने ही कर्मों द्वारा सीची हुई जन्म-मृत्यु की परम्परा मे आता है ।

कुछ दर्शन कहते है कि "ईश्वर ही सृष्टि का कर्त्ता-हर्त्ता है, इसलिये वही जीवो को दु ख या सुख देता है । उसी की प्रेरणा से जीव विविध योनियो या गतियो मे जन्म-मरण करता है, स्वर्ग या नरक मे उसी की प्रेरणा से जीव जाता है ।" परन्तु यह कथन युक्तिसगत एव यथार्थ नही है । अपने सुख-दु ख या उनके कारणभूत शुभाशुभ कर्म के लिए ईश्वर को उत्तरदायी ठहराना कथमपि उचित नही है । अर्हतर्षि वज्जियपुत्त ने इस गाथा द्वारा स्पष्ट ध्वनित कर दिया है कि ईश्वर स्वतन्त्र, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त और ससार से सर्वथा निर्लिप्त एव कृतकृत्य है । उसे इस प्रपंच मे पडने की क्यो आवश्यकता पडी ? इसीलिए भगवद्गीता मे इस कथन का खण्डन किया गया है —

न कर्तृत्व न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्मफल-सयोग, स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

— ईश्वर न तो लोक का कर्त्ता है, न कर्म का सृजन करता है, न ही कर्मफल का सयोग कराता है । यह लोक तो स्वभाव से ही प्रवृत्त होता है ।

वस्तुत आत्मा ही स्वकृत कर्मों के लिए, तथा कर्मफल के फलस्वरूप विविध योनियो मे जन्म-मरण के लिए उत्तरदायी है। अपने शुभाशुभ कर्म ही जन्म और मृत्यु के, रोग, मरण आदि दु खो के लिए उत्तरदायी है। स्वर्ग और नरक का, सुख और दु ख का कर्त्ता और भोक्ता स्वयं ही है । भगवती सूत्र (श ९/३२) मे यही बात भगवान् ने बताई है कि नैरयिक आदि जीव नरक आदि मे स्वयमेव उत्पन्न होते है, उन्हे वहाँ दूसरा कोई उत्पन्न नही करता ।

सूर्य स्वय अपनी किरणो द्वारा बादलो का निर्माण करता है, और स्वय ही किरणो द्वारा उन्हे द्रवित कर स्वय उनसे मुक्त होता है । कर्म का सिद्धात मनुष्य की बहिर्दृष्टि को मोडकर अन्तर् की ओर लाता है । इसीलिए भगवान् ने कहा है —

अप्पा कत्ता विकत्ता या दुहाण य सुहाण य ।

— आत्मा ही अपने सुखो और दु खो का कर्त्ता है, और वही उनका भोक्ता है ।

विपत्ति को एक दिन तूने ही निमन्त्रण दिया था, आज वह आई है तो उससे भागने की और अपनी गलती को दूसरे पर मढने, अर्थात्— निमित्त पर आक्रोश करने की कोई आवश्यकता नही है। तेरे ही पूर्वकृत अशुभ-कर्मों के उदय से विपत्ति आई है, उसके लिए दूसरो को दोष मत दे। एक अंग्रेज विचारक ने ठीक ही कहा है –

'It is our own past, which has made us, what we are'

'आज हम जो कुछ है, हमारे ही अतीत ने हमे (ऐसा) बनाया है।'

कर्मवाद कहता है– मानव! सुख और दु ख, सम्पत्ति और विपत्ति सब तेरे हाथ मे है। शुभाशुभ कर्मों से मुक्त होना भी तेरे हाथ मे है।

कर्मों के बोज और कर्म-सन्तति

आत्मा के जन्म-मरणादि दु ख या बाह्य सुख के मूल हेतु कर्म है, यह जान लेने के बाद प्रश्न उठता है कि आत्मा तो अपने आप मे कर्मरहित है शुद्ध है, ज्ञानमय है, फिर कर्म उसके कैसे लगे? कब लगे? क्यो लगे? या पहले कर्म था या आत्मा? इसका समाधान करने के लिए अर्हतर्षि वज्जियपुत्त कहते हैं–

बीया अकुरणिप्फत्ती, अकुरातो पुणो बीय।
बीए सवुज्झज्जमाणम्मि, अकुरस्सेव सपदा ॥४॥
बीयभूताणि कम्माणि, ससारम्मि अणादिए।
मोहमोहितचित्तस्स, ततो कम्माण सतति ॥५॥
मोहमूलमनिव्वाण, ससारे सव्वदेहिण।
मोहमूलाणि दुक्खाणि, मोहमूल च जम्मण ॥६॥

—(ससार मे यह देखा गया है कि) बीज से अकुर फूटता है, और अकुरो मे से पुन बीज निकलते है। बीजो के सयोग से अकुरो की सम्पदा बढती है।

—इस अनादि ससार में कर्म बीजवत् है। मोह-मोहित चित्त वाले के कर्मों की संतति (परम्परा) उन्हीं बीजो से आगे बढती है।

—संसार के समस्त देहधारियो के अनिर्वाण–अशांति या जन्म-मरण के चक्र का मूल मोह है। समस्त दु खो का मूल भी मोह है, तथा जन्म-मरण का मूल भी मोह ही है।

वज्जियपुत्त अर्हतर्षि ने कर्म को नन्हे बीजो से उपमित किया है। अल्परूप में आये हुए कर्म भी अपने मे अनन्त ससार लिये आते हैं। उत्तरा-

ध्ययन सूत्र मे भगवान् ने कर्म को जन्म-मरणरूप संसार का बीज कहा है। फिर उन्होने राग-द्वेष को कर्म का बीज बताते हुए कहा---

रागो य दोसो बिय कम्मबीय ।

'राग और द्वेष ये दोनो कर्मबीज है।'

आत्मा के राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि विकारमय स्पन्दन भाव-कर्म है और कार्मण-वर्गणा के पुद्गल द्रव्यकर्म है। भावकर्म से प्रेरित होकर आत्मा द्रव्यकर्म को अपनी ओर आकर्षित करता है। वे ही कर्म जब विपाकरूप मे उदय मे आते है, तो कोई न कोई निमित्त बन जाता है। अज्ञानी आत्मा अपने उपादान को न देखकर निमित्त को ही सब कुछ मानकर उसी पर अपना रोष प्रकट करता है। इसीलिए वह उदयगत कर्मों को क्षय करने के साथ-साथ राग-द्वेष के परिणामो से अनन्त-अनन्त कर्म उसी क्षण बाँध लेता है। यही है बीज से अकुर और अकुर से पुन बीज के रूप मे कर्मसतति का रहस्य। आत्मा ने कर्म कब से बाधे ? कर्म पहले था या आत्मा ? इस प्रश्न का प्रत्यक्ष समाधान तो नही है, किन्तु प्रवाहरूप से इसी कार्य-कारण-परम्परा से बँधकर आत्मा और कर्म दोनो विरोधी स्वभाव के होने पर भी अनादिकालीन सहयात्री है।

कर्मों के कारण ही जन्म, जरा, मृत्यु, रोग आदि दु ख उत्पन्न होते है। जहाँ तक मोह है, वहाँ तक ये दु ख आते रहेगे। उत्तराध्ययन सूत्र (३२/८) मे कहा है—

दुक्ख हय जस्स न होइ मोहो

—जिसके मोह (दर्शनमोह-चारित्रमोह – कषाय-नोकषाय) नही होता, उसका दु ख नष्ट हो जाता है।

शुद्ध आत्मा के कर्म कैसे चिपक जाते है ? इसके लिए दृष्टात द्वारा आपको समझा दूँ—

मोहन नामक एक व्यक्ति किसी उद्यान मे गया। वहाँ उसने मह-कते गुलाब के फूल देखे। (यहाँ तक तो ठीक है। आत्मा ज्ञान-चेतनामय है। कोई भी पदार्थ उसके सामने आये और वह देखे, यह पाप नही है। क्योकि आत्मा का स्वभाव ज्ञाता और द्रष्टारूप है।) किंतु देखने के साथ ही मोहन बोल उठा --'कितने सुन्दर एव सुगन्धित फूल है।' (यहाँ इन वाक्यो के साथ ही राग-चेतना आ गई जो कर्मबन्ध का कारण बन गई।) फिर उसका मन मचल उठा उन फूलो को लेने के लिए। (तब यह रागचेतना वासना मे परिणत हो गई।) किंतु सोचा कि 'माली आ जाये तो पैसे देकर ले ले।' (यहाँ तक वासना नीति की सीमा मे है।) किंतु सोचा—

न जाने माली कब आयेगा ? कौन देखता है, ऐसे ही ले लिए जाएँ, क्यो पैसे खर्च किये जाएँ। (यहाँ वासना नीति की सीमा लाघ गई।) हाथ आगे बढे और लोभवश कुछ अधिक फूल लेकर वह चलने को ही था कि तभी माली ने उसे रगे हाथो पकड लिया। चोरी के अपराध मे मोहन को पुलिस के हाथो गिरफ्तार करवा दिया गया। (इस घटना मे राग, वासना, अनीति, लोभ एवं चोरी ये सब मोह के ही प्रकार है।) मोह के कारण ही मोहन को दु ख उठाना पडा। यद्यपि मोहकर्म का फल कभी-कभी देर से भी मिलता है, किंतु इस घटना मे तुरन्त फल मिल गया। अत यह याद रखिए कि जहाँ मोह है, वहाँ दु ख अवश्यम्भावी है।

दु ख के मूल को मत सींचो

अत दु ख को मिटाना चाहते है, तो आपको उसके मूलकारण कर्म और कर्म के मूलकारण राग, द्वेष, मोह आदि को मिटाना होगा। यही बात वज्जियपुत्त महर्षि कहते है —

> मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलघाते हत फल।
> फलत्थी सिचते मूल, फलघाती न सिचति ॥७॥

मूल का सिचन करने पर फल पैदा होगा और मूल को नष्ट करने पर फल स्वत ही नष्ट हो जायेगा। जो फलार्थी है, वह मूल को सीचता है, परन्तु जो फल को नष्ट करना चाहता है, वह मूल को नही सीचता।

राग-द्वेष-मोहरूप वासना की विषलता के दो फल है —सुख और दु ख। जिसे दु खरूप फल को नष्ट करना है, उसे दु ख के मूल को ढूढकर उसे उखाड फेकना होगा। जब मूल ही नही होगा तो अकुर कहाँ से फूटेगा और अकुर नही फूटेगा तो वृक्ष कैसे होगा ? वृक्ष नहीं होगा तो उसके पत्ते, फूल और फल कहाँ से आयेंगे ?

देवलोक का सुख भी दु खरूप ही है

कहा जा सकता है कि देवलोक में देवो को दिव्य सुख प्राप्त है। फिर भगवतीसूत्र मे चौबीस दण्डको का विचार करते हुए देवो को दु खी क्यो कहा गया ?

इसका समाधान यह है कि कर्म स्वय दु खरूप है और देव भी कर्म से विमुक्त नही है, उन्हे भी दु खी कहा है। यह बात दूसरी है कि प्रचुर सातावेदनीय कर्म के उदय से उन्हे कर्मों का दु ख दु ख मालूम नही होता। परंतु शुभ हो या अशुभ दोनो प्रकार के कर्म दु ख के ही कारण है। और जन्म-मरणादि का दु ख कर्मजनित होने से उसे भी दु खरूप कहा गया है। इसी कारण देवो को दु खी कहा गया है।

गले मे सेर-दो सेर लोहा लटका दिया जाये तो दु.ख प्रतीत होगा, किंतु उतने ही वजन का सोने का हार गले मे पहन लिया जाय तो दु ख-रूप नही मालूम होगा। इसका कारण है, सोने के प्रति मोह। भार की दृष्टि से लोहा और सोना समान ही है। इसी प्रकार ससार का दु ख तो दु ख है ही, मसार का सुख भी दु ख ही है। जब देवो को भी दु खी कहा गया है तो ससार मे अपने आपको सुखी कहने का दावा कौन कर सकता है ? इसीलिए एक विचारक कहता है—

सर्वत्र सर्वस्य सदा प्रवृत्तिर्दु खस्य नाशाय सुखस्य हेतो.।
तथाऽपि दु ख न विनाशमेति, सुख न कस्यापि भजेत् स्थिरत्वम् ॥

—छोटे से छोटे कीट से लेकर देवेन्द्र तक सर्वत्र सभी जीवो की प्रवृत्ति सदैव दु ख के निवारण और सुख की प्राप्ति के लिए होती है तथापि न तो दु ख नष्ट होता है, और न किसी भी ससारी जीव को चिरस्थायी सुख प्राप्त होता है।

अन्य प्राणियो की बात जाने दे, मनुष्य जाति का ही विचार करे तो उसके सामने भी शारीरिक, मानसिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सैकडो प्रकार के दु ख मुँह बाए खडे है। एक दु ख का अन्त नही आता, तब तक दूसरा और तीसरा दु ख आ धमकता है। नीतिकार कहते है—

एकस्य दु खस्य न यावदन्त, गच्छाम्यह पारमिवार्णवस्य।
तावद् द्वितीय समुपस्थित मे, छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥

—समुद्र के पार पाने की तरह, मैने एक दु ख का अन्त (पार) नही पाया, तब तक तो दूसरा दु ख आकर उपस्थित हो गया। सच है, जहाँ छिद्र होते है, वहाँ बहुत अनर्थ होते है। छेद वाली चलनी मे से पानी झरता ही रहता है।

जैसे—एक व्यक्ति को बुखार आता था, उसने बुखार के मूल कारण को दूर न करके बुखार मिटाने हेतु ऐसे गलत उपचार किये जिससे बुखार अधिकाधिक बढता ही गया। धीरे-धीरे दूसरे वर्ष उस बुखार ने टी बी का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार ज्वर का दु ख फिर तपेदिक रोग का दु ख, तदनन्तर खासी, दुर्बलता, मस्तिष्क पीडा, स्मृति-मन्दता, आदि एक के बाद एक रोगरूप दु ख बढते ही गए।

क्या आप बता सकते है कि एक के बाद एक आ पडने वाले इन दु खो का कारण क्या है ? ऋषि कहते है कि इन दु खो का कारण यह है कि मनुष्य सासारिक सुखो मे ग्रस्त होकर दु खो के मूल कारण की खोज करना

भूल जाता है, मगर इतना दुःख होते हुए तथा वैषयिक सुख होते हुए भी तथा सुख-प्राप्ति की लगातार कोशिश के बाद भी मानव दु ख क्यो पाते है ? तथा दु खनाश का उपाय क्या है ? प्रश्न का समाधान अर्हतर्षि-वज्जियपुत्त ने किया है—

दुक्खमूले च ससारे, अण्णाणेण समज्जिय ।
मिगारिव्व सरुप्पत्ती, हण कम्माणि मूलतो ॥ ८ ॥
एव से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दते दविए अलताती ।
णो पुणरवि इच्चत्थ हव्वमागच्छति ॥ ६ ॥ त्तिबेमि

– इस दु खमूलक ससार मे (आत्मा) अज्ञान के कारण (ससार सागर में) डूबा हुआ है । अत जैसे सिंह बाण के उत्पत्तिस्थल (फेंकने वाले) पर प्रहार करता है, इसी प्रकार (दु खमुक्त होने वाले) व्यक्ति को दु खोत्पत्ति के कारणभूत कर्मों को समूल नष्ट करना चाहिए ।

– सर्वथा दु खमुक्त आत्मा सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, दान्त, द्रव्य, अलत्रायी (सर्वथा कर्मरहित होने के कारण) इस ससार मे पुन नही आता ।

ससार दु खमूलक है, फिर भी आत्मा इसमे अज्ञानवश पड़ा हुआ है । दुनिया के दु खपूर्ण तत्त्वो मे उसे सुख का आभास होता है । यही तो अज्ञान है, और इसी के फलस्वरूप दु ख मे सुख की अभिनिवेशात्मक बुद्धि ही जन्म-मरणरूप ससार का मूल हेतु है । यो तो आत्मा कर्मों को प्रति-क्षण नष्ट कर रहा है, किन्तु वह उनके मूल को नष्ट नही करता ।

बन्धुओ !

कर्मबन्ध के मूल हेतु राग द्वेष, अज्ञान, मोहादि को समाप्त करके ही व्यक्ति दुख के मूलहेतु कर्म और उसके फल (दु ख) को समाप्त कर सकता है , इसमे कोई सन्देह नही । ऐसी आत्मा जन्म-मरणरूप ससार मे फिर नही आती । □□

५

निर्लेप होने का सरल विज्ञान

सिद्ध और ससारी जीव मे अन्तर

धर्मप्रेमी श्रोताजनो ! आप जानते है कि निश्चयदृष्टि से हमारी आत्मा और सिद्धो की आत्मा मे कोई अन्तर नही है। फिर भी हमारा यह अनुभव है कि जब तक आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त नही हो जाता, तब तक वह बार-बार जन्म-मरण करता है, नाना दु खो और विपत्तियो से ग्रस्त होता है, क्रोध, मान, माया और लोभरूपकषाय की आग मे प्रज्वलित होता रहता है।

क्या आप बता सकते है, इस अन्तर का क्या कारण है ? राजस्थान के एक विचारक ने इस विषय मे सक्षेप मे बताया है—

सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोही सिद्ध होय।
कर्म-मैल का आन्तरा, बूझे विरला कोय॥

स्पष्ट है कि सिद्ध और ससारी जीव मे अगर कोई अन्तर है तो कर्ममल का है। इसी 'कर्ममल' को तृतीय अध्ययन के प्रवक्ता अर्हतर्षि दविल ने लेप' सज्ञा दी है।

द्रव्यलेप और भावलेप का प्रभाव

जब किसी वस्तु पर लेप लगा दिया जाता है तो वह वस्तु भारी हो जाती है, ऊपर उठ नही सकती। ज्ञाताधर्मकथाग सूत्र में द्रव्यलेप का रूपक देकर आत्मा पर लगे हुए भावलेप का सुन्दर चित्रण किया गया है। आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है, फिर भी वह कभी नरक और कभी तिर्यंच गति मे क्यो जाता है ? इसे स्पष्ट रूप से समझाते हुए कहा गया है—एक तुम्बा है, उसका स्वभाव जल मे डूबना नही, किन्तु जल पर तैरना है। किन्तु उसे धागो से बाध कर और मिट्टी के एक-एक

करके क्रमशः आठ लेप लगाकर पानी में डाल दिया जाए तो वह पानी पर तैरने के बजाय पानी मे क्रमशः नीचे-नीचे बैठता जाएगा और अन्त मे, वह पानी मे डूब जाएगा। यही स्थिति ससारी आत्मा की है, जो भावलेपो से लिप्त होकर ऊर्ध्वगमन के बजाय अधोगमन करता है। उसका पतन होने लगता है। भावलेप से आवेष्टित आत्मा तब तक ऊर्ध्वगमन नही कर सकता, जब तक वह लेपो से उपरत न हो जाए। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए तृतीय अध्ययन के प्रारम्भ मे कहा गया है—

> भविदव्व खलु भो ! सव्वलेवोवरतेण। लेवोवलित्ता खलु भो जीवा ! अणेग-जम्म-जोणी-भयावत्त अणादीय अणवदग्ग दीहमद्ध चातुरत ससारसागर बीतीकता सिवमतुलमयलमव्वाबाहमपुणब्भवमपुणरावत्त सासतं ठाणमब्भुवगता चिट्ठन्ति।

अर्थात्—मुमुक्षु आत्मा को समस्त लेपो मे उपरत होना चाहिए। लेपो से उपलिप्त आत्माएँ अनेक जन्म-योनियो से भयावृत, अनादि, अनवदग्र (अनन्त- -छोर-रहित), सुदीर्घकालभावी, चातुरन्त ससार-सागर मे (परिभ्रमण करती है) (किन्तु) लेपो से उपरत आत्माएँ इसी ससार सागर को पार करके शिव, अतुल, अचल, अव्याबाध, पुनर्जन्म और पुनरागमन से रहित होकर शाश्वत स्थान (मोक्ष) प्राप्त कर लेती है।

आत्मा वै परमेश्वर, एक चिन्तन

देवल अर्हत्-ऋषि के मुख से यहाँ जैन दर्शन की आत्मा बोल रही है। दूसरे दर्शन जहाँ यह कहते है कि साधारण आत्मा कभी परमात्मा नही बन सकता, वह साधारण से कुछ विशिष्ट हो सकता है, देव बन सकता है, किन्तु उसका परमात्मा होना असम्भव है। क्या एक नौकर कभी सेठ बन सकता है ? नौकर नौकर ही रहेगा, सेठ सेठ ही।

जैनदर्शन कहता है, कि अगर ऐसा ही है कि आत्मा कभी परमात्मा नही बन सकता, तो फिर इन साधनाओ, महाव्रतों, श्रमणधर्म आदि के व्रत-नियमो अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करने का क्या फायदा है ? अत जैनदर्शन प्रत्येक आत्मा को आश्वासन देता है, खासकर मनुष्य जाति को कि तुम जीव से शिव, कर्मलिप्त से कर्ममुक्त बन सकते हो। भक्तिरस-गगा के भगीरथ आचार्य मानतुग ने भक्तामर स्तोत्र में स्पष्ट कहा है—

> तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा,
> भूत्याश्रित य इह नात्मसम करोति॥

भगवन् ! विविध गुणो से युक्त आपकी स्तुति करने वाले वे भक्त

भी आपके तुल्य (समकक्ष) हो जाते है, इसमे कोई आश्चर्य नही। उस स्वामी से क्या प्रयोजन, जो अपने आश्रित भक्त को अपने समान नही बनाता।

यहाँ देवल अर्हतर्षि ने दो प्रकार के आत्माओ की स्थिति का दिग्दर्शन करा दिया है। उसका निष्कर्ष यही है कि लेप से लिप्त आत्माएँ अनन्त, चातुर्गतिक ससार मे भटकती रहती है, जबकि लेप से रहित हो जाने पर वे ससार सागर को पार करके अव्याबाध शाश्वत मोक्ष स्थान को प्राप्त कर लेती है। भक्ति की भाषा मे कहे तो यो कह सकते है—वह ससारी आत्मा से परमात्मा बन जाता है, भक्त से मुक्त भगवान् बन जाता है, ज्योति (आत्मज्योति) परम ज्योति (परमात्मज्योति) बन जाती है।

लेप से उपरत होने का सन्देश

देवल ऋषि प्रस्तुत पाठ मे लेप से लिप्त जीवो को सम्बोधित करते हुए आश्वासन की भाषा मे कहते है—'अनेक जन्म-मरणो के कारण भयावह बने हुए अनादि-अनन्त इस ससार सागर को तुम भी पार कर सकते हो, बशर्ते कि तुम लेप से रहित हो जाओ।

मनुष्यो ! ऐसी बात नही है कि तुम सदा सदा के लिए ससारी ही बने रहो। तुम भी एक दिन आत्मा से परमात्मा बन सकते हो। अगर तुम अपनी आत्मा पर लगे हुए लेपो को हटाने का पुरुषार्थ करो तो वह दिन दूर नही, जब तुम सर्वथा निर्लिप्त निरजन निराकार सिद्ध-परमात्मा बन सकते हो।

जैन धर्म इतना उदार धर्म है कि वह स्वतीर्थ, परतीर्थ, (स्वसघ-परसघ), स्वलिंग-अन्यलिंग, स्त्री पुरुष-नपु सक, गृहिलिंग, आदि पन्द्रह प्रकार से सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का उद्‌घोष करता है।

कोई भी दूसरी शक्ति या विभूति तुम्हे तार देगी, या संसार-सागर से पार कर देगी, यह सोचना युक्तिसगत नही होगा। मनुष्य अपने ही पुरुषार्थ से तरता है और अपने ही पुरुषार्थ से डूबता है। कर्मबन्धन और कर्ममुक्ति दोनो उसके हाथ मे है। तात्विक दृष्टि से सोचे तो आत्मा जब तक विभाव परिणति मे लिप्त है, तब तक वह परमात्मतत्त्व से दूर है, किन्तु स्वभाव-परिणति मे आ जाने पर वह परमात्मतत्व के निकट है, निकट ही क्या, स्वय परमात्मा है। आत्मा का यह शुद्ध स्वभाव ही परमात्मा है। जब तक आत्मा लेप से युक्त है, तब तक उसका रूप अशुद्ध है, वह ससारी आत्मा है और जब वह लेपरहित हो जाता है, तब विकाररहित निर्लेप,

निरंजन शुद्ध स्वरूप परमात्मा है। निष्कर्ष यह है कि लेपरहित होने पर यह आत्मा ही परम पवित्रता के अन्तिम बिन्दु पर परमात्मा हो जाता है।

जैनधर्म किसी को निराशा और हीन-दीन भावनाओ का शिकार नही बनने देता। वह कहता है कि तू भले ही आज लेपों से युक्त है, किंतु पुरुषार्थ करे तो एक दिन लेपो से रहित भी हो सकता है। निराश, हताश और किंकर्त्तव्यविमूढ बनकर मत बैठ, आशा और उत्साह के साथ आगे बढ़ता चल। उत्तराध्ययन सूत्र में साधको के लिए कहा है—

अदीणमणसो चरे

—वह अदीनभाव को लेकर विचरण करे।

अगर पापी से पापी व्यक्ति परमात्मा न बन सकता तो श्रमण भगवान महावीर अर्जुनमाली जैसे हत्यारे को यही कह देते—"तू कभी ससार सागर से पार नही हो सकता, कभी मुक्त नही हो सकता।" परंतु उन्होने ऐसा नही कहा, बल्कि अर्जुनमाली को मुनिपद प्रदान करके उसे मुक्त और लेपो से रहित बनने की साधना बता दी। अर्जुनमुनि ने सर्वोत्कृष्ट क्षमाशील और अन्त मे समस्त लेपो मे रहित बनकर ससार को यह दिखा दिया कि एक उत्कट पापात्मा भी सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की अप्रमत्त होकर साधना करे तो परमात्मा बन सकता है। स्वय भगवान् ने अर्जुन-मुनि की प्रशसा की है, उसके जीवन को अभिनन्दनीय बताया है। अगर आत्मा परमात्मा न बन सकता तो भगवान महावीर यही कहते—'अर्जुन तुम कभी परमात्मा नही बन सकते।' किंतु भगवान ने अपनी मुक्ति से पहले अर्जुनमुनि की मुक्ति बताई है।

समस्त लेपो से उपरत आत्मा की पहचान

समस्त लेपो से उपरत आत्मा की पहचान और परिभाषा क्या है? इसे जानने के लिए आप उत्सुक होगे। लीजिए अर्हतर्षि देवल का इस विषय मे स्पष्टीकरण—

"लेपोपरत आत्मा समस्त कामो (इच्छाकाम मदनकाम आदि) से रहित होता है, वह सर्वसग एव सर्वस्नेह से विरक्त होता है। साथ ही वह समस्त (अशुभ) पराक्रमो से निवृत होकर क्रोध, मन, माया और लोभ के समस्त प्रकारो स दूर रहता है। वह समस्त वासो (निवासस्थानो या वस्त्रो) के परिग्रह से विरत रहता है। वह सभी सावद्य प्रवृत्तियो का संवर (निरोध) करता है। सम्यक् प्रकार से सभी वासनाओ या कामनाओ से वह सर्वोपरत होता है। वह सभी स्थानो (लेप के सभी कारणा) को उपशान्त कर देता है। वह सभी प्रकार से परिवृत व्याप्त होकर (सभी

के बीच में) रहता है। वह कही पर भी आसक्त नही होता अर्थात् वह सजीव-निर्जीव सभी के सग (आसक्ति) को त्यागकर निस्संग निर्लेप होता है।"

यह है अर्हतर्षि देवल के शब्दो मे लेप-रहित (निर्लेप) व्यक्ति का लक्षण।

महर्षि समस्त साधको को चेतावनी के स्वर मे कहते हैं कि साधको! यह मानव जीवन अत्यन्त अल्प और विनश्वर है, और साधनाकाल तो बहुत ही अल्प है। इसलिए आपको समस्त लेपो (सगो) से रहित होने का सतत पुरुषार्थ करना चाहिये। लीजिए मैं स्वय सकल्प करता हू—

"अत मै समस्त लेपो से उपरत होऊँगा।"

कौन व्यक्ति निर्लेप हो सकता है? इस सम्बन्ध मे देवल ऋषि कहते हैं—

जस्स एते परिण्णाता, जाति-मरण-बन्धणा।
सच्छिन्न-जाति-मरणा, सिद्धि गच्छति णीरया ॥११॥

— जिसे जन्म और मरण के बन्धन परिज्ञात हो चुके हैं, वही परिज्ञात आत्मा (ज्ञपरिज्ञा से जानकर, प्रत्याख्यान-परिज्ञा से) जन्म-मरण के बन्धनो को तोडकर कर्म-रज से रहित (निर्लेप) हो सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

वस्तुत बन्धनो का यथार्थ परिज्ञान अर्थात् अनुभवयुक्त ज्ञान होना ही जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। अन्यथा अपरिपक्व साधक मौत से भागता है, जन्म से प्यार करता है और स्वर्गादि— वैषयिक सुखो के धाम मे जन्म पाने हेतु साधना करता है। किन्तु नि सग-निर्लेप-स्थितप्रज्ञ आत्मा को न जन्म के प्रति मोह है, न ही मरण से भय है। किन्तु बन्धनो का परिज्ञान करके तोडने की दिशा मे आगे बढता है।

लेप क्या है? कैसा है?

अब प्रश्न यह है कि लेप क्या है? एक बात प्रारम्भ मे सूचित कर दी है कि यहाँ आत्मा पर लगने वाला लेप कोई गारे, मिट्टी या गोबर जैसा द्रव्यलेप नही है, किन्तु वह भावलेप है। इसीलिए देवलऋषि कहते है—

पाणातिवातो लेवो, लेवो अलियवयण अदत्त च।
मेहुणगमण लेवो, लेवो परिग्गह च ॥४॥
कोहो बहुविहो लेवो, माणो य बहुविधविधीओ।
माया य बहुविधा लेवो, लोभो वा बहुविधविधीओ ॥५॥

अर्थात—प्राणातिपात (हिंसा) लेप है, असत्यवचन लेप है, अदत्तादान और मैथुन-सेवन लेप है, परिग्रह भी लेप है। क्रोध के अनेक रूप हैं, वे सब लेप है। माया और मान भी अनेक प्रकार के हैं, वे भी लेप है। लोभ भी अनेक प्रकार के हैं, वे भी लेपरूप है।

इसी प्रकार प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक जो पापकर्म हैं, वे सब आत्मा के लिए लेप हैं।

भावलेप का अर्थ यहाँ दार्शनिक भाषा मे आत्मा की विभाव परिणति है और उसके द्वारा आकर्षित कर्म द्रव्यलेप है। लेप एक प्रकार से आत्मा पर आवरण है, कषायादि विकार है, अथवा पापकर्म है।

कई लोग कहते है पापकर्म या विकार के लेप से सर्वथा रहित होना असम्भव है, परन्तु जैनदर्शन कहता है यह कोई असम्भव बात नहीं है। जैसे एक घी या तेल का बर्तन है, जिसमे से घी या तेल निकाल लेने पर भी थोडा-सा घी या तेल का लेप रहता है, उसी प्रकार कर्मों को क्षय करने पर भी थोडा-थोडा कर्मो का लेप रह जाता है। परन्तु जैसे घी या तेल के बर्तन को तपाकर उसको कपडे से रगडकर जो थोडी-सी चिकनाई का लेप रह गया है, उसे भी दूर कर दिया जाता है, उसी प्रकार कर्मों का या कषायो सूक्ष्म लेप रह जाने पर भी बाह्य-आभ्यन्तर तपस्या, धर्मध्यान-शुक्लध्यान, अनुप्रेक्षा, व्रत, नियम, महाव्रत, समिति-गुप्ति के पालन तथा सम्भावपूर्वक परीषह-सहन से शेष रहे सूक्ष्म कर्मों को भी काटा जा सकता है। जिस प्रकार प्रकाशमान होते हुए भी सूर्य पर बादल आ जाने से उसका प्रकाश ढक जाता है, उसी प्रकार आत्मारूपी सूर्य पर पापकर्म के लेपरूपी बादलो के आ जाने से उसका ज्ञानादि प्रकाश आवृत हो जाता है। बादलो के हटते ही सूर्य प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार पापकर्म लेप रूपी बादलो के हटते ही आत्म-सूर्य अनन्त ज्ञानादि से प्रकाशित हो उठता है। अत लेप एक प्रकार का भाव-आवरण है।

लेप कब और कैसे लग जाते हैं ?

यह ठीक है कि अठारह प्रकार के पापस्थान लेप हैं और आत्मा इन लेपो से मुक्त होने का पुरुषार्थ करे तो लेप से उपरत भी हो सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि आत्मा मूल मे तो लेपरहित, निरजन, निराकार है, फिर ये लेप उसके कब लग जाते हैं ? मैं एक रूपक द्वारा इसे समझाता हूँ--

एक जगह भाँग घोटकर लोटे मे रखी हुई है। कहते है—भाँग नशा चढ़ाती है। परन्तु क्या वह भाँग घोटी जाने वाली शिला को, लोटे को या

घोटने वाले व्यक्ति के हाथो आदि को नशा चढा देती है ? ऐसा तो कदापि नही होता। किन्तु जब उस भाँग को व्यक्ति पी लेता है, गले से नीचे उतार लेता है, तब वह नशा चढाती है। इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोधादि कषाय, वासना तथा हिंसा, झूठ आदि अठारह पापस्थान अपने आप मे व्यक्ति के जीवन मे कोई विकार या नशा नही लाते, न ही ये स्वय किसी के लिपटते या चिपटते है, किंतु जब कोई व्यक्ति राग, द्वेष, काम, क्रोध को या पापकर्मों को अपनाता है, उन्हे शुद्ध आत्मा के साथ लिपटा लेता है, अपना आत्मभाव भूलकर इन विभावो को अपना आत्म-भाव मानकर अपना लेता है, तब वह आत्मा रागद्वेषादि विकारो, कषायो या अठारह पापस्थानों से लिप्त हो जाता है। ये पापकर्म उस आत्मा के लिपट जाते है। यही आत्मा पर लेप लगने का रहस्य है।

कोई व्यक्ति शरीर पर तेल चुपड ले और फिर जहाँ हवा से धूल उड रही हो, वहाँ नगे बदन खडा रहे तो क्या उसके वह धूल नही चिपटेगी ? अवश्य ही थोडी ही देर मे धूल उसके बदन पर चिपट आएगी। इसी प्रकार जो आत्मा राग, द्वेष, मोह आदि की स्निग्धता से युक्त है, उसके हिसा, असत्य, चोरी आदि पापकर्मों की धूल चिपट जाती है। यही आत्मा पर लेप लग जाने का रहस्य ह। अर्हतर्षि देवल ने पापकम से आत्मा कैसे लिप्त हो जाता है ? इसका रहस्य बताते हुए कहा है—

सुहुमे वा बायरे वा पाणे जो तु विहिंसइ।
रागदोसाभिभूतप्पा लिप्पते पावकम्मुणा ॥१॥
परिग्गह गिण्हते जो उ अप्प वा जति वा बहु।
गेही मुच्छायदोसेण लिप्पते पावकम्मुणा ॥२॥
कोहो जो उ उदीरेइ अप्पणो वा परस्स वा।
त निमित्ताणुबधेण लिप्पते पावकम्मुणा ॥३॥
एव जाव मिच्छादसण सल्लेण ··· ।

—राग, द्वेष से अभिभूत आत्मा जब सूक्ष्म या स्थूल किसी प्रकार की हिसा करता है, तब वह पापकर्म से लिप्त होता है।

—जो साधक थोडा या बहुत परिग्रह का ग्रहण करता है, वह गृहस्थो के साथ ससर्ग मे आसक्ति दोष के कारण पापकर्म से लिप्त होता है।

जो व्यक्ति अपने या दूसरे के (शात) क्रोध को पुन उभारता है, उस निमित्त के अनुबन्ध से आत्मा पापकर्म से लिप्त होता है।

इसी प्रकार प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पाप-स्थानो के निमित्त से आत्मा पापकर्म के लेप से लिप्त होता है।

जिन कर्मों से आत्मा अशुभबन्ध करती है, वे पाप-प्रवृत्तियाँ पापकर्म कहलाती है। वे कुल अठारह है। तीन का यहाँ उल्लेख किया गया है। शेष पापस्थानों के नाम इस प्रकार है-असत्य, अस्तेय, मैथुन, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, माया-मृषा और मिथ्यादर्शन।

इन पापकर्मों के बीजरूप दो पापस्थान है—राग और द्वेष। आत्मा इन पाप कर्मों से कैसे लिप्त होता है, इसकी प्रक्रिया बताते हुए ऋषि देवल कहते है -आत्मा मे जब भी राग-द्वेष के परिणाम आयेंगे, तभी द्रव्यकर्म आकर्षित होते हैं और हिसा आदि पापस्थानो के निमित्त भी रागद्वेष ही है। हिंसा, परिग्रह आदि की वृत्ति भी आत्मा को पापकर्म से लिप्त करने वाली है। साधक की जब पदार्थों के प्रति आसक्ति होती है, तब वही गृहस्थो के साथ संसर्ग और सग के लिए उसे प्रेरित करती है। जैसे कि देवल ऋषि कहते है—

जहा खीर पधाण तु मुच्छणा जायते दधि।
एव गेहिप्पदोसेण पावकम्म पवड्ढति ॥८॥

-जैसे श्रेष्ठ दूध भी दही के ससर्ग से दूध के पर्याय को छोडकर दही बन जाता है, ऐसे ही गृहस्थो के ससर्ग-दोष से मुनि भी पापकर्म मे लिप्त हो जाते है। गृहस्थो के प्रति ममत्व से ही साधक धनसग्रह करता है और एक के बाद एक पापकर्मों से लिप्त होता जाता है।

कषायो मे प्रकट और उत्कट क्रोध कषाय है। कई बार उच्च साधक भी क्रोधादि कषायो को भडकाते है। साम्प्रदायिक वैमनस्य, कलह, एक-दूसरे को या दूसरे के सम्प्रदाय को नीचा दिखाने, बदनाम करने, झूठी निंदा करने, वैरभाव को उभारने, आदि चेष्टाएँ भी उच्च कोटि के साधको द्वारा होती है। इस प्रकार आत्मा भयंकर पापकर्मों से लिप्त होती है।

इसके अतिरिक्त लिप्त और अलिप्त का लक्षण तथा फल बताते हुए उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ ससारे, अभोगी विप्पमुच्चइ ॥

- जो मनुष्य भोगी है—पचेन्द्रिय विषय-भोगो में आसक्त है, वही कर्मफल से लिप्त होता है, अभोगी लिप्त नही होता। भोगी ससार में परिभ्रमण करता है, जबकि अभोगी - भोगो मे अनासक्त ससार-बन्धन मे मुक्त हो जाता है।

बडे आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य जानता है कि धन, परिवार, सत्ता आदि सब नाशवान हैं, फिर भी वह इनके पीछे अपनी शान्ति खोता रहता है, दुनिया भर के दुख-दर्द मोल लेता रहता है।

एक राजा कहीं युद्ध के लिए जा रहा था। रास्ते में एक महात्मा मिल गये। राजा ने महात्मा को नमस्कार किया, महात्मा ने भी पलट कर राजा को नमस्कार किया। राजा को बडा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा - आपने मुझे नमस्कार क्यो किया ?

महात्मा जी ने कहा—आपने मुझे क्यो नमस्कार किया ?

राजा - क्योंकि आप ससार की मोह-माया त्यागकर ईश्वर भजन मे लगे है। आप त्यागी है।

महात्मा—तुम मुझसे भी बडे त्यागी हो।

राजा—वह कैसे ?

महात्मा- तुम यह जानते हो कि ससार की मोह-माया झूठी है, फिर भी इसके पीछे पडकर ईश्वर को छोड दिया है, तो बडा त्याग किसका हुआ ?

हाँ, तो भोगो को दु खकारी जानकर भी जो इनमे फँसे रहते है, उनको क्या कहा जाय ? ऋषि कहते हैं -

छाछ मे गिर कर दूध नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार (विषयो के साथ) राग और द्वेष के मिलने से साधक के ब्रह्मचर्य का तेज समाप्त हो जाता है।

इन लेपो से आत्मा को बचाओ

वस्तुत पापकर्म मे लिपटाने वाले इन पापस्थानो से तथा विषय-भोगो की आसक्ति मे साधक को सदैव दूर रहना चाहिए। इनसे सतत सावधान रहना चाहिए। ज्यो ही इनमे से कोई चोर आत्मा में प्रवेश करने लगे, साधक को तुरन्त सावधान हो जाना चाहिए। जैसे जरा-सी असावधानी से बिजली का करट लग जाता है और उसमे तत्काल मृत्यु हो जाने की सम्भावना रहती है, इसी प्रकार साधक की जरा-सी असावधानी से इनमे से किसी भी पापकर्म का करेंट लग जाता है, और वही साधक की भावमृत्यु है।

अत आत्मा को परमात्मा—शुद्ध आत्मा का रूप देने के लिए इन लेपो से सतत बचाना अनिवार्य है। □

६

प्रगति का मूलमंत्र : समभाव

साधनामय जीवन के कसकते कांटे

धर्मप्रेमी श्रोताजनो ! हमारे जीवन के मुख्यतया दो रूप हैं—एक ओर शरीर है और दूसरी ओर हमारी आत्मा है।

शरीर जीवन का स्थूल, नाशवान और दृश्यमान रूप है, किन्तु आत्मा उसका सूक्ष्म, अविनाशी और अदृश्य अमूर्त्तरूप है। शरीर से मनुष्य कितना ही बलिष्ठ हो, सुन्दर हो, सुडौल हो और सर्वांगसम्पन्न हो, लेकिन उसकी आत्मा निर्बल, अपवित्र, पतित हो, वह आत्मबल, आत्मविकास और आत्मगुण से दूर हो तो उसका साधनामय जीवन बिलकुल निम्न कोटि का होगा। साधनामय जीवन को परिपुष्ट, सुदृढ़ और सशक्त बनाने के लिए आत्मा को बलिष्ठ, शक्तिसम्पन्न और आत्मगुणो से सुसज्जित बनाना जरूरी है। अगर आत्मा को बलवान बनाना हो तो शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति जो अहता और ममता है जो कुटिलता और माया है और जो निन्दा-प्रशसा मे असमता है, उसे दूर करना होगा। अगर साधनामय जीवन मे ये सब है, तो समझ लीजिए ये साधना-शरीर मे चुभे हुए कसकते तीखे काटे है।

भारद्वाज-गोत्रीय अगिरस अर्हतर्षि ने चतुर्थ अध्ययन मे साधना-शरीर मे चुभने वाले इन कसकते तीखे काटो की ओर सकेत किया है। इनके नाम अगिरस ऋषि के सकेतानुसार हम यो रख सकते है—(१) अहता-ममता, (२) कुटिलता और माया, तथा (३) निन्दा-प्रशसा मे असमता।

मनुष्य गृहस्थ हो या साधु जब अपना साधना जीवन प्रारम्भ करता है, तब उसे अपने जीवन मे चुभे हुए इन तीनो तीक्ष्ण भाव-कंटको

को निकाल देना होगा, अन्यथा उसकी साधना आगे चलकर विकृत, दूषित और भारभूत हो जाएगी, उसकी तेजस्विता समाप्त हो जाएगी। साधना की आत्मा निकल जाएगी, केवल क्रियाकाण्डो के खोखे रह जाएँग।

जिन साधको के जीवन मे तेजस्विता और दीप्ति खत्म हो जाती है, उनके जीवन मे केवल शुष्क क्रियाकाण्ड रह जाते है। कहा जाता है बगाल मे बाउलसत हो गए है। उन्होने अपने पीछे आने वाले साधको के हाथो मे प्रकाशमान मशाल थमा दी और वे चले गए। परन्तु जब वह मशाल बुझने लगी तो साधको ने उसे प्रज्वलित नही की, फलत वह बुझ गई। वही बुझी हुई मशाल वे अपने अनुगामी साधको के हाथो मे थमा गए। अत उन्होने उस बुझी हुई मशाल को तो फैक दी, किन्तु मशाल मे लगा हुआ वह डडा हाथ मे पकड लिया। आज बाउलसन्त के अनुगामियो के हाथ में शुष्क क्रियाकाण्ड के प्रतीक वे डडे ही रह गए है। साधना की तेजस्वी और प्रकाशमयी जो मशाल थी, वह नही रही।

इस रूपक का रहस्य यह है कि साधना की मशाल को तेजस्वी एव प्रकाशित रखने के लिए अहता और ममता, माया और कुटिलता, निन्दा और प्रशंसा मे असमता, आदि तीन जोडे वस्तुत साधक के विकास के लिए भयकर रोडे है, जब तक इन तीनो के प्रभाव को निर्मूल नही किया जाएगा, तब तक साधक आगे नही बढ पाएगी। न ही उस साधक की साधना मे कोई दिलचस्पी रहेगी। वह केवल चारित्ररूपी चन्दन का भार ढोने वाला गधा रह जाएगा।

सर्वप्रथम कण्टकयुगल अहता-ममता

इन तीनो कण्टक-युगलो मे सर्वप्रथम काटो का जोडा है अहता-ममता। अहता का परिवार भी बहुत बडा है और ममता का भी। ये दोनो युगल परिग्रहरूपी विषवृक्ष की जहरीली बेले है। जब तक इन दोनो को उखाडा नही जाएगा तब तक ये साधना की जडो को खोखली बनाते रहेगे। अगिरस ऋषि कहते है—

> आयाण-रक्खी पुरिसे, पर किंचि ण जाणती।
> असाहुकम्मकारी खलु अय पुरिसे॥

आदान-रक्षी (आदान—ग्रहणरूप परिग्रह का रक्षक) मानव दूसरी कोई बात जानता ही नही। ऐसा पुरुष वस्तुत असाधुकर्म (साधना से विपरीत अशुभकर्म) करने वाला है।

अगिरस ऋषि ने यहाँ केवल 'परिग्रह' की ओर सकेत किया है।

उनके कहने का भावार्थ यह है कि जो ममतापूर्वक केवल ले-लेकर रखना ही जानता है, उसे किसी भी व्यक्ति के सुख दु.ख की परवाह नही रहती।

परिग्रह का प्रथम रूप इच्छा है। फिर इसके आकाक्षा, अहता-ममता, मूर्च्छा, लालसा, तृष्णा आदि विविध रूप प्रकट होते है। पहले मनुष्य इच्छाओ का जाल बिछाता है, फिर आकाक्षापूर्वक अभीष्ट वस्तु का सग्रह करता है, फिर सग्रह की हुई वस्तु पर अहता-ममता करता है। आप सब जानते हैं कि इच्छाओ के भार मे दबा हुआ व्यक्ति उपार्जन, संग्रहण और रक्षण के अतिरिक्त दूसरी बात जानता ही नही। वह अहर्निश आशाओ व इच्छाओ के पख लगाकर पुन -पुन पापकर्मों के लिए प्रेरित होता है। क्या आप जानते है, ऐसे व्यक्ति की क्या दशा होती है? ऐसा व्यक्ति अहता और ममता के ग्रहण, रक्षण और सग्रह के वशीभूत होकर कर्तव्य-अकर्तव्य को, हिताहित को एव कल्याण-अकल्याण को भूल जाता है और परिग्रह के लिए नाना प्रकार के पापकर्म करता है।

बगदाद के खलीफा के यहाँ हसन नामक एक लोभी प्रकृति का व्यक्ति नौकर था। सरकारी नौकरी से प्रचुर धन कमाने के बावजूद भी उसकी धनलिप्सा शान्त नही हुई। वह धन जोड-जोड कर रखता जाता, मामूली खा-पीकर गुजारा चलाता। धन के लालची हसन ने एक दिन अपनी बीबी फातिमा से कहा—"तुम बाजार मे जाओ और करुण स्वर मे पुकार कर कहो—'मेरे पति को खलीफा ने कैद कर लिया है।' ऐसा करने से लोग तुम्हारे प्रति हमदर्दी बताएँगे, तुम्हे रोटी-कपडे की मदद कर देगे। मैं रात को घर आ जाया करूँगा।"

फातिमा ने इस तरीके से धन बटोरना शुरू कर दिया। धन बढने के साथ-साथ हसन मे कजूसी भी बढ़ती गई। वह अपनी संग्रहवृत्ति की हविश को पूरी करने के लिए खलीफा के महल से प्रतिदिन एक हीरा चुरा कर लाने लगा। एक दिन हसन मे उसकी बीबी ने पूछा "इतने हीरो का क्या करोगे?" हसन बोला—"हम इन हीरो को सोने के सिक्को मे बदलवा कर बगदाद से बहुत दूर भाग जाएँगे। फिर चैन मे जिंदगी काटेगे।"

मगर एक दिन हसन चोरी करते हुए रगे हाथो पकडा गया। उसे गिरफ्तार करके खलीफा के सामने पेश किया गया। खलीफा ने अदालत का फैसला सुनाते हुए कहा—"बाजार मे तुम्हारी बीवी राजमहल से चुराया हुआ हीरा बेचती हुई पकड़ी गई। तुम चोरी करते पकडे गए। इससे साफ जाहिर है कि तुम चोर हो। तुम्हारे पास धन की कमी नही

है। परन्तु तुमने धन का दुरुपयोग किया। व्यापारियों, सम्बन्धियो और मुझे ठगने के अपराध की सजा यह है कि तुम्हे सिर से पैर तक पीटा जाए और राजमहल मे चोरी करने के अपराध में तुम दोनो को शूली पर चढा दिया जाए।"

सजा सुनकर हसन और फातिमा दोनो घिघियाने लगे। इससे खलीफा को उन पर रहम आ गया। उन्होने हुक्म दिया कि 'बेईमानी और धोखेबाजी से कमाये हुए धन को इन दोनो के गले मे बाँध कर इन्हे अपने घर पहुँचाया जाए।'

इसके बाद खलीफा ने सारे शहर मे घोषणा करवा दी कि 'कोई भी व्यक्ति इन दोनो को धन के बदले खाने-पीने और पहनने का सामान न दे। जो व्यक्ति इस हुक्म का पालन नही करेगा, उसे फाँसी की सजा दी जाएगी।'

घर आने पर हसन और उसकी बीबी बहुत ही खुश थे कि धन भी मिला और जान भी बची। पर दो-चार दिनो मे उन्होने सोने के कुछ सिक्के देकर खाने-पीने का सामान खरीदना चाहा, परन्तु सभी दुकानदारो ने उन्हे सौदा देने से साफ इन्कार कर दिया। जब उन्हे कुछ भी सामान नही मिला तो हैरान होकर वे पुन खलीफा की अदालत मे हाजिए हुए। उन्होने सारी सम्पत्ति खलीफा के चरणो मे रख कर उनसे विनम्र प्रार्थना की "हजूर! हमारी यह सम्पत्ति लेकर जरूरतमन्दो में बाँट दीजिए ताकि रैयत को यह ज्ञात हो जाए कि दौलत को दबाकर रखने से नही, किन्तु सदुपयोग करने से सुख मिलता है।"

धन पर अहता-ममता की छाप जब लग जाती है तो व्यक्ति सबके सामने प्रशसा करता है "मैने ही इतना धन कमाया है। यह मेरा धन है।" इस प्रकार सग्रह करके मनुष्य स्वय दु खी होता रहता है, परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति द्रोह करता है, उसकी अपकीर्ति होती है, राजदण्ड भी मिलता है। राजस्थान मे एक कहावत है—

खा गया सो खो गया।
दे गया सो ले गया।
जोड गया सिर फोड गया॥

वास्तव मे, धन का अनाप-शनाप सग्रह ही सबमे अधिक सिरदर्द है। वह यहाँ भी कष्ट देता है, परलोक मे भी त्रास देता है और वर्तमान मे भी फजीहत होती है। ऐसे धन को जोड-जोड कर रखने और रात-दिन उसके रक्षणादि मे ही लगे रहने वाले मम्मण सेठ की क्या दशा हुई थी? वह

चैन से खा-पी भी नही सकता था। परिग्रह मे आकण्ठ डूबा हुआ मम्मण सेठ कुछ भी तो साधना नही कर सका, क्योकि उसका लक्ष्य भौतिक था, आध्यात्मिक कतई नही।

दूसरा कण्टक युगल कुटिलता और माया

साधना के मार्ग में दूसरा कण्टक-युगल है कुटिलता और माया। माया और कुटिलता का सम्बन्ध हृदय से है। ऐसा मनुष्य शरीर से सुन्दर, सुडौल, सुरूप और समतौल दिखाई देता है, परन्तु उसके हृदय मे कुटिलता, वक्रता, माया, छल-कपट या टेढापन या दम्भ होता है। जिस हृदय मे कुटिलता होती है, उसकी प्रतिच्छाया वचन पर भी पडती है, और व्यवहार पर भी। अर्थात् उसके वचन मे भी वक्रता होगी, और व्यवहार में भी दम्भ या छल-छद्म होगा।

अर्हतर्षि अगिरस ने ऐसे व्यक्ति के कुटिल व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए कहा है –

अण्णहा स मणे होइ, अन्न कुणति कम्मुणा।
अण्णमण्णाणि भासते, मणुस्स गहणे हु से॥

जिनके मन मे कोई दूसरी बात है, कार्य वे कुछ और ही करते है और वचन से इन दोनो से भिन्न ही बोलते है, ऐसे मनुष्य अत्यन्त गहन (दुर्विज्ञात) होते हैं। ऐसे लोगो के लिए कहा गया है—

तन उजला मन सॉवला, बगुला कपटी भेख।
यासू तो कागा भला, बाहर अदर एक॥

नीतिकार दुरात्माओ और सच्चे महात्माओ को पहचानने की एक कसौटी बताते हुए कहते है—

मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कार्ये अन्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येक वचस्येक, कार्ये एक महात्मनाम्॥

—दुरात्माओ के मन मे कुछ और होता है, वचन मे कुछ और है, तथा कार्य मे कुछ तीसरी ही बात होती है, जबकि महात्माओ के मन में भी वही है, वचन मे भी वही होती है और कार्य मे भी वही एक बात होती है।

महात्मा और दुरात्मा की पहचान बाहर की वेशभूषा, चेहरे या शरीर के डीलडौल से नही होती। उसकी परीक्षा या पहचान सर्वप्रथम हृदय से, फिर वाणी और कार्य से होती है। अर्हतर्षि अगिरस ने परीक्षा का माध्यम उस व्यक्ति के साथ 'सवास' को बताया है –

णासवसता सक्क, सील जाणित्तु माणवा ।
परम खलु पडिच्छन्ना, मायाए दुट्ठमाणसा ॥

—(अच्छे-बुरे) मनुष्यो के (शील) स्वभाव को उनके साथ रहे बिना जाना नही जा सकता, क्योकि दुष्ट-प्रवृत्ति के मानव माया से ढके रहते है।

इसीलिए अगिरस ऋषि ने आगे कहा कि दीवारो पर अकित सूत्र और काष्ठ पर आलेखित चित्र जितने सुविज्ञात हे, उतना ही गहन और दुर्विज्ञात मानव का हृदय है।

ऐसे वक्र हृदय वाला व्यक्ति बडी सफाई के साथ अपने दोषो को छिपाये रखता है। वह नि शक रहता है कि इस घटना को केवल मैं ही जानता हूँ, दूसरा कोई नही। एसा मायावी साधक 'पचतत्र' मे अकित उस गधे के समान है, जिसे बाघ का चमडा ओढा दिया था। वह कहानी इस प्रकार है –

एक गधे के मालिक ने सोचा-- इस गधे को रोज-रोज काफी खिलाना पडता है। गाँव के बाहर किसानो के खेत अनाज मे लहलहा रहे हे, वहाँ किसी भी खेत मे बाघ का चमडा ओढाकर छोड दिया जाए तो छक कर चर लेगा और वापस चला आएगा। इससे किसान भी इससे डर कर निकट नही जाएँगे, न ही इसे खदेड सकेंगे।' उसी दिन रात्रि मे गधे को बाघ का चमडा ओढाकर एक खेत मे छोड दिया। गधा खूब मस्ती से चरने लगा। सुबह होते ही किसान आए तो वे खेत मे घुसे हुए व्याघ्र जैसे जानवर को देखकर घबरा गए। एक चतुर किसान ने गौर से देखा तो शक हुआ कि हो न हो यह कोई दूसरा जानवर हो, क्योकि बाघ होता तो वह हरी पत्ती खाता ही नही। चलो, लाठी लेकर चलें। सब किसान मिलकर खेत मे घुसे और उस गधे को खदेडने लगे। एक ने उसकी पीठ पर लट्ठ जमाया तो ढेचू-ढेचू करता हुआ वह भागा। सबने समझ लिया यह बाघ का चमडा ओढा हुआ गधा है।

एसे ही कई कपटी साधक होते है, जिनका बाहरी रूप कुछ दूसरा होता है, भीतरी रूप कुछ और। अर्थात् बाहरी सिक्का तो पूर्ण आत्म सयमी साधक का रहता है और भीतरी सिक्का खराब होता है।

ऋषि कहते है—

अबुवा परिसामज्झे, अबुवा विरहेकड ।
ततो निरिक्ख अप्पाण, पावकम्मा णिरुम्भति ॥८॥

जिसका मन त्याग की ओर आकर्षित नही है, ऐसा साधक सभा मे बैठता है, तब उसका रूप दूसरा होता है, और एकान्त मे होता है, तब कुछ और ही रूप होता है। इसके विपरीत सच्चा साधक अपना आत्म-निरीक्षण करके अपने आपको पापकर्म मे रोकता है।

यह मायावी साधक के जीवन का बहुरूपियापन है कि जनता के सामने दूसरा रूप रखना और उसके दूर होते ही दूसरा रूप अपनाना। यह मायाचार जीवन को ले डूबता है। वह साधक अपने और समाज के प्रति ईमानदार नही है, जो जनता के देखते तो अपनी चर्या संयमी जैसी बना लेता है किन्तु उसके दृष्टि से हटते ही अपना रूप और तर्ज बदल लेता है। दुनिया की आँखें देखे या न देखें, साधक की अपनी आँखें तो उसे देख रही हैं। भगवान् महावीर ने साधक के लिए कहा है --

"से गामे वा नगरे वा, दिआ वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा ।"

वह भिक्षु या भिक्षुणी छोटे-से गाँव मे हो, या बडे शहर में हो, वन के सूने एकान्त मे अकेला हो, या हजारो के बीच परिषद् मे बैठा हो, सोता हो, या जागता हो उसकी साधना की धारा सदैव एक रूप मे बहनी चाहिए।

माया के कटुफल

माया के कुटिल पजो मे पडकर मानव अपने वास्तविक जीवन का गला घोटने लगता है, अदर और बाहर का मायामय भेद उसके मन के टुकडे टुकडे कर देता है। धर्मस्थान मे मायावी व्यक्ति का रूप धार्मिक दिखाई देगा, परन्तु उस व्यक्ति को दुकान मे या घर मे अथवा अन्य किसी स्थान मे देखेगे तो शायद वह आपको माया और दम्भ की घिनौनी प्रवृत्तियो से घिरा हुआ प्रतीत होगा। आप पूछेगे, ऐसा क्यो होता है? वास्तव मे माया का अर्थ ही है—सत्य को छिपाना। जहाँ माया होती है, वहाँ दम्भ, आडम्बर, थोथा प्रदर्शन, आवरित असत्य होता है। मायावी मानव जिस रूप मे है, उससे दूसरे रूप मे स्वय को दिखाता एव समझाता है। जहाँ सत्य को छिपाने का ही दुर्लक्ष्य हो, वहाँ मनुष्य को आत्मोन्नति की राह कैसे मिल सकती है, वह जन्म-मरण के बधनो को, शुभाशुभ कर्म की जजीर को कैसे काट सकता है? क्योकि माया के फलस्वरूप उसे अनन्त बार गर्भ मे आना पडता है। माया करने वालो के लिए शास्त्र में बहुत ही कटुफल बताया है। एक कवि ने कहा है—

जो माया करे उसे रोना पडेगा।
रोना पडेगा, दु ख ढोना पडेगा, नारी होना पडेगा।
पापो का प्रेमी माया करेगा,
प्रपचो से वह तो जरा न डरेगा।
कहेगा सही, किन्तु करेगा नही,
उसको पाखण्ड ढोना पडेगा। रोना पडेगा॥

पारिवारिक एव सामाजिक जीवन मे भी माया का फल बहुत कडवा माना गया है। 'माया मित्ताणि नासेइ' कहकर भगवान् ने कहा है, कि जिसमे माया होती है, उसके प्रति अविश्वास बढता जाता है। अविश्वास के कारण मायावी के साथ मित्रता टूट जाती है। विश्वासघातक होने के कारण मायावी मनुष्य को आगामी जन्म मे स्त्रीपर्याय मिलती है। तीर्थंकर भगवती मल्लिनाथ का पूर्वभव इस तथ्य का साक्षी है। पूर्वभव मे वे एक साधु थे और अन्य साधुओ के साथ साथ वे भी आत्मशुद्धि एव कर्म-निर्जरा के लिए तपस्या करते थे। कर्ममुक्ति की दृष्टि से तप जैसे पवित्राचरण के साथ-साथ मल्लिनाथजी के जीव ने कपट का आचरण शुरू कर दिया, इस विषम भाव मे कि अपने साथियो से बढकर फल प्राप्त कर सके। इस जरा-से कपटाचरण के फलस्वरूप उन्हे स्त्रीलिग प्राप्त हुआ। इससे भी आगे बढकर कहूँ तो माया एव गूढमाया करने वाले मानव को तिर्यञ्चयोनि मिलती है। तत्वार्थ सूत्र मे कहा है –

'माया तैर्यग्योनस्य' (६/१७)

माया, गूढमाया, कपट, छल-छद्म, दम्भ आदि सब तिर्यञ्चगति मे निकृष्ट योनि के कारण है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी माया का बहुत कडवा फल बताया है। यह तो स्पष्ट है कि माया के मैल में लिपटा हुआ मन अपनी निर्मलता को खो देता है, छलो की आधियो में वह प्रकाशहीन बन जाता है, अस्थिर और अशान्त बन जाता है। जैसे– मनभर दूध मे खटाई पडते ही वह फट जाता है, इसी प्रकार एक कपट से हजारो सत्य का नाश हो जाता है। जहाँ कपट होगा, वहाँ आलोचना –आत्मा पर लगी हुई अशुद्धियो का प्रकटीकरण– शुद्ध नही होगी, न ही प्रतिक्रमण, निन्दना एव गर्हणा होगी। ऐसी स्थिति में आत्मशुद्धि नही हो सकती। अगिरस ऋषि कहते है–

दुप्पचिण्ण सपेहाए, अणायार च अप्पणो।
अणुवट्ठितो सदा धम्मे, सो पच्छा परितप्पति॥६॥

(अपनी दुर्वासना से अर्जित) दुष्प्रचीर्ण कर्म और अपने अनाचार के प्रति देखता हुआ भी जो जान-बूझकर उपेक्षा करता है तथा (शुद्ध हृदय

न होने से) धर्म के लिए सदैव अनुपस्थित (अनुद्यत) रहने वाला व्यक्ति जीवन की सन्ध्यावेला में पश्चाताप करता है।

क्योकि वह शुद्ध आलोचना आदि नही कर पाता। आलोचना आदि के अभाव मे वह साधु आराधक नही, विराधक होता है।

व्यवहारसूत्र में कहा गया है कि जो कपट सहित आलोचना करता है, उसे दुगुना प्रायश्चित्त आता है। एक तो दोष-सेवन का और दूसरा कपट करने का। माया से मिश्रित आलोचना साधक-जीवन को पतन की राह पर ले जाती है। वह धर्म से कोसो दूर हो जाता है। भगवान् महावीर ने आत्मशुद्धि के साधनरूप धर्म के स्थायित्व का रहस्य बताते हुए कहा है—

'सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।' (उत्तरा ३/१२)

जिसका मन-वचन-काय सरल है, जिसका हृदय ऋजुभूत है, *उसी की आत्मशुद्धि होती है। और शुद्ध आत्मा में ही धर्म का स्थायी* निवास होता है।

सरलता से युक्त अपने श्रेष्ठ आचार के प्रति सतर्क और धर्म में सुप्रतिष्ठित रहने वाला साधक सदा आनन्दित रहता है, उसे जीवन के सन्ध्याकाल मे पश्चात्ताप नही करना पडता।

तृतीय कण्टक युगल निन्दा-प्रशसा मे असमत्व

साधना के पथ मे आगे बढने वाले साधक को कभी प्रशसा के फूल मिलते है, तो कभी निन्दा के शूल मिलते है। कच्चे साधक प्रशंसा मिलने पर राग से और निन्दा होने पर द्वेष से ग्रस्त हो जाते है, वे निन्दा और प्रशसा के समय दीर्घदृष्टि से विचार करके समता की पगडडी पर स्थिर नही रह सकते। इस सम्बन्ध मे साधक को मार्गदर्शन देते हुए अगिरस अर्हतर्षि कहते है—

नर कल्लाणकारिं पि, पावकारिंति बाहिरा।
पावकारिं पि ते बूया, सीलमतो त्ति बाहिरा ॥१३॥
चोर पि ता पससति, मुणीवि गरिहिज्जती।
ण से एत्तावताऽचोरे, ण से इत्तवताऽमुणी ॥१४॥
णण्णस्स वयणा चोरे, णण्णस्स वयणा मुणी।
अप्प अप्पा वियाणाति, जे वा उत्तम णाणिणो ॥१५॥
जइ मे परो पससाति, असाधु साधुमाणिया।
न मे सातामए भासा, अप्पाण असमाहित ॥१६॥

जति मे परो विगरहाति, साधु सत निरगण ।
ण मे सक्कोसए भासा, अप्पाण सुसमाहित ॥१७॥
जे उलूका पससति, ज वा निंदति वायसा ।
निदा वा सा पससा वा, वायुजालेव्व गच्छति ॥१८॥
ज च बाला पससति, ज वा णिंदति कोविदा ।
णिंदा वा सा पससा वा, पप्पाति कुरुए जेगे ॥१६॥

बाहरी दृष्टि वाले कल्याणकारी आत्मा को भी पापकारी बतलाते है और अन्तस्तल तक न पहुँचने वाले लोग शीलवान् (सदाचारी) को भी दुराचारी कह डालते है ॥१३॥

स्थूलदृष्टि जनता कभी चोर की भी प्रशसा कर देती है और मुनि को भी घृणा मिलती है। किन्तु इतने मात्र मे चोर साधु नही बन जाता और न ही सन्त असन्त बनता है ॥१४॥

किसी के कहने मात्र से कोई चोर नही बन जाता और कहने पर से कोई सन्त नही बन जाता। मनुष्य अपने आपको या तो स्वय जानता है, या उत्तमज्ञानी (सर्वज्ञ) उसकी वृत्तियो को जानते है ॥१५ ॥

यदि मैं असाधु हू और दूसरा साधु मानकर मेरी प्रशसा करता है, किन्तु मेरी आत्मा समाधिस्थ (सुखसाता मे) न हो तो प्रशसा की मधुर भाषा मुझे समाधिस्थ नही बना सकती ॥१६॥

यदि मै निर्ग्रन्थ हूँ और जनता मेरी अवमानना करती है तो निन्दा की वह भाषा मुझ मे आक्रोश नही पैदा कर सकती, क्योकि मेरी आत्मा सुसमाधि मे स्थित है ॥१७॥

उल्लू जिसकी प्रशसा करे और कौए जिसकी निन्दा करे, वह निन्दा या प्रशसा दोनो ही हवा की भाँति उड जाती है ॥१८॥

अज्ञानी जिसकी प्रशसा करता है और विद्वान् जिसकी निन्दा करता है। ऐसी निन्दा और प्रशसा इस छली दुनिया मे सर्वत्र उपलब्ध है ॥१६॥

वस्तुत अपनी अच्छाई और बुराई के सम्बन्ध मे या अच्छे और बुरे कर्मों के सम्बन्ध में आत्मा स्वय ही अपना गवाह है। दूसरा व्यक्ति किसी के अच्छे और बुरे कर्मों को जान नही सकता। अपनी अच्छाई और बुराई का नाप-तौल व्यक्ति स्वत जितना कर सकता है, उतना दूसरा नही। अत स्थूल दृष्टि वाली दुनिया के द्वारा की गई निन्दा और प्रशसा के गज से अपनी अच्छाई और बुराई को साधक न नापे, क्योकि दूसरे को नापने मे दुनिया के गज गलती भी कर सकते है।

दुनियाँ सिर्फ बाहर को देखती है और बाहर से जिसका जीवन घृणास्पद दिखाई दे रहा है, उसके ऊपर का कठोर आवरण हटाने पर अन्तर् मे करुणा और मैत्री का मधुर झरना बहता हुआ मिल सकता है और दुनिया की नजरो मे जो सन्त है, उसके ऊपरी आवरण को हटाने पर भीतर मे वह चोर भी निकल सकता है। अत किसी के कहने मात्र से जो साधक फिसल जाता है, प्रशसा से फूल जाता है, निन्दा से उद्विग्न हो जाता है, निन्दा और प्रशंसा के क्षणो में समभाव नही रख सकता, वह साधना के अवसर को खो देता है। ऐसे समय मे उसे सन्तुलित और सुसमाधिस्थ होकर सोचना चाहिए कि मैं यदि सयम से रहित साधु हूँ तो स्वार्थ या अन्धश्रद्धा से प्रेरित व्यक्ति द्वारा चढ़ाए हुए श्रद्धा के सुमन या सम्मान के पुष्प मुझे साधु के रूप में बदल नही देंगे, न ही सच्चे निर्ग्रन्थ की किसी के द्वारा की हुई निन्दा या अवमानना उसे समभाव से विचलित कर सकती है। यदि निन्दा और प्रशसा मे साधक की जीवन-तुला सम नही रहती है, तो उसकी साधना मे यह कसकता काटा चुभा हुआ है।

यदि साधक मे समभाव है तो प्रशसा के फूल उसके मन में गुदगुदी नही पैदा कर सकते और न ही निन्दा के शूल उसके मन मे टीस पैदा कर सकते है। दुनिया की आलोचनाएँ उसे अपने मार्ग से हटा नही सकती।

एक रूपक द्वारा अगिरस ऋषि इस तथ्य को समझाते है-- उल्लू प्रकाश की निन्दा और अन्धकार की स्तुति करता है, कौआ रात्रि की निन्दा और दिन की प्रशसा करता है, यह निन्दा और प्रशसा वस्तु की अच्छाई और बुराई के प्रति नही है, अपितु अपनी स्वार्थ-पूर्ति अधेरे मे होती देख उल्लू रात्रि की प्रशसा करता है और कौआ अपने स्वार्थ की क्षति होती देख रात की निन्दा करता है। मतलब यह है कि जिस निन्दा या प्रशसा के पीछे केवल स्वार्थयुक्त ममत्व है, वे दोनो ही तथ्य-विहीन है।

अज्ञानी और भोली जनता सत्य से अनभिज्ञ रहने के कारण अन्ध-श्रद्धा मे पलती है, उससे प्रशसा प्राप्त कर लेना आसान है। विद्वानो के जगत् मे प्रशंसा उतनी सस्ती नही है, क्योकि वे भावुक नही होते, उनमे दूसरो की प्रशसा को पचाने की क्षमता भी कम होती है। अत साधक को गहराई से विचार करना चाहिए कि इस मायाशील विश्व मे निन्दा और प्रशसा कदम-कदम पर मिलती है, उसे दोनो स्थितियो मे समता रखनी है, मन मे असमता नही आने देनी है।

दुनिया की आलोचना से क्षुब्ध न हो

कोई भी मानव सारी दुनिया को प्रसन्न नही कर सकता। सूर्य सब को प्रकाश देता है, फिर भी उल्लू उसकी बुराई करेगा ही। अंगिरस ऋषि प्रत्येक साधक को स्थितप्रज्ञ होने की प्रेरणा देते हुए कहते है—

वदतु जणे ज से इच्छिय, किण्णु कलेमि उदिण्णमप्पणो।
भावित मम णत्थि एलिसे, इति सखाए न सजलामहे ॥

"कोई भी व्यक्ति चाहे जो कुछ बोल सकता है, मैं अपने आपको उद्विग्न क्यो करूँ? मुझसे वह सन्तुष्ट नही है, यही समझकर मैं कुपित नही होता।"

वास्तव मे, जिसके स्वार्थ को ठेस लगेगी, वह अवश्य आलोचना करेगा। उस स्थिति मे साधक अपना मानसिक सन्तुलन न खोए। वह यह सोचे कि दुनिया चाहे जो कुछ बोल सकती है। यदि मैं सयम और साधना के प्रति वफादार हूँ तो मुझे इन आलोचनाओ से घबराना नही चाहिए। मेरे द्वारा किसी की स्वार्थ सिद्धि नही हो रही है, अथवा मेरा आचरण उसकी इच्छा के अनुकूल नही है, इसलिए वह मेरे प्रति क्षुब्ध है, फिर मैं उसके द्वारा की गई आलोचना से उद्विग्न होकर अपनी शान्ति क्यो भग करूँ?

वस्तुत दुनिया मे सबकी आलोचना होती है। सच्चा साधक आलोचना सुनकर उद्विग्न नही होता। पुराने सन्त एक कहानी सुनाया करते थे -

पिता और पुत्र एक गधा साथ मे लेकर किसी दूर के गाँव मे जा रहे थे। रास्ते मे जब पहला गाँव आया तो दोनो को पैदल चलते देख कुछ लोगो ने मजाक की—'कितने मूर्ख है, ये दोनो? सवारी होते हुए भी पैदल चल रहे है।' उनकी आलोचना सुनकर बेटे ने कहा—"पिताजी! आप बूढे है, अत आप गधे पर बैठ जाइए। मै पैदल चलता हूँ।"

'अच्छा बेटा!', यो कहकर बूढा पिता गधे पर बैठ गया। अगला गाँव आते ही लोगो ने फिर आलोचना शुरू की—"देखो! इस बूढे मे अपने छोटे बच्चे के प्रति जरा भी प्यार नही है। स्वय गधे पर चढा चल रहा है और बच्चे को पैदल चला रहा है।" यह सुनकर बूढा स्वय उतर गया और बच्चे को बिठा दिया। कुछ ही दूर आगे बढे होगे कि अगले गाँव के कुछ आदमी इन्हे देखकर बोले—"हाय! घोर कलियुग आ गया है। देखो, बेचारा बूढा बाप घिसटता हुआ चल रहा है और जवान बेटा

गधे पर चढा हुआ है। जरा भी शर्म नही आती।" यह सुनकर बाप-बेटा दोनो गधे पर बैठ गए। इससे अगला गाव आया तो लोग तीखी आलोचना करने लगे—"देखो, देखो! ये कितने निर्दय हैं। बेचारा एक अबोल सीधा-सादा प्राणी है, उस पर ये दोनो पट्ठे जम गए है, मार डालेगे, बेचारे को।" यह आलोचना सुनते ही दोनो गधे से उतर पडे और पुन: दोनो गधे को आगे करके पैदल चलने लगे।

तो, यह है दुनिया द्वारा की गई आलोचना के समय समत्व भग होने का परिणाम। इसीलिए महर्षि अंगिरस कहते हैं—

> जो जत्थ विज्जती भावो, जो वा जत्थ ण विज्जती।
> सो सभावेण सव्वोवि, लोकम्मि तु पवत्तती ॥२०॥
> विस वा अमृत वा वि, सभावेण उवट्ठित।
> चदसूरा मणी जोती, तमो अग्गी दिव खिती ॥२१॥

—जो भाव जहाँ उपलब्ध है, या जो भाव जहाँ नही है, यह सद्भाव या अभाव, सब कुछ लोक मे स्वाभाविक ही है ॥२०॥

—दुनिया मे अमृत भी है, विष भी है। चन्द्र और सूर्य, अधकार और प्रकाश, मणि और अग्नि, स्वर्ग और पृथ्वी, सब कुछ स्वभाव मे ही उपस्थित है ॥२१॥

बन्धुओ!

विश्व की प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वभाव मे स्थित है। हमारे चाहने या न चाहने से किसी का सद्भाव या अभाव नही हो जाता। ससार मे अंधेरा भी अनन्त काल से है और प्रकाश भी, अमृत भी अनादि है, विष भी। साधक को इष्ट-अनिष्ट के पचडे मे नही पडना है। उसे सीधी राह पर अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर कदम बढाना चाहिए तथा इन काटो मे उलझना नही चाहिए, सदा-सर्वदा समभाव मे रहना चाहिए। यही साधक की प्रगति का मूल मत्र है। □□

७

अहंकार-विजय के सूत्र

मेरे प्यारे श्रोताओ !

आपसे एक बात पूछूँ यदि कोई पडित नहा-धोकर, साफ सुथरे कपडे पहनकर, चारो तरफ गगाजल छिडककर, चौका लगाकर खाना बनाने बैठे और खाने मे बनाता हो गदी वस्तुएँ (मास आदि) तो आप उसकी बाहरी सफाई को क्या कहेगे ? बाहर पवित्रता और भीतर अपवित्रता। इस नाटक को क्या समझेगे ?

इसी प्रकार आप कपडे बदलकर मुखपत्ती लगाकर सामायिक करने लगें या हम मुखपत्ती ओघा धारण करके, साधु का बाना पहनकर क्रोध, अहकार, दभ, ईर्ष्या, ममता, वासना आदि अपवित्र विचारो को मन मे छुपाकर रखे तो आप क्या कहेगे ? महज एक नाटक , ढोग ! क्योकि जब तक भीतर मे पवित्रता नही आती बाहरी पवित्रता का कोई महत्व नही। इसलिए साधक-जीवन मे अन्तर् की पवित्रता पर जोर दिया गया है। बाहर से आप कितने ही क्रियाकाण्ड कर ले, प्रतिक्रमण, पौषध, सामायिक या व्रत-प्रत्याख्यान कितने ही कर लें, किन्तु अन्तर् मे पवित्रता नही है, वहाँ क्रोध और अहकार अपना अड्डा जमाए बैठे है तो बाह्य क्रियाओ का कोई मूल्य नही है।

अहकार के नये पैतरे

जैसे एक अक के अभाव मे हजारो शून्यो का कोई मूल्य नही है, उसी प्रकार आन्तरिक पवित्रता के बिना बाह्य आचार का कोई भी मूल्य नही है। जो क्रियाकाण्ड केवल काया से किया जाता है, जिसके साथ मन के तार जुडे हुए नही है, उससे आत्मा पवित्र नही बनती। आत्मा को निर्मल एव पवित्र बनाने के लिए अन्तर् मे क्रोध और मान को निकालना अनिवार्य है, उसके पश्चात् ही क्रियाकाण्ड जीवन को चमकाता है।

बहुत-से साधक अत्यन्त फूक-फूककर चलते हैं। वे क्रियाकाण्ड तो बहुत ही सावधानी से करते है। परन्तु उन्हे उक्त क्रियाएँ करने का अत्यधिक अहकार होता है। वे अपने या अपने सम्प्रदाय के साधको के सिवाय सबको असाधु या कुसाधु समझते है। अपने आपको बहुत ही उच्च क्रियापात्र समझते है। क्रिया-काण्डो का आडम्बर और प्रदर्शन इतना है कि वे अपने अभिमान का पोषण करने के लिए अपने व्याख्यान मे, दर्शनार्थियो के समक्ष केवल अपना या अपनो का ही बखान करते हैं, दूसरे साधको मे चाहे जितने गुण हो, चाहे जितनी अन्त शुद्धि हो, वे उनका नाम लेना ही नही चाहते। कोई उनके सामने दूसरे सम्प्रदाय वालो की प्रशसा करे या महत्ता की गुणगाथा गाए तो वे सहन नही करेंगे, एकदम आगबबूला होकर उस व्यक्ति को बोलने से टोक देगे। अपनी ही ठकुरसुहाती करने वालो को वे पसद करेंगे, उन्ही से बात करना चाहेगे। अगर कोई उनको किसी भी गुणी व्यक्ति से अमुक विद्या या अमुक ज्ञान प्राप्त कर लेने का सुझाव देगा तो चट् से उत्तर देगे कि हमारे पास किस ज्ञान की कमी है, जो हम उस व्यक्ति से, उस आचारभ्रष्ट से या उच्चकोटि का क्रियाकाण्ड न करने वाले से सीखने जाएँ?

ऐसे साधक मान--शैल पर चढे रहकर अन्य को अपने से हीन समझते है।

अहकार मिटाने का अनुभूत उपाय

अत साधक जीवन के विकास में सबसे पहला रोडा है—अहकार। यही उसे आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर आगे बढने तथा अपनी आत्मा को स्वभाव मे स्थिर रखने से रोकता है। अतएव पचम अध्ययन मे अर्हत्-ऋषि पुप्पशालपुत्र द्वारा अपने आत्मविकास के अवरोधक मान को दूर करने से आत्मभावो मे होने वाली स्थिरता के अनुभवो का दिग्दर्शन करते हुए कहा गया है—

माणा पच्चोरिसाण, विणए अप्पाणुवदसए।
पुप्फसाल-पुत्तेण अरहता इसिणा बुइय ॥१॥
पुढवी आगम्म सिरसा, थले किच्चाण अजलि।
पाण-भोजण से किच्चा, सव्व च सयणासण ॥२॥

अर्थात्—मान से नीचे उतरे हुए तथा विनय में अपनी आत्मा को स्थिर रखने वाले पुष्पशालपुत्र नामक अर्हतर्षि ने (यह अध्ययन) कहा है।

—उन्होने मस्तक से पृथ्वी को छूकर भूमि पर अजलि करके (कषायों

पर विजय प्राप्त करके अन्तिम समय मे) भोजन, पानी और समस्त शयनासन का त्याग कर दिया था।

प्रस्तुत दो गाथाओ में अर्हतर्षि पुष्पशालपुत्र का सक्षिप्त परिचय देते हुए अभिमान को दूर करके विनय मे अपनी आत्मा को स्थिर करने की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है।

अर्हतर्षि पुष्पशालपुत्र ने अपने जीवन मे यह अनुभव करके देख लिया कि अभिमान साधक को कितना नीचे गिरा देता है?, किस प्रकार से उसकी साधना को चौपट कर देता है?, साधक के आत्म-विकास, आत्म-शोधन एव आत्म-निरीक्षण मे अहकार किस प्रकार बाधक बनता है?, यही कारण है कि उन्होने जीवन की अन्तिम घडियो मे चतुर्विध आहार और शयनासन का त्याग करने के बाद भक्तो से मिलने वाली वाहवाही, प्रशसा, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा और अहपोषक प्रक्रियाओ का त्याग कर दिया था एव अपने-आपको पृथ्वी की तरह नम्रातिनम्र, बनाकर विनय धर्म मे स्थिर कर लिया था।

एक पहुँचे हुए अनुभवी साधक का यह बोलता हुआ जीवन-पृष्ठ प्रत्येक साधक को मानरूपी हाथी से नीचे उतरने की प्रेरणा दे रहा है।

ज्ञान आदि का अहकार

कई बार यह देखा जाता है कि साधक थोडा-सा ज्ञान प्राप्त कर, मदान्ध हो जाता है, दूसरो को कुछ नही समझता। योगी भर्तृहरि ने अपने ज्ञानमद का उल्लेख करते हुए कहा है—

> यदा किंचिज्ज्ञोऽह गज इव मदान्ध समभवम्,
> तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्त मम मन।
> यदा किंचित् किंचिद् बुधजन—सकाशादवगतम्,
> तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगत॥

—जब मैंने थोडा-सा ज्ञान प्राप्त किया तो मैं हाथी की तरह मदान्ध हो गया। (मेरे मन की आँखे बद हो गई) मैं सर्वज्ञ हूँ' इस प्रकार ज्ञानमद से मेरा मन लिप्त हो गया। किन्तु जब मैंने विद्वानो के सान्निध्य में रहकर विनयपूर्वक उनसे (आत्मा के विषय मे) कुछ जाना, तब मुझे प्रतीत हुआ कि 'मैं तो अभी मूर्ख हूँ' मेरा जो ज्ञानमद था, वह ज्वर की तरह उतर गया।

बन्धुओ! ज्ञान का अभिमान मनुष्य के अन्तर् की आँखो को बन्द कर देता है, उसी प्रकार तप का, पदवी आदि ऐश्वर्य का, जाति, कुल, बल

और शील का मद भी मनुष्य को साधना-पथ से भ्रष्ट कर देता है। कर्म-मुक्त होकर आत्मविशुद्धि करने के बदले ऐसा अभिमानी साधक आठ प्रकार के मदो (अहकारो) मे से किसी भी मद से मत्त होकर अशुभ कर्मबन्धन करके आत्मा को और भी अशुद्ध बना लेता है।

ज्ञानमद के दुष्परिणाम

बात यह है कि साधक को जब अपने ज्ञान (भाषाज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान या शास्त्रीयज्ञान) का अभिमानरूपी ज्वर चढ जाता है, तब वह अपने से बढकर किसी को भी कुछ नही समझता। इस प्रकार वह सर्वज्ञो की आशातना तो करता ही है, साथ ही छद्मस्थ ज्ञानियो, श्रुतकेवलियों, एव आगमज्ञो की भी अवहेलना करता है। इस घोर आशातना के फलस्वरूप वह घोर अशुभ कर्मों का बन्ध करता है। साथ ही वह इतना अभिमानी हो जाता है कि नया ज्ञान सीखने के द्वार बन्द कर देता है। इससे ज्ञान का विकास रुक जाता है, अनन्तज्ञानरूप समुद्र का एक बिन्दुभर ज्ञान पाकर ही रह जाता है, वह कूपमण्डूक बन जाता है। ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के कारण नया ज्ञान उसे प्राप्त नही होता। उसकी जिज्ञासा के द्वार अवरुद्ध हो जाते है। सम्यग्ज्ञान के अभाव मे उसकी विचारशक्ति कुण्ठित हो जाती है। उसकी ज्ञानपिपासा बढती ही नही, फलत वह ज्ञान का अशमात्र पाकर अपने आपको ज्ञानी, उपदेशक, पण्डित, विद्वान् आदि मानने लगता है। फिर वह ज्ञानी पुरुषो की निन्दा करके अपने मनमाने विचारो, मनगढन्त सिद्धान्तो का प्रचार करने लगता है।

वास्तव मे देखा जाए तो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो की उत्पत्ति का मूल यह ज्ञानमद ही है। अधूरे और अपरिपक्व ज्ञान के कारण व्यक्ति मे दूर-दर्शिता, विनीतता, ग्रहणशीलता, जिज्ञासा आदि गुण नही पनप पाते। फलत सकुचित विचारो के कीडे उसके दिमाग मे कुलबुलाने लगते है। वह क्रिया-काण्डो को अधिक तूल देकर सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति के दरवाजे बद कर देता है, अपने शिष्यो और अनुगामियो को वह सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने से रोक देता है। वह ज्ञानी पुरुषो से ईर्ष्या और द्वेष करने लगता है, ज्ञान और ज्ञानी के दोष निकालने लगता है, यहाँ तक कि उसने जिनसे ज्ञान प्राप्त किया है, उनका नाम छिपाने लगता है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी की आशातना से ज्ञानावरणीय कर्म का घोर बन्धन होता है। तत्त्वार्थसूत्र मे ज्ञानावरणीय कर्म-बन्धन के ये ही पाँच मुख्य कारण बताए हैं—

"तत्प्रदोष-निन्हव-मात्सर्यान्तरायाऽशादनोपघाता ज्ञान-दर्शनावरणयो ।"

सम्यग्ज्ञान और ज्ञानी के दोष निकालना, जिन शास्त्रो या ग्रन्थो से अथवा ज्ञानियो से ज्ञान प्राप्त हुआ है, उनके नाम छिपाना, ज्ञान और ज्ञानी के प्रति डाह करना उनकी प्रशसा और प्रसिद्धि सुनते ही ईर्ष्या के मारे जलना, ज्ञान सीखने-सिखाने मे आशातना (अविनय-अभक्ति) करना, ज्ञान के साधनो को तोडना-फोडना तथा ज्ञानी पुरुषो को मारना-पीटना, उन्हे चोट पहुँचाना, ये सब ज्ञानावरणीय कर्म-बन्धन के कारण है।

आपको यह भी बता दू कि इन सब ज्ञानावरणीय कर्म-बन्धनो का मूल अहकार है—ज्ञानमद है—श्रुत-गर्व है।

जातिमद और कुलमद भी विकास के अवरोधक

इसी प्रकार जाति और कुल का अहकार भी साधना के मार्ग मे विकास का अवरोधक है। जातिमद और कुलमद वाला साधक अपनी उच्चता का बखान जाति और कुल के माध्यम से करता है। परन्तु आपको पता होगा कि जाति और कुल कोई तात्विक वस्तु नहीं है, किसी हद तक ये साधना मे सहायक होते है, किन्तु जब वे अपनी उच्चता और दूसरो की निम्नता प्रदर्शित करने के रूप मे प्रयुक्त होते है, तब रत्नत्रय की साधना मे बाधक हो जाते है। ऐसे साधक जाति और कुल के आधार से अपनी आजीविका चलाने लगते है, प्रसिद्धि और सम्मान पाने को लालायित रहते है। जाति और कुल के आधार से प्रसिद्धि की तृष्णा उनके त्याग और वैराग्य को फीका कर देती है। आभ्यन्तर परिग्रह उनके जीवन मे आ जाता है, जिससे वे धन के परिग्रही से भी बढकर प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा के परिग्रही बन जाते हैं।

बल, लाभ, ऐश्वर्य आदि का अभिमान भी बाधक

बल का अभिमान भी साधना मे घातक है। बलमद मे आकर साधक कई बार हिसा पर उतारू हो जाता है। निर्बल को सताने-दबाने की अपेक्षा उसे सहारा देकर बलवान् बनाना, आत्मबली बनाकर साधना दृढ करना, बलवान् साधक का कर्तव्य है।

इसी प्रकार लाभमद एव ऐश्वर्यमद भी साधना के मार्ग मे अवरोधक हैं। मनुष्य धन यश या साधनो की प्रचुरता होने पर अभिमान मे आकर दूसरो का अपमान कर बैठता है, उन्हे नीचा दिखाता है, यहाँ तक कि उन्हे दबाता है, सताता है, परेशान कर डालता है। अत ये मद भी मानसिक और सामाजिक हिसा के कारण बन जाते हैं।

मान या अहकार पर विजय पाने के उपाय

मान या अहकार आत्मा के सूक्ष्म शत्रु है, अगर मन मे उठते हुए मान या अह को दबाया नही जाता है तो वह धीरे-धीरे भयकर रूप लेने लगता है, साधक को पद-पद पर मानरूपी सर्प आकर डसता है और उसकी साधना को विषाक्त बना देता है।

मान, गर्व, दर्प या अहकार को दबाने या मिटाने के लिए भगवान् महावीर ने विनय धर्म का उपदेश दिया है। विनय धर्म का व्यावहारिक रूप अपने से बडे ज्ञान दर्शन-चारित्र मे ज्येष्ठ को नमन करना। अर्हतर्षि पुष्पशाल-पुत्र ने अपने जीवन से साधको को विनय और उससे होने वाले परमलाभ की प्रेरणा देते हुए कहा—

णमसमाणस्स सदा सति आगम वट्टती।
कोह-माण-पहीणस्स, आता जाणइ पज्जवे ॥३॥

कोह-माण परिण्णस्स आता जाणाति पज्जवे।
कुणिम च ण सेवेज्जा, समाधिमभिदसए ॥४॥

ण पाणे अतिपातेज्जा, अलियादिण्ण च वज्जए।
ण मेहुण च सेवेज्जा, भवेज्जा अपरिग्गहे ॥५॥

अर्थात्—'नमस्कार करने वाले' की आत्मा सदैव शान्ति और आगम (ज्ञान) मे लीन रहती है। (आत्मज्ञान प्राप्ति से) क्रोध और मान (आदि कषायो) से रहित आत्मा समस्त पर्यायो को जानती है।

ज्ञपरिज्ञा से क्रोध और मान को जानकर, प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उनका त्याग करने वाला परिज्ञाता आत्मा सर्व पर्यायो का परिज्ञाता हो जाता है। ऐसी स्थिति मे समस्त प्राणियो को आत्मवत् समझने वाला वह साधक प्राणियो का मासाहार तो कर ही नही सकता, साथ ही किसी प्राणी की हिंसा नही करता किसी के साथ असत्य नही बोलता, किसी की चोरी नही करता, मैथुन-सेवन नही करता, वह सदैव अपरिग्रही रहता है।

नमनशील आत्मा की मुख्य उपलब्धि

बन्धुओ! नमनशील आत्मा नम्र और विनयी होती है, वह देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के प्रति नम्रातिनम्र बनकर उनकी आज्ञाओ का पालन करता है। तीर्थंकर देवो द्वारा प्ररूपित, सद्गुरुओ द्वारा उपदिष्ट एव धर्मशास्त्रो द्वारा निर्दिष्ट वचनो के प्रति उसकी पूर्ण निष्ठा होती है। इनके द्वारा प्रतिपादित आगमों का वह पूर्ण विनयपूर्वक अध्ययन करता है। आगमो का अध्ययन करने से उसकी आत्मा शान्ति-पथ मे लीन रहती है। ऐसा साधक अशान्ति

के मूल क्रोध, मान आदि कषायो से उपरत होकर समस्त पर्यायो को जानने लगता है।

इसका तात्पर्य यह है कि जब साधक कषाय और मोह को क्षय कर लेता है, तब अन्तर्मुहूर्त में शेष तीनों घाती कर्मों को नष्ट करके सर्वज्ञ बन जाता है। सर्वज्ञ हो जाने पर वह समस्त द्रव्यो की अनन्त पर्यायो को युगपत् जानते है। मति-श्रुतज्ञान का धनी छद्मस्थ समस्त द्रव्यो को जान सकता है, किन्तु वह एक द्रव्य की भी समस्त पर्यायो को नही जान सकता। तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता वाचक उमास्वाति भी यही कहते है—

'मति-श्रुतयोर्निबन्ध सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु। १/२७

'सर्व-द्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य।' १/३०

अर्थात्—"मति और श्रुतज्ञान का विषय-प्रबन्ध सर्वद्रव्यो मे है, किन्तु समस्त पर्यायो मे नही है, जबकि केवलज्ञान का विषय-निर्बन्ध समस्त द्रव्यो और पर्यायो में युगपत् है।"

यह है, मान रूप गज से नीचे उतर कर आत्मा को विनयधर्म मे स्थापित करने का फल! क्रोध-मान से विहीन आत्मा सर्वप्रथम क्रोध के स्थान पर शान्ति और मान के स्थान पर मृदुता को प्राप्त करता है फिर वह विनय-धर्माचरण से कषाय और मोह को क्षय करके सर्वद्रव्य-पर्यायो को जानने लगता है।

प्राग् ऐतिहासिक युग का भगवान् ऋषभदेव के धर्म शासनकाल का एक ज्वलन्त उदाहरण लीजिए—प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने भागवती दीक्षा लेकर अपने चतुर्विध सघ की स्थापना कर दी थी। उनके पास उनके ९८ पुत्र संसार से विरक्त होकर दीक्षित हो चुके थे और सयम की साधना कर रहे थे। इसके पश्चात् भरत चक्रवर्ती ने अपनी राज्य सत्ता के मद में आकर अपने छोटे भाई बाहुबली को नमाना चाहा। उनके पास अपना सदेश भेजा कि तुम यथाशीघ्र मेरी अधीनता स्वीकार कर लो। मगर बाहुबली इसे अपने स्वाभिमान मे बाधक समझ कर अधीनता स्वीकार नही की। दोनो युद्ध के लिए तत्पर हो गए। दोनो की सेनाएँ आमने-सामने रणभूमि मे आ गयी। आदेश मिलने की देर थी। तभी बाहुबली के मन मे एक विचार स्फुरित हुआ कि हम सेनाओ को लडाकर व्यर्थ ही हिंसा और नरसहार क्यो करे? लडाई तो हम दोनो की है। हम दोनो ही द्वन्द्व युद्ध करके क्यो नही हार-जीत का फैसला कर लें। भरत को भी यह बात जच गई। प्रस्ताव रखा गया दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध आदि का। सभी युद्धो में

बाहुबली विजयी हुए। जब मुष्टियुद्ध का प्रसग आया तो बाहुबली ने सोचा—मेरी भुजाओ मे अत्यधिक शक्ति है। मेरी एक मुष्टि के प्रहार से बडे भाई—भरत जमीन मे धस जाएँगे। मैं इस प्रकार से अपनी मुष्टि शक्ति का दुरुपयोग करने के बदले, इसी मुष्टि से अपने मस्तक का पचमुष्टि लोच क्यो न कर लू और क्यो नही इस अपार शक्ति को सयम साधना मे लगा लू। पृथ्वी का भौतिक राज्य पाने की अपेक्षा मोक्ष का शाश्वत राज्य क्यो न प्राप्त करूँ?

बस, सारा ही पासा पलट गया। बाहुबलि ने अपने बडे भैया भरत चक्रवर्ती को अपना सर्वस्व राज्य आदि सौपकर मुनिदीक्षा स्वीकार की। चल दिये साधना भूमि की ओर।

पच महाव्रत स्वीकार कर लिये और गोम्मट गिरि पर एकाग्रचित्त होकर कायोत्सर्ग मे प्रस्तर की भाँति लीन हो गए। न शरीर की परवाह की और न ही भूख-प्यास की चिन्ता की। कहते है—पक्षियो ने बाहुबली मुनि के शरीर पर यत्र-तत्र घोसले बना लिये। बेले उनके देह पर छा गई। उनकी इस कायोत्सर्ग साधना को बारह महीने हो गए। शरीर कृश हो गया। परन्तु अभी तक उन्हे केवलज्ञान (सर्वज्ञत्व) प्राप्त नही हुआ।

सर्वज्ञता प्राप्त न होने का कारण था—अभिमान। बात यह थी कि कि उनके मन मे अपनी साधना का अभिमान था। इसलिए वे भगवान् ऋषभ के पास जाकर सघ मे प्रविष्ट नही हुए। सोचा—'वहाँ जाऊँगा तो मेरे से पूर्वदीक्षित, ९८ लघु भाइयो को वन्दना करनी पडेगी। मैं अपनी व्यक्तिगत साधना मे ही ठीक हूँ।'

भगवान् ऋषभदेव ने बाहुबली मुनि के मन मे प्रविष्ट अहकार की स्थिति जानी। सोचा—साधना बहुत ऊँची है, परन्तु अहकार कषाय क्षय न होने के कारण केवलज्ञान नही हो रहा है। इस अहकार को दूर करने के लिए भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी साध्वी को प्रतिबोध देने हेतु भेजा। दोनो भगिनियो ने मृदुस्वर से प्रबुद्ध करते हुए कहा—

वीरा म्हारा! गजथकी उतरो,
गज चढियाँ केवल न होसी रे॥ वीरा०॥

अर्थात्—आप जिस अहकार के गज पर सवार हैं, उससे नीचे उतरिये। वहाँ चढे रहने से केवलज्ञान नही होगा।

दोनो साध्वी बहनो का स्वर सुनकर बाहुबली मुनि चौके। उन्हे अपनी भूल का भान हुआ। उन्होने मन ही मन अपने लघु-बान्धव-मुनियो

को वन्दन करने की भावना की, और ज्यो ही उसके लिए कदम उठाया, त्यो ही उन्हे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

यह ऐतिहासिक घटना बताती है, पाँचो महाव्रतो का पालन करते हुए तथा उत्कट तप साधना करते हुए भी जिस अभिमान के कारण ऐसे उच्च साधक का केवलज्ञान (सर्वज्ञत्व) रुका हुआ था, वह अभिमान दूर होते ही, उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया। वे युगपत् समस्त द्रव्यो और उनकी सर्वपर्यायो के ज्ञाता (सर्वज्ञ) बन गए।

विनयधर्म की अन्य उपलब्धियाँ

विनयधर्म की सबसे बडी उपलब्धि सर्वज्ञता का तो मैंने अभी-अभी जिक्र किया था। अन्य उपलब्धियो के विषय मे अर्हतर्षि पुष्पशालपुत्र का कहना है कि विनयधर्म के पालन से साधक ज्ञान दर्शन और चारित्र के प्रति भी नम्रातिनम्र बनता है। इससे वह केवलज्ञान-केवलदर्शन को उपलब्ध कर लेता है। साथ ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पॉच महाव्रतो का प्राणप्रण से पालन करने मे जुट जाता है, क्योकि विनय धर्म का साधक प्राणिमात्र के प्रति आत्मभाव, आत्मतुल्य भाव को लेकर चलता है, ऐसी स्थिति मे वह किसी भी प्राणी के प्रति हिंसा, असत्य, चौर्य अब्रह्मचर्य या परिग्रह का आचरण कैसे कर सकता है ? यही कारण है कि ज्ञाताधर्म-कथा सूत्र एव उत्तराध्ययन मे भगवान् महावीर ने विनयधर्म के अन्तर्गत पाँचो महाव्रतो को समाविष्ट कर दिया है।

विनयधर्म के पालन से एक ओर तो साधक अहकारादि कषायो का एव मोह का क्षय कर देता है और दूसरी ओर सम्यक्चारित्र की आराधना से समस्त घाती कर्मों का क्षय कर देता है। अर्थात्—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चारो घाति कर्मो को नष्ट करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र मे कहा गया है—

"मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।" (६/१)

कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्ष।" (६/२)

मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एव अन्तरायकर्म के क्षय होने से साधक केवलज्ञान तथा बाद मे समस्त कर्मो का क्षय होने से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

विनयधर्म की और भी अनेक उपलब्धियाँ है, जो इसके पालन से प्राप्त होती है। इसीलिए अर्हतर्षि पुष्पशालपुत्र ने अहकार-विजय के सन्दर्भ मे विनयधर्म-पालन की प्रेरणा दी है। □

८

जीवन : एक संग्राम

बाह्य युद्ध का रेखाचित्र

धर्मप्रेमी श्रोताजनो ! जीवन एक सग्राम है। जिस प्रकार युद्ध क्षेत्र में दोनो ओर पक्ष-विपक्ष की सेना खडी रहती है। दोनो ओर की सेना के हाथो में शस्त्र-अस्त्र होते है। युद्ध शुरू होता है, तब दोनो ओर के सैनिको को इच्छा से या अनिच्छा से लडना पडता है। अगर कोई सैनिक भागना चाहे तो भाग नही सकता। वहाँ सैनिको की व्यूह रचना इस प्रकार की जाती है कि अगर कोई सैनिक कायर बनकर बीच मे से भागना चाहे तो भाग ही नही सकता है।

किसी विचारक ने कहा है—

The life of the man is a field of battle

—मनुष्य का जीवन युद्ध का मैदान है।

यह युद्ध सघर्ष मनुष्य के जीवन मे निरन्तर प्रतिक्षण चलता रहता है।

इस आन्तरिक जीवन-युद्ध मे एक ओर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, राग, द्वेष, अहकार, माया, तृष्णा आदि की सेना डटी रहती है, तो दूसरी ओर शील, क्षमा, निर्लोभता, सन्तोष, अनासक्ति, निर्मोह, विनय, नम्रता, समभाव, दया आदि की सेना डटी है। दोनो में परस्पर युद्ध चलता है। उत्तराध्ययन सूत्र (९/३४-३५) में इन्द्र के प्रश्न के उत्तर मे नमिराजर्षि ने इसी आन्तरिक युद्ध की ओर सकेत किया है—

> जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे।
> एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ ॥३४॥
> अप्पाणमेव जुज्झाहि, कि ते जुज्झेण बज्झओ।
> अप्पाणमेव अप्पाण, जइत्ता सुहमेहए ॥३५॥

अर्थात्—जो दुर्जय संग्राम मे लाखो सुभटो पर विजय प्राप्त करता है, उससे अच्छा है कि वह एकमात्र आत्मा पर विजय प्राप्त करे। यही उसके लिए परम जय है। हे साधक ! तू आत्मा के साथ युद्ध कर। तुझे बाह्य, (हिंसक) युद्ध से क्या प्रयोजन है ? अपनी आत्मा अपने से जीतकर ही व्यक्ति सुख पाता है।

सचमुच बाह्य युद्ध मे तो हिंसा, वैर-विरोध, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, अभिमान आदि के पनपने और इनके फलस्वरूप घोर कर्मबन्ध होने का खतरा है। मगर इस आध्यात्मिक युद्ध मे कही भी हिंसा द्वेष, वैर-परम्परा, क्रोध, लोभ, छल आदि के पनपने और कर्मबन्ध होने की सम्भावना नही है। इस युद्ध से जीवन मे शान्ति, क्षमा, समता, मैत्री, नम्रता, दया आदि, जो आत्मा के निजी गुण है, उन्ही की वृद्धि होती है। इस आध्यात्मिक युद्ध की प्रेरणा चतुर्थ अध्ययन मे अंगिरस ऋषि भी करते है—

अक्खोवंजणमातीया, सीलवं सुसमाहिते।
अप्पणा चेव अप्पाणं, चोदितो वहते रहं ॥२३॥

सीलक्खं रहमारूढो, णाण-दंसण-सारही।
अप्पणा चेवमप्पाणं, जदित्ता सुभमेहती ॥२४॥

अष्ट प्रवचन-माता—(पॉच समिति तीन गुप्ति) रूप (तेल लगे हुए) अक्ष (धुरा) से युक्त शीलवान् सुसमाहित आत्मा का रथ (जीवन-रथ) आत्मा के द्वारा (अपनी गति से) स्वत प्रेरित होकर आगे बढता है। ब्रह्मचर्य (शील) की सुदृढ धुरा वाला रथ और ज्ञान-दर्शन जैसे कुशल सारथि को पाकर शुभ (शुद्ध) आत्मपर्याय अशुभ स्थित आत्मपर्याय से युद्ध करके तथा उस पर विजय प्राप्त करके शुद्ध रूप मे स्थित होता है।

जीवन : लडने के लिए है

मानव-जीवन को एक संग्राम बताते हुए कवि ने प्रेरणा दी है—

"जीवन है संग्राम, बंदे ! जीवन है संग्राम।
जन्म लिया तो जी ले बंदे ! डरने का क्या काम ॥ जीवन है० ॥ टेर ॥

जो डरता सो मरता बंदे ! जो लडता कुछ करता।
जो रोना था, तो क्यो आया, जीवन के मैदान ॥ जीवन है० ॥२॥

ले हिम्मत से काम, बंदे ! होगा काम तमाम।
सेज नही फूलो की दुनिया, है कांटो की खान ॥ जीवन है० ॥३॥

सर्दी गर्मी वर्षा सूखा, रैन दिनो का ताता ।
फेंक खिलाडी फिर से पासा, तू भी चल मैदान ।। जीवन है० ।।४।।

कवि ने जीवन-सग्राम के विषय मे कितनी मार्मिक प्रेरणा दी है । बन्धुओ !

अब आपको जीवन का उद्देश्य बदलना पडेगा । अधिकाश लोग कहते हैं—जीवन आनन्द के लिए । परन्तु मैं कहता हूँ कि 'मानव-जीवन एक सग्राम है, वह लडने के लिए है ।' आनन्द लेना मनुष्य जीवन नही, पशु जीवन है । क्योकि पशु जीवन मे कोई बन्धन, मर्यादा, नियम, व्रत आदि नही, कोई विवेक नही होता । किन्तु मनुष्य के पास विवेक है, वह हमेशा अपने विवेक-दीपक को प्रज्वलित रखकर जीवन की घोर अधकारपूर्ण परिस्थितियो मे भी अपना मार्ग देखता हुआ चलता है और दुष्ट वृत्तियो से सघर्ष करता रहता है ।

आप अपना अन्तर्निरीक्षण करके देखिये कि आपको बाह्य युद्ध या सघर्ष मे शान्ति रहती है, या आन्तरिक शत्रुओ के साथ युद्ध करके उन पर विजय पाने से शान्ति मिलती है, जो आपको बराबर गुलाम बनाते हैं । आन्तरिक शत्रुओ के साथ मैत्री करके, जन्म-जन्मो तक परिभ्रमण करके नाना दु ख उठाये, उसकी अपेक्षा इस जीवन मे उनके साथ जूझकर उनका दमन करके विजय पाने मे ही सच्चा सुख है ।

यो तो यह ससार और मानव-जीवन सघर्षमय है । छोटे-से-छोटा बच्चा भी जब भूखा और प्यासा होता है, या अरक्षित होता है, तब अपनी भूख-प्यास मिटाकर सुरक्षा पाने के लिए रोने, चिल्लाने, हाथ-पैर पटकने का सघर्ष करता है । मानव का स्वभाव ही सघर्षमय है । बिना सघर्ष के जीवन-पथ पर एक कदम भी आगे बढना सभव नही है । गति का अभाव या स्थिति-स्थापकता मृत्यु है । जो अपने जीवन मे विशेष उपलब्धि प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हे तो और भी अधिक सघर्ष करना पडता है । कोई व्यक्ति यह चाहे कि मुझे सघर्ष न करना पडे और बैठे-बैठे ही बिना किसी पुरुषार्थ के ही सफलता मिल जाए, यह असम्भव है । परीक्षा देने वाले विद्यार्थी को भी अपनी आदत, आलस्य, एव प्रमादी स्वभाव से सघर्ष करके सही दिशा मे पुरुषार्थ करना पडता है, तब कही जाकर उसे उत्तीर्णांक मिलते हैं । इस ससार एव मानव-जीवन की रचना ही ऐसी है कि सघर्षहीन या सघर्ष से बचकर भागने वाले, प्रमादी, आलसी या जीवन के प्रति लापरवाह व्यक्ति को पराजय, असफलता, पतन या विनाश का मुँह देखना पडता है ।

सघर्ष से बचकर भागने से एक ओर तो जीवन-रक्षा सदेह या खतरे मे पड जाती है, दूसरी ओर विरोधी शक्ति को प्रोत्साहन मिलता है। फलत चाहे या न चाहे, अपने या परिवार के जीवन निर्वाह की गति ठप्प होने का खतरा उपस्थित होने पर वह शान्त या चुपचाप बैठ ही नही सकता। इसलिए सम्मान सहित जीवित रहने का एक ही मार्ग है कि साहस एव दृढता के साथ सघर्ष का पूरी तरह डटकर मुकाबला किया जाए। जो शूरवीर और साहसी होता है, वह सग्राम को देखकर कभी भागता नही। कहा भी है—

सूर सग्राम को देख भागे नही
देख भागे सो ही शूर नाही।

आन्तरिक सग्राम का स्वरूप

मैं आपके सामने जिस सघर्ष, युद्ध या सग्राम की बात कर रहा हूँ, वह जीवन के अन्य व्यावहारिक, पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय सघर्षो की नही, अपितु ऐसे आध्यात्मिक जीवन-सघर्ष की बात कर रहा हूँ, जो हमारे जीवन मे चल रहा है, हमारी आत्मा के उत्थान या पतन का, विकास या ह्रास का, सफलता-असफलता अथवा जय-पराजय का दारोमदार उसी सघर्ष या युद्धपर है, जो आत्मिक विजय-रूप ध्येयलक्ष्यी हो। आन्तरिक जीवन में चल रहे इस सग्राम मे दैवी और आसुरी दोनो प्रकार की सेनाएँ अन्त करण के मैदान मे डटी हुई रहती है। दैवी और आसुरी वृत्तियो-प्रवृत्तियो का यह परस्पर सघर्ष सदैव चलता रहता है। इसे ही जैन परिभाषा मे धम और शुभाशुभ कर्म की सग्राम कहते है। अथवा दार्शनिक भाषा मे शुद्ध परिणति और शुभाशुभपरिणति का युद्ध कहते है।

भगवद्गीता मे जिस महाभारत का वर्णन है, वह इसी प्रकार का आन्तरिक या आध्यात्मिक युद्ध है। वैदिक पुराणो मे देवासुर-सग्राम का वर्णन है, वह इसी आध्यात्मिक-साधना-समर का आलकारिक निरूपण है। इस समर मे असुर प्राय प्रबल होते है, देव उनसे भयभीत हो जाते है। दोनो पक्ष लडते है, देव बहुधा सगठित न होने के कारण हार जाते हैं। महाभारत के वर्णन मे भी कौरवो के रूप मे आसुरी वृत्तियाँ बडी प्रबल, बहुसख्यक और सगठित है, जबकि दैवी वृत्तियो के रूप मे पाण्डव पाँच ही हैं, उनके सहायक एव सैनिक भी थोडे ही हैं। तथा वे शातिप्रिय, न्यायप्रिय एव सघर्ष से दूर रहने वाले है, वे प्राय -झझट मे पडने से कतराते हैं। राम के पक्ष की सेना और रावणपक्ष की सेना का और खासकर दोनो पक्ष के योद्धाओ का युद्ध भी एक प्रकार से हमारी आन्तरिक स्थिति का बाह्य चित्रण है। अध्यात्म-रामायण मे इसका निरूपण स्पष्ट रूप

से हुआ है और इसी आध्यात्मिक जीवन-सग्राम का सकेत अर्हत्-ऋषि वल्कलचीरी छठे अध्ययन के प्रारम्भ मे करते है—

तमेव उवरते मातग—सडहे कायमेवाति ।
आयति तमुदाहरे, देव-दाणवाणुमत ॥१॥
तेणेम खलु भो लोक, सणरामर वसीकतमेव मण्णामि ।
तमह् बेमि विरय वागलचीरिणा अरहता इसिणा बुइत ॥२॥
ण णारीगण-पसत्ते, अप्पणो य अबधवे ।
पुरिसा जत्तो वि वच्चह, तत्तो वि जुधिरे जणे ॥३॥
इत्थीणगुद्धे वसए, अप्पणो य अबधवे ।
जत्तो विवज्जती पुरिसे, तत्तो विज्झविणे जणे ॥११॥

अर्थात्—देह-भेद न होने पर भी गजेन्द्र की-सी श्रद्धा रखने वाला साधक भविष्य में (मारणान्तिक उपसर्ग आए तो भी) अशुभ वृत्तियो (आसुरी वृत्तिया) से उपरत रहे। देवो और दानवो (असुरो) द्वारा अनुमत (मान्य) बातो को अर्हतर्षि (वल्कलचीरी) कहते है।

– देव दानव और मानवो के समग्र लोक को जिसने वश मे कर लिया (जीत लिया) है, ससार से विरत अथवा विरज (कर्मरज से रहित) वह मैं (वल्कल-चीरी) इस प्रकार कहता हूँ। हे आत्मन्! (साधक!) तू नारी-वृन्द पर आसक्त मत हो, और अपने आप का शत्रु (अबन्धु) भी मत बन, अत जितना भी सम्भव है, युद्ध करो और विजयी बनो।

—नारी-विषयो मे गृद्ध (लोलुप) रहने वाला आत्मा अपने आपका अबन्धु (शत्रु) होता है। अत जो पुरुष इसका जितना भी विवर्जन करता है, उतना ही वह उपशान्त रह सकता है।

प्रस्तुत गाथाओ मे अर्हतर्षि वल्कलचीरी ने साधक के जीवन को एक युद्धस्थल बता कर उसमे प्रतिक्षण काम, क्रोधादि कषाय, राग, द्वेष मोह, ममत्व आदि से सावधान रहकर इनके साथ युद्ध करके विजयी बनने का सकेत किया।

आध्यात्मिक युद्ध मे सावधानी

इस आध्यात्मिक युद्ध में आत्मार्थी साधक को सर्वप्रथम यह जानना होगा कि मेरे आत्म-विकास या आत्मशुद्धि मे बाधक शत्रु कौन-कौन हैं? मेरे पक्ष और विपक्ष मे कौन-कौन हैं? यह युद्ध तो जीवन मे सतत चल ही रहा है। मोर्चे पर पक्ष-विपक्ष दोनो ओर के सैनिक डटे हुए हैं, ऐसे समय मे

अध्यात्म योद्धा को यह भी पता न हो कि मुझे क्यो और जिसके साथ युद्ध करना है ? बाह्य युद्ध के मैदान मे दुश्मन को देखते ही गोली मार दी जाती है, इसी प्रकार इस आन्तरिक युद्ध मे भी शत्रु को देखते ही या आक्रमण करने को उतारू होते ही उसे दबा या हटा न दिया जाए या मार भगाया न जाए तो कितनी हानि होगी ? अत इस आन्तरिक युद्ध के मोर्चे पर शत्रु और मित्र की पहचान अवश्य होनी चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखना जरूरी है कि आन्तरिक शत्रुओ का सामना करने की तैयारी तब नही की जाती, जब शत्रु हमला करने को उतारू हो। यह तैयारी तो शत्रु के आक्रमण से पहले ही कर लेनी चाहिए। आन्तरिक शत्रु का हमला होते ही उसका प्रतिकार तुरन्त कर सके इतनी तैयारी के साथ शस्त्र-अस्त्र से सुसज्जित होकर रहना भी बहुत आवश्यक है। यह याद रखिये कि इन आन्तरिक शत्रुओ के साथ जूझे बिना इन्हे मार भगाया नही जा सकेगा। फिर ये शत्रु तो एक जन्म के नही, अनन्तकाल से अपनी आत्मा पर हावी हो रहे हैं। अत इन्हे दूर धकेलने के लिए घोर सग्राम करना पडेगा, तथा पल-पल पर सावधान एव अप्रमत्त होकर चलना है।

इस अध्ययन की प्रथम और तृतीय गाथा मे अर्हतर्षि वल्कलचीरी ने स्पष्ट घोषणा की है कि अशुभ वृत्तियो से लडकर आत्मा की रक्षा करनी है। आत्मा के अन्तरग शत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकारो से युद्ध करके शुद्ध आत्मा को विजयी बनाना है, तथा नारी—अर्थात्—पचेन्द्रिय-काम-भोगो की आसक्ति के साथ युद्ध करके शुद्ध आत्मा की रक्षा करना है। क्या इस युद्ध के लिए मैदान साफ है ? शस्त्रास्त्र सामग्री तैयार है ? तथा युद्ध के लिए व्यूह रचना करने वाले तैयार है ? ये तीनो तैयार हो तो आपको कृतनिश्चयी होकर मैदान मे उतर जाना है। अगर इस जीवन मे कुछ न किया तो फिर दीर्घातिदीर्घ काल तक पश्चात्ताप और रुदन करना पडेगा।

अशुभ वृत्तियो पर विजय क्यो और कैसे ?

अर्हतर्षि ने सर्वप्रथम अशुभ वृत्तियो पर विजय प्राप्त करने की बात कही है। अनादिकाल से परिभ्रमण करते-करते आत्मा ने बहुत-सी शत्रुतुल्य वृत्तिया मित्रवत् बना ली है। वही वृत्तियाँ मनुष्य को बार-बार परेशान करती है। वे जागृत रहती हैं, मनुष्य सो जाता है।

जैसे—एक मनुष्य को भूख लगी है, अथवा उसे स्वादिष्ट मालपूआ खाने की इच्छा जगी है। बहुत-से लोग तो उन वृत्तियो के साथ लडना ही नही चाहते, वे उनके साथ समझौता कर लेते हैं, उनका उलटा सिद्धान्त है

कि जो वृत्ति मन मे जागी, उसे तृप्त और सन्तुष्ट करो, तब अपने-आप तुम्हे समाधि और शान्ति प्राप्त होगी। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि जैसे फुटबाल या गेंद को दबाये जाने पर वह द्विगुणित वेग से उछलने लगती है, उसी प्रकार जिस अशुभ वृत्ति को दबाया जाता है, उससे उस वृत्ति की पूर्ति कर देने से वह शान्त नही होती, वह द्विगुणित वेग से उछलती है।

अशुभ वृत्तियो मे कामवृत्ति सबसे प्रबल है, उसी का सकेत अर्हतर्षि वल्कलचीरी ने दो बार किया है। गीता मे काम को महाशत्रु मानकर उसे नष्ट करने की प्रेरणा दी गई है—

'जहि शत्रु महाबाहो ! कामरूप दुरासदम्।'

हे भुजबली अर्जुन ! अत्यन्त दुर्धर्ष कामशत्रु को नष्ट करो।

काम के दो अर्थ जैन शास्त्रो मे प्रसिद्ध हैं। इच्छाकाम और मदन-काम। इनमे से मदनकाम की प्रतीक नारी है। उसके साथ जूझकर विजय प्राप्त करने का भी सकेत किया गया है। काम के द्वितीय अर्थ के अनुसार इच्छाकाम पर भी अकुश रखने और उससे सतत सघर्ष करने की हिदायत भी अर्हतर्षि ने इन शब्दो मे दी है—

णिरकुसे व मातगे छिण्णरस्सी हए वि वा।
णाणप्पग्गहापब्भट्ठे, विविध पवते णरे ॥४॥
णावा अकण्णधारा व सागरे वायुणेरिता।
चचला धावते णावा सभावाओ अकोविता ॥५॥
मुक्क पुप्फ व आगासे, णिराधारे तु से णरे।
दढ सुब्बणिबद्धे तु विहरे बलव विहि ॥६॥

—अकुशविहीन हाथी और लगाम से रहित घोडे, अथवा ज्ञानरूप लगाम से भ्रष्ट मनुष्य भी नाना रूप मे भाग-दौड करता है, और विनाश को प्राप्त होता है।

—जैसे मल्लाह से रहित नौका वायु के थपेडों से टकरा कर समुद्र मे चचल व लक्ष्यहीन होकर इधर-उधर दौडती है। इसी प्रकार मार्गदर्शक अथवा व्रत-नियम से रहित मूढ मानव की जीवननैया भी स्वभावत डाँवा-डोल हो जाती है। वह भी अशुभ वृत्तिरूपी वायु से प्रेरित होकर इधर-उधर भटकती है।

—इसी प्रकार आकाश मे फेंका हुआ फूल, निराधार मानव और दृढ़

रस्सी से बधे हुए पक्षी के लिए विधि ही बलवान है। अर्थात्—इन सब की सफलता और शान्ति भाग्य ही निर्भर है।

निष्कर्ष यह है कि इच्छाकाम भी आत्मा का बहुत-बडा शत्रु है। साधक की इच्छा एक प्रकार की वृत्ति है। इच्छा की पूर्ति मे सुख की कल्पना मृगमरीचिका जैसी है। यह आत्मा की बद्धदशा है, जो इच्छाकाम एव मदनकाम के पाश मे ऐसा जकड देती है कि मनुष्य उसकी पकड से निकल नही सकता। ऐसा व्यक्ति इच्छा या वृत्ति पर विजय प्राप्त करने के बदले बार-बार पराजित होता है।

इच्छाओ और वृत्तियो का गुलाम सारे जगत् का गुलाम है। आशा के पाश मे बधे हुए मानव की दशा भी सैकडो बधनो से बधे हुए अश्व की सी हो जाती है। न वह इस ओर हिल सकता है, और न ही उस ओर।

हमारी आत्मा मे अनेक प्रकार की अशुभवृत्तियाँ पडी है, काम की, क्रोध की, लोभ की, माया की, अहकार की, ऐश-आराम की, भोग-विलास की, पचेन्द्रिय विषयभोगो की एव स्वच्छन्दाचार की। ये और ऐसी अनेको वृत्तियाँ आप पर हावी हो जाती है, आपको मनचाहा नचाती है।

पद-पद पर आपको ये वृत्तियाँ तग करती हैं। इन वृत्तियो ने आत्मा को ऐसा दबा रखा है कि मनुष्य प्राय इनकी दासता करता है। इनसे बार-बार पराजित होकर भी व्यक्ति भूल जाता है, उसे भान भी नही रहता। इन वृत्तियो ने ऐसा चक्रव्यूह रचा है कि उनकी तुलना मे 'पाकिस्तान' या 'चीन' की लडाई कुछ भी नही है। अपने चक्रव्यूह मे ये फँसाती रहती है। मनुष्य बार-बार इनके सामने हार खा जाता है। ये वृत्तियाँ ही साधक की सबसे बडी शत्रु हैं, उसके आत्म-विकास को रोकने वाली हैं।

इसीलिए नमिराजर्षि ने वृत्तियो से सीधी लडने की बात न कहकर इन क्रोधादि वृत्तियो से युक्त आत्मा से लडने की बात कही है। उन्होने कहा—

पचेंदियाणि कोह माण माय तहेव लोह च।
दुज्जय चेव अप्पाण, सव्व अप्पे जिए जिय ॥

—पाँचो इन्द्रियो के (राग-द्वेष-युक्त) विषय, क्रोध, मान, माया तथा लोभ से युक्त आत्मा को जीतना बहुत ही दुर्लभ है। वास्तव मे एक आत्मा को जीत लेने पर सबको जीत लिया समझो।

प्राय मनुष्यो का और कच्चे साधको का भी सारा जीवन इन वृत्तियो, कषायो या विषयो की गुलामी मे जाता है। यह जीव जरा भी

विचार नही करता कि मैं कौन हूँ ? मैं अनन्तशक्ति का स्वामी आत्मा हूँ। जड पुद्गलो एव कर्मपुद्गलो की शक्ति से आत्मा की शक्ति अनेक गुनी अधिक है।

जब तक यह ज्ञान परिपक्व और अनुभव सयुक्त न हो तब तक हम वृत्तियो, कषायो, इच्छाओ आदि के जाल को तोड नही सकेगे। जब साधक-योद्धा शत्रु को समझ लेता है, तब उसे हटाने या मिटाने मे प्राणो का बलिदान करने मे पीछे नही हटता।

आप चोर को देखते है तो उसका मुकाबला करने की वृत्ति क्यो जगती है ? इसलिए कि सम्पत्ति पर आपकी ममता है। इसी प्रकार क्षमा पर आपकी ममता हो तो आप क्रोध का मुकाबला करते। परन्तु यह तभी सम्भव होता, जब क्षमा को आप अपनी सम्पत्ति मानते। निर्लोभता को आप अपनी सम्पत्ति मानते तो लोभ को शत्रु मानकर मुकाबला करते। इसी प्रकार दया, समता, नम्रता, शील, सन्तोष आदि सद्गुणो को धन मानकर इन पर ममत्व हो तभी हिसा, विषमताओ आदि दुर्गुणो–दुर्वृत्तियो पर विजय पा सकते।

एक बात और है। दूसरे लोगो की अपेक्षा निर्ग्रन्थ महामुनि को प्रतिक्षण सावधान रहने और क्षमा, दया, समता आदि आत्म-सम्पत्ति को विजयी बनाने का अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहिए। जैसे—किसी साधक को शरीर, सम्प्रदाय, पुस्तक, उपकरण आदि में से किसी भी सजीव या निर्जीव वस्तु पर मन मे आसक्ति जागी, तो तुरन्त उसे सावधान होकर उस आसक्ति को समभाव से, निर्लोभता से दूर ठेल देनी चाहिए। तभी आत्मा के अनासक्ति गुण की विजय होगी।

इसी प्रकार किसी गृहस्थ साधक को अपने धन, पुत्र, परिवार, या मकान पर मोह-ममत्व आया, उस समय वह अनित्यता का चिन्तन करके समत्वगुण की विजय करा सकता है।

इस प्रकार साधक जीवन पर क्रोधादि का हमला होने पर क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कर्म आदि से एकदम नाता तोड ले, उन्हे मुँह न लगाए। जैसे कोई कुत्ता रोटी की थाली पर झपटने आता है, उस समय अगर भोजन करने वाला उसे तुरन्त न भगाए तो वह बार-बार आएगा, रोटी भी खा जाएगा। इसी प्रकार जिस साधक पर क्रोधादि आक्रमण करने आता है, उस समय वह तुरन्त नही भगाए, तो वे क्रोधादि शत्रु बार-बार आकर साधनामय जीवन को चौपट कर देंगे।

शान्ति समर के एक अमर गायक ने कहा है—

शान्ति-समर में कभी भूल कर धैर्य नहीं खोना होगा।
वज्रप्रहार भले सिर पर हो, किन्तु नहीं रोना होगा ॥ध्रुव॥
अरि से बदला लेने का मन बीज नहीं बोना होगा।
घर में तूल कान में देकर, किन्तु नहीं सोना होगा ॥१॥
आंख लाल भौहे टेढ़ी कर, क्रोध नहीं करना होगा।
बलिवेदी पर तुझे हर्ष से चढ़ कर कट मरना होगा ॥२॥
सरल मार्ग को छोड़ स्वार्थ-पथ पैर नहीं धरना होगा।
होगी निश्चय जीत धर्म की, यही भाव भरना होगा ॥३॥

मित्रो! कहने को तो बहुत है। परन्तु समय की सीमा है। मैं अपनी बात अब समेट रहा हूँ। मूल बात यह है कि साधक को तप, जप, ध्यान, प्रतिक्रमण, सामायिक, महाव्रत-पालन आदि उत्तम धर्माचरण में भी यशोलिप्सा, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धा भाव, आदि दोष आकर मन के क्षेत्र पर आक्रमण न कर दे, अन्यथा, दुर्गुण प्रविष्ट हो जाने पर तो साधक की जीत नहीं, हार होगी।

चेतावनी

इसीलिए अर्हतर्षि वल्कलचीरी साधकों को चेतावनी के स्वर में कहते हैं—

सुत्तमेत्तगति चेव, गन्तुकामेऽवि से जहा।
एवं जद्धा वि सम्मग्गं, सभावाओ अकोविते ॥७॥
जंतु परं णवएहि, अबरे वा विहंगमे।
दढसुत्तणिबद्धे त्ति मिलोको ॥८॥
णाणापग्गहसबंधे, धितिमं पणिहितिंदिए।
सुत्तमेत्तगती चेव, तधा साधु निरंगणे ॥९॥
सच्छंदगतिपयारा, जीवा संसार-सागरे।
कम्मसंताणसंबद्धा हिंडंति विविहं भवं ॥१०॥
मन्नतो मुक्कमप्पाणं पडिबद्धे पलायते।
विरते भगवं वक्कलचीरि उग्गतवेत्ति ॥१२॥

भावार्थ यह है—धागे से बंधा पक्षी गमन करना चाहता है, परन्तु उसकी गति जहाँ तक धागा है वहीं तक है। इसी प्रकार स्वभावतः अकु-

शल (ज्ञानरहित) परम्परा के धागे से चिपटे रहने के कारण सम्यक्‌मार्ग प्राप्त करके भी आगे (लक्ष्य) तक बढ नही पाते ।७।

वे दूसरे को नवीन विचारधारा के आधार पर पक्षी की तरह आकाश मे स्वतन्त्र उडान भरते देखते हैं, किन्तु अपने आपको परम्परा की रस्सी से बधा पाते हैं। आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा मुक्ति की ओर जाने वाले महापुरुषो को देखता है, तब उसके मन मे बन्धन की कठोरता अखरती है ।८।

धृतिमान दमितेन्द्रिय निरगण साधु अनेकविध नियमो के सम्बन्ध मे सूत्र मात्र गति का अवलम्बन लेता है ।९।

स्वच्छन्दमति-गति से घूमने वाली आत्माएँ कर्मसन्तति से सम्बद्ध होकर विविध भवो मे भ्रमण करती हैं ।१०।

जो अपने को मुक्त मानता है, किन्तु कर्मशृखलाओ से प्रतिबद्ध होकर पलायन करता है। यह वदतोव्याघात हुआ। उग्रतपा वल्कलचीरी भगवान ससार के दावानल से सर्वथा विरत हो गए थे ।११।

इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन सग्राम को हर पहलू से हृदयगम करके विजय प्राप्त करना चाहिए। □

१

दुःख-मुक्ति के आध्यात्मिक उपाय

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज हम जिस ससार और समाज मे जी रहे हैं, उसमे सुख और दुःख की अपनी-अपनी कल्पना है। मनुष्य बाह्य सुख, क्षणिक सुख अथवा पदार्थजनित मन कल्पित सुख को सुख मानता है, भले ही उसके पीछे कितना ही दुःख का पुट हो। किसी पदार्थ, परिस्थिति या क्षेत्र-काल मे सुख की कल्पना करने वाला मनुष्य उस सुख के कारणभूत माने हुए अभीष्ट पदार्थादि का वियोग होने पर हाय-हाय करता है। अथवा अमुक काल मे एक वस्तु सुख देने वाली मान ली जाती है वही वस्तु दूसरे काल मे दुःख देने वाली हो जाती है। स्वस्थ अवस्था मे जिस मनुष्य ने मिठाई खाने मे सुख माना था, वही व्यक्ति रुग्णावस्था मे उसे पाकर दुःखानुभव करता है। जब भी कोई व्यक्ति प्रसग या पदार्थ मनुष्य के चित्त मे अप्रसन्नता खडी कर देता है, तभी वह उसमे दुःख की कल्पना कर लेता है। अर्हतर्षि कुर्मापुत्र, जिन्होने गृहीजीवन मे रहकर कैवल्य प्राप्त किया था, इस सप्तम अध्ययन मे दुःख से मुक्त होने पाँच आध्यात्मिक उपाय बताये है—

अक्षय सुख शान्ति के पाँच सूत्र

सव्व दुक्खावह दुक्ख, दुक्ख सुउसुयत्तण।
दुक्खीव दुक्करचरिय चरित्ता, सव्वदुक्ख खवेति तवसा ॥१॥

(जिन्हे तुमने सुख माना है वे, तथा जो तुम्हे कष्ट देने वाले हैं, वे) सभी भविष्य मे दुःखावह है, इसलिए दुःख रूप है, (उन्हे सुख मत मानो।) उत्सुकता (अर्थात् - किसी भी सजीव-निर्जीव पदार्थ के प्रति लालसा, आसक्ति या वितृष्णा) ही सबसे बडा दुःख है। तथाकथित दुःखी की तरह दुष्करचर्या का आचरण करने मे तथा तपस्या से साधक सभी दुःखो का क्षय कर डालता है।

तम्हा अदीणमणसो दुक्खी सव्वदुक्ख तितिक्खेज्जा ।
से त्ति कुम्मापुत्तेण अरहता इसिणा बुइयं ॥२॥

—अत (कल्पना के दु ख से) दु खी मानव अदीनमना होकर समस्त दु खो को (समभावपूर्वक) सहन करे। यही (अक्षय सुख का राजमार्ग) अर्हत्-ऋषि कुर्मापुत्र ने बताया है।

प्रस्तुत दोनो गाथाओ मे अर्हतर्षि कुर्मापुत्र ने अक्षय सुख-शान्ति के पाँच आध्यात्मिक उपाय बताये है—

(१) काल्पनिक सुख या दु ख, दु खावह होने से सभी को दु ख रूप मानो।

(२) पदार्थों को पाने या रखने की अभीप्सा भी दु खरूप मानो।

(३) तथाकथित दु खी की तरह दुष्करचर्या को अपनाओ।

(४) तपश्चरण से दु ख का नाश करो। और

(५) अदीनमना होकर समस्त दु खो को सहन करो।

आइए, हम आज प्रत्येक सूत्र पर चिन्तन करे।

सुख और दु ख मन की कल्पना है

जिनको आज मनुष्य सुख या दु ख मानता है। अपने माने हुए इष्ट-सयोग तथा अनिष्टवियोग मे सुख की तथा अनिष्टसयोग और इष्टवियोग मे दु ख की कल्पना करता है, वे केवल मनुष्य की कल्पना के ही सर्जन है न? मनुष्य के अप्रशिक्षित (untrained) मन ने ही तो इस प्रकार के सुख और दु ख की कल्पना की है।

जो शाश्वत सुख, आत्मिक सुख पाना चाहता है, उसे इस प्रकार के सुख और दु ख की कल्पना ही नही करनी चाहिए। क्योकि ससार का कोई भी सजीव या निर्जीव पदार्थ, परिस्थिति, क्षेत्र, काल या सयोग अपने आप मे किसी को सुख या दु ख नही देता। परन्तु मनुष्य अमुक पदार्थ आदि में सुख की कल्पना करके फूल उठता है, और अमुक पदार्थ आदि मे दुख की कल्पना करके तडप उठता है। परन्तु अर्हतर्षि कहते हैं कि अगर मनुष्य किसी भी पदार्थ आदि मे सुख अथवा दु ख की कल्पना ही न करे तो उसे न तो तथाकथित सुखद सयोग के वियोग होने पर अथवा तथाकथित दु खद संयोग के आने पर दु:खी होना पडे और न ही आर्त्तध्यान करना पडे। एक सत्यभक्त कवि ने कविता की भाषा मे इसी तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन किया है—

दुःख और सुख मन की माया।
इस माया का पार न पाया॥

भटक-भटक कर थका, मगर पा सका न सुख का द्वार।
कर ले यह ससार मोक्षमय, कर ले यह ससार॥

प्रथम उपाय सभी बाह्य सुखों को दुःखावह समझो

अर्हतर्षि कुर्मापुत्र तो इससे भी आगे बढकर कहते है—जिन पदार्थों मे तुम सुख की कल्पना करते हो, वे भविष्य मे दुःख लाने वाले होने से दुःख रूप ही है, ऐसा मान लो। इसके अतिरिक्त जो पदार्थ या सयोगादि वर्तमान मे तुम्हारे हृदय मे अप्रसन्नता का सचार कर देते है, वे भविष्य के किसी न किसी सुख के कारण भी बन सकते है, इस कला को या वैचारिक सूत्र को हस्तगत कर लेने से कभी, कैसी भी परिस्थिति मे मनुष्य को दुःख नही होगा। इस प्रकार की कला के धनी मानव ऐसे कल्पित सुख-दुःख के समय समत्वभाव रखकर आत्मभाव की मस्ती मे लीन हो जाते है। फिर उन्हे स्वय को दीन-हीन मानने की बात ही नही रहती। इस कला को प्राप्त करना कोई कठिन भी नही है, आप इसे असभव न समझे। थोडे-से मानसिक अभ्यास से यह कला हस्तगत हो सकती है।

वास्तव मे सुख को कही बाहर ढूढने की जरूरत नही। सुख का सागर हमारे अन्तर् मे ही लहरा रहा है। मन के विचारो मे ही सुख और दुःख है। हमे अपने विचारो को मोडने की जरूरत है। सुख की खोज मन मे ही करनी है, बाह्य पदार्थो मे नही। अगर भौतिक पदार्थो मे ही सुख मिलता तो ससार मे आज कोई भी व्यक्ति दुःखी न रहता। किसी भी पदार्थ का स्वभाव सुख या दुःख देना नही है। मैं एक ऐतिहासिक उदाहरण द्वारा अपनी बात स्पष्ट कर दू—

अरब देश की घटना है। एक अच्छे घर का सस्कारी युवक शत्रुओ द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। उन्होने उसे एक अमीर को गुलाम के रूप मे बेच दिया। फिर भी उस युवक के मुख पर प्रसन्नता अठखेलियाँ कर रही थी। पडौस मे रहने वाले एक व्यापारी ने उससे पूछा—"भाई! इस गुलामी मे तुझे दुःख नही होता?"

युवक—"दुःख? दुःख किस बात का? भगवान् जिस स्थिति मे रखे, उसी मे रखना चाहिए। पहले मैं अपने घर मे रहकर काम करता और पेट भरता था अब पराये घर मे काम करके पेट भरता हूँ। मेरा घर ही तो बदला है। यह घर भी कदाचित् बदल जाएगा। इसमे दुःख किस बात का?"

पूछने वाला व्यापारी इस जवाब को सुनकर दग रह गया। वह अनेक वर्षों के वाद फिर इसी युवक से मिला। उसने देखा कि वह युवक गुलामी से मुक्त होकर अपने ही मालिक की पत्नी और बालको का भरण-पोषण कर रहा है। अब उसने पूछा—'क्यो भाई! अब तो सुख है न ?"

उसने कहा—"सुख क्या और दुःख क्या ? जीवन तो परिवर्तनशील है। जो आज है, वह कल रहने वाला नही है। मैं सदैव सभी परिस्थितियों मे सुख मे ही रहता हैं।"

फिर तो उत्तरोत्तर वह युवक तरक्की करता गया। वह अपनी तेजस्विता, प्रतिभा, समझ सेवा भावना और सयम की वृत्ति से एक दिन वहाँ के राजा का दामाद हो गया। उक्त व्यापारी ने अव उससे पूछा—"क्यो भाई! अब तो पूर्ण सुखी हो गए न ?"

उसने कहा "मैं किस दिन अपूर्ण सुखी था ? जैसे दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आता है और चला जाता है इसी प्रकार इस जीवन के साथ सुख और दुःख की घटमाल चलती जाती है। इस सुख-दुःख की क्रिया को मन पर लाकर मैं उदास क्यो रहूँ ?"

सही स्थिति यह है कि जिस जीवन मे मन को सुख-दुःख से अलिप्त रखकर एक मात्र परमात्मा या आत्मा मे ही मन को पिरो दिया जाता है, उसमे सुख-दुःख को कही स्थान नही होता। वास्तव मे, सुख और दुःख को जीवनरूपी सिक्के की दोनो बाजू मानना चाहिए। एक कवि ने ठीक ही कहा है—

सुख-दुःख दुःख-सुख दोनो साथ-साथ है।
दोनो आत-जात है जी, दोनो आत-जात है॥ ध्रुव॥

दिनकर डूब गया, अँधियारा छा गया।
उषा मुसकाई फिर उजियाला आ गया।
किसी वक्त दिन है, किसी वक्त रात है॥ दोनो० ॥१॥

सूखा-सूखा पेड हुआ, रगरूप खो गया।
मधुऋतु आई फिर, हराभरा हो गया॥
पतझड मधुऋतु दोनो ना ठहरात हैं॥ दोनो० ॥२॥

सागर में कभी भाटा, और कभी ज्वार है।
सुख-दुःख दोनो मानो, बिजली के तार है॥
इन दोनो मे बडी गहरी मुलाकात है॥ दोनो० ॥३॥

सुख-दु ख दोनो से ही जीवन गतिमान है।
दोनो के अस्तित्व से ही जीवन की शान है।।
पुण्य-पाप इन्ही के, मात और तात है।। दोनो० ।।४।।

यदि जीवन मे अकेला सुख हो तो ऐसा जीवन अधूरा ही रहता है और दुखी जीवन तो अपूर्ण होता ही है। साधक के जीवन मे सुख-दु ख दोनो ही आते है और सुख-दु ख दोनो मे समभाव ही साधक-जीवन का अमृत है। जो मनुष्य सुख मे फूल जाता है, और दु ख मे डिग जाता है, ऐसी असतुलित दशा वाला मानव सच्चे सुख का आस्वादन नही कर सकता।

द्वितीय उपाय सुख की लालसा छोडो

जहाँ सुख की पिपासा होगी, वहाँ दु ख के प्रति द्वेष, अरुचि, या घृणा भी आवश्यक रूप से होगी। ऐसी स्थिति मे मनुष्य की अन्तरात्मा दु खी और अशान्त हो जाती है। शान्ति का सुमधुर अनुभव करने के लिए तुम्हे सुख का—अर्थात्—सुखलिप्सा का—त्याग करना और दु ख को सहन करना सीखना पडेगा। यदि विचार किया जाय तो सुख का भी कहाँ अधिक त्याग करना है? सुख तो इस पचमकाल मे है ही बहुत थोडा! तुम्हे पुरुषार्थ तो दु ख को सहने मे करना है, क्योकि दु ख ही अधिक है।

अगर मनुष्य यहाँ ५० से १०० वर्ष तक की जिदगी मे आ पडने वाले दु खो को समभावपूर्वक सहन कर ले, तो उसका भविष्य सुखमय बन जायेगा।

एक बार सत्यभामा, रुक्मिणी आदि श्रीकृष्ण की पटरानियाँ द्रौपदी से मिलने आई। उन्होने द्रौपदी का शील, स्वभाव, सदैव प्रसन्नता आदि देखी तो बहुत खुश हुई। बात ही बात मे उन्होने द्रौपदी से पूछ लिया—"बहन! हम एकमात्र श्रीकृष्ण की इतनी रानियाँ होते हुए भी न स्वय प्रसन्न और सुखी रहती है, और उन्हे ही प्रसन्न कर पाती है। किन्तु तुम पाँचो पाण्डवो का अकेली प्रसन्न और सतुष्ट रखती हो और स्वय भी सुख मे रहती हो। वह कौन सा मत्र है? हमे भी बताओ।"

द्रौपदी ने एक ही वाक्य मे सारा उत्तर दे दिया—

दु खेन साध्वि! लभते सुखानि।

अर्थात्—दु ख को दु ख न समझ कर सहन करने से सुख प्राप्त होता है।

फलितार्थ यह है कि दु ख को दु ख न मानकर उसे समभावपूर्वक अपना लेने से मनुष्य स्वय भी सुख पाता है और सम्पर्क मे आने वालो के साथ सघर्ष न होने से वे भी सुख पाते है, प्रसन्न रहते हैं।

आप में से अधिकाश लोगो से पूछा जाए कि आप क्या चाहते है— बाह्य सुख या आन्तरिक शान्ति ? तब आप यदि दोनो मागेंगे या चाहेगे तो मिल नही सकेगी, क्योकि इस ससार की ऐसी व्यवस्था है, काल का भी ऐसा ही प्रभाव है। दोनो मे कोई एक पसद करो। अगर तुम बाह्य सुख मागोगे तो वह भी मिल सकता है, बशर्ते कि तुम शुद्ध धर्म का आचरण करो। धर्म बाह्य सुख भी प्रदान कर सकता है। परन्तु याद रखो, ये बाह्य सुख तुम्हारे पास टिकेंगे नही। बाह्य वैषयिक सुख के साथ दु ख का आगमन निश्चित है। सुखो के उपभोग की आदत पड गई तो जब ये सुख तुम्हारे पास से चले जायेंगे, तब तुम्हारी मन स्थिति कैसी होगी ? जरा विचार तो करो।

अमेरिका के धनकुबेर जॉन० डी० रॉकफेलर ने जिन्दगी के अधिकाश वर्ष धन कमाने मे ही बिताये थे। उसे धन एकत्र करने की ही चिन्ता मे ब्लडप्रेशर हो गया। उसका स्वास्थ्य चिन्ताजनक हो गया। डाक्टरो ने इलाज करने मे कोई कसर न रखी। जिस धन को उसने सुखदायक माना था, वह दु खदायक बन गया। आखिरकार एक डाक्टर ने उसे राय दी कदाचित् तुम स्वस्थ हो जाओ। तो भी तुम्हे सुख से जीना हो तो यह हाय तोबा छोड दो। पैसा मिला है तो स्वय आनन्द से जीओ और उदार हृदय मे दीन-दुखियो के दु ख दूर करो।

रॉकफेलर के गले यह बात उतर गई। वह सम्पत्ति से प्राप्त होने वाले सुख की स्वय परवाह न करके दीनदु खियो की सहायता करने लगा। इसमे उसे आनन्द मिला। रॉकफेलर का स्वास्थ्य सुधरता गया। उसने अपनी ६३ वर्ष की जिन्दगी सुख से बिताई।

बन्धुओ ! सुख का मूल मत्र यही है कि स्वय सुखो का त्याग करके दूसरो को सुख दो। कहावत है—

'सुख दिया सुख होत है, दु ख दिया दु ख होय।'

जो अपने सुख की परवाह न करके दूसरे के लिए दु ख सहता है, उन्हे सुखी बनाता है, अथवा यो कहे कि सुखी बनाने मे निमित्त बनता है, तो उसे भी आत्मिक सुख मिलता है।

अत सुख का अथवा सुख की लालसा का त्याग करना ही सुख का मूल मत्र है।

यदि तुम आन्तरिक सुख-शान्ति चाहते हो तो तुम अभी से सुख के त्याग के अभ्यासकाल के दौरान कष्ट सहन करने की आदत भी डालो।

आन्तरिक शान्ति के लिए जैसे बाह्य सुखो का त्याग करना आवश्यक है, वैसे ही आन्तरिक कषायो का भी त्याग करना आवश्यक है। ज्यो-ज्यो दोनो प्रकार के त्याग करने का अभ्यास बढता जायगा, त्यो-त्यो अन्तर् मे शान्ति की अधिकाधिक वृद्धि होती जायगी। गीता मे स्पष्ट कहा है—

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।

—त्याग करने से तुरन्त शान्ति मिलती है।

यदि त्याग वैराग्य से शान्ति न मिलती, आत्मिक सुख न मिलता तो तीर्थकर, चक्रवर्ती या बडे-बडे राजा-महाराजा क्यो तथाकथित सुख के इतने साधनो का त्याग करते? क्यो बाह्य सुखो का परित्याग करते? उन्हे बाह्य सुखो या सुख-साधनो मे वास्तविक सुख की प्रतीति नही हुई।

मनुष्य इच्छाओ की पूर्ति होने से सुख मानता है। परन्तु क्या कभी किसी की समग्र इच्छाओ की पूर्ति हुई है? अथवा क्या इच्छापूर्ति के पश्चात् भी किसी को स्थायी सुख मिला है? इच्छा की पूर्ति सुख न होकर दु ख के द्वार खोलती है।

ओरिसन स्वेट मार्डन अपना अनुभव लिखता है कि मैं एक ऐसी महिला को जानता हूँ जिसके जीवन मे दु खो की अंधेरी राते आई, परन्तु वह दु ख के दिनो मे भी उत्साहजनक और आनन्ददायक गीत गाकर उन दु खो को भी सुख मे परिणत कर लेती थी।

लुकमान हकीम बचपन में गुलाम थे। उनके मालिक ककडी खा रहे थे। ककडी कडवी थी। थू-थू करके उसने मुँह बिगाडा और ककडी गुलाम लुकमान को दे दी। वह खा गया। मालिक ने आश्चर्य करके पूछा—कडवी ककडी कैसे खा गया तू?

नौकर ने जबाव दिया—रोजाना आपकी दी हुई अच्छी-अच्छी चीजे भी खाता हूँ तो आज यह क्यो नही खाऊँ? आपने ही तो कहा है—परमात्मा अनेक प्रकार के सुख देता है, उसके हाथ से कभी दु.ख भी मिले तो उसे प्रसन्नतापूर्वक भोग लेना चाहिए।

प्रसन्न होकर मालिक ने लुकमान को गुलामी से मुक्त कर दिया।

तृतीय उपाय दु ख की दुष्कर साधना से सुखप्राप्ति

मनुष्य दु ख से दूर भागना चाहता है। किन्तु गहराई से सोचा जाए तो दु ख दुनिया की निकम्मी चीज नही है। दु ख सहने से मनुष्य को दूसरे दुखियो के दुख का ज्ञान तथा सम्यग्ज्ञान भी प्राप्त होता है। वैराग्य भी

दुःख से प्राप्त होता है। दुःखी व्यक्ति—समभावपूर्वक दुःखसहिष्णु व्यक्ति सबमे आत्मीयता के दर्शन करता है। महाभारत मे कहा है—

विपदः सन्तु नः शाश्वत् तत्र-तत्र जगद्गुरो !।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥

—जगद्गुरु प्रभो! हमारे जीवन मे सदा विपत्तियाँ आती ही रहे, क्योकि जन्म-मरण के चक्कर को मिटाने वाले आपके दर्शन विपत्तियो मे ही होते है।

अँग्रेज विचारक ऑस्टिन मैले का विचार है कि आपत्तियो से बढकर और बडी शिक्षा नही।

राजस्थान के एक मस्त कवि ने कहा है—

दुःख है ज्ञान की खान, मनवा दुःख है ज्ञान की खान ॥टेर॥
दुःख मे ज्ञान-ध्यान बहु उपजे सुख मे करत पयान ॥ म०॥१॥
दुःख ही शिक्षक है इस जग मे, प्रभु का शुभ वरदान।
अति उत्तम यह पाठ पढाये, छूट जाय कटु बान ॥म०२ ॥
जिसने जग मे दुःख नही देखा वह कैसा इन्सान।
उन्नत पद पर कभी न पहुँचे, दुनिया के दरम्यान ॥म० ॥३॥
ज्यो-ज्यो स्वर्ण अगन मे डारे, रूप धरे छबिमान।
वैसे ही दुःख की भट्टी मे तप कर हो मतिमान ॥म० ॥४॥
कौन बिराना, कौन है अपना, दुःख मे पड़त पिछान।
दुनिया के कसने की कसौटी खोने को अभिमान ॥म० ॥५॥

दुःख के माहात्म्य का कितना सजीव चित्रण है।

वास्तव मे सुख मनुष्य को विलास, प्रमाद और पतन की ओर ले जाता है। जबकि दुःख त्याग, वैराग्य, जागृति और उत्थान की अग्रसर करता है। सुख मे वृत्तियाँ बहिर्मुखी और दुःख मे अन्तर्मुखी होती हैं। सुख के दिन मस्ती मे और दुःख के दिन सुस्ती मे व्यतीत होते हैं। सुख मे मनुष्य अपनी ही सुनता है, किन्तु दुःख मे दूसरो की भी सुनता है। सुख मे मनुष्य मदग्रस्त हो जाता है, जबकि दुःख मे मद उतर जाता है। सुख में विकारो के आने की सम्भावना है, जबकि दुःख मे साधक जागृतिपूर्वक निर्विकारिता की ओर कदम बढाता है।

ससार का इतिहास उठाकर देखते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि दुःख ने राम, कृष्ण, महावीर महात्मा गाधी एव ईसामसीह आदि को अमर बना दिया, जबकि सुख ने रावण, कस, दुर्योधन आदि को व्यभिचारी, विलासी, अभिमानी और अन्यायी बनाया है।

इसीलिए सत तिरुवल्लुवर ने कहा है—'आपत्तियो का सामना करने के लिए मुस्कान से बढकर कोई चीज नही है।' यही कारण है कि कुर्मापुत्र अर्हतर्षि ने दुःख को मिटाने का तृतीय उपाय स्वय दुःख को झेल लेना बताया है। ऐसा साधक स्थूलदृष्टि से तो दुःखी की श्रेणी मे आ जाता है, किन्तु वह आवश्यकताओ को सीमित करके, पचेन्द्रिय विषयो पर सयम एव कषायो पर विजय प्राप्त करके अन्तर् से अतीव सुखी हो जाएगा।

चतुर्थ उपाय तप के द्वारा दुःख का विनाश

व्यक्ति इच्छानिरोधरूप तप की ज्वालाओ से समस्त दुःखो को शमन कर सकता है। दुःख के कारणभूत कर्मो को नष्ट करने के लिए भगवान् ने बाह्य और आभ्यन्तर तप बताएँ हैं।

एक व्यक्ति बाह्य तप का अभ्यासी है, वह भूख और प्यास के दुःख को समभाव से सहन करके उस दुःख का निवारण कर सकता है। जो ऊनोदरी, वृत्ति-परिसख्यान या रस-परित्याग तप का अभ्यासी है, वह अन्न, पान, वस्त्र आदि आवश्यक साधनो के न मिलने, कम मिलने, अथवा मनोऽनुकूल न मिलने पर भी इसे तप समझ कर सन्तुष्ट हो सकता है, यथालाभ सन्तोष मानकर सुखी हो सकता है। शरीर की आवश्यकताओ की पूर्ति न होने पर भी साधक तप द्वारा उक्त दुःख का निवारण करके सुखी हो सकता है, किन्तु मन की आवश्यकताओ से बहुत से साधक खिन्न हो जाते हैं, जैसे कि कई साधको के मन मे यश-कीर्ति, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि की लालसा उत्कट रूप मे होती है। बहुत-से साधक तो इसके लिए बहुत ही उखाड-पछाड करते रहते है। वे तपस्या करते है, चातुर्मास करते है या कही व्याख्यान देने जाते हैं तो पहले से वे तथाकथित भक्तो को तैयार करते है—पत्रिका छपनी चाहिए, प्रचार होना चाहिए। इसी से धर्म-प्रभावना होती है। सभी पत्र-पत्रिकाओ मे इसके समाचार प्रशसात्मक शब्दो मे छपने चाहिए। इस प्रकार वित्तैषणा और पुत्रैषणा (शिष्यैषणा या भक्तैषणा) से ऊपर उठ जाने के बाद भी साधक लोकैषणा को नही छोड सकते। जबकि भगवान् महावीर ने साधको को स्पष्ट शब्दो मे आदेश दिया है—

न लोगस्सेसण चरे।

—लोकैषणा मे मन को न रमाए।

वर्तमान युग का साधक सेवा (वैयावृत्य तप) भी करता है, बाह्य तप भी करता है, स्वाध्याय-तप भी करता है, ध्यान भी करता है, किन्तु सेवा, तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि का तोल वह यश से करता है। उसका लक्ष्य

उक्त आभ्यन्तर तपस्याओ के साथ भी यशोलिप्सा का रहता है। यश का मोह उसे साम्प्रदायिक, धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सभी क्षेत्रो मे बेचैन कर डालता है। अगर साधक को तपस्या, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान आदि के साथ प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि न मिली तो वह आन्तरिक दु ख से बेचैन हो उठता है। अशान्ति छाई रहती है, उसके मानस मे। इसीलिए कुर्मापुत्र अर्हतर्षि कहते हैं—

जणवादो ण ताएज्जा, अत्थित्त तवसजमे।
समाहि च विराहेति, जे रिट्ठचरियं चरे ॥३॥

—तप-सयम के अस्तित्व मे भी यदि लोकैषणा (जनवाद) है, तो वह साधक की आत्मा की रक्षा नही कर सकती, क्योकि जो साधक लोकैषणा आदि अभीष्ट चर्या (इष्टसयोग की प्राप्ति) मे पडता है, वह समाधि को भी खो बैठता है।

वास्तव मे लोकैषणा मे पडने वाले गृहस्थ या साधु दोनो ही अपनी मानसिक शान्ति (समाधि) को खो बैठते है। वे रात-दिन इसी उधेड बुन मे रहते है कि किसी प्रकार से प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त हो। कई बार तो दूसरो को नीचा दिखाकर, उनको झूठ-मूठ बदनाम करके, उस पर अपनी प्रतिष्ठा का महल खडा करते है। अत साधक को दु खमुक्ति या सुखप्राप्ति के लिए लोकैषणा रूप इच्छा का निरोध करना चाहिए, यही तप उसकी सुख-शान्ति मे वृद्धि करेगा।

सुखशान्ति के लिए निन्द्य आचरण से दूर रहे

इस गाथा का एक दूसरा अर्थ भी है, वह भी दु खमुक्ति या सुख-प्राप्ति के उपाय के रूप मे घटित होता है।

आक्षिप्त, अर्थात्—(जो सयमपथ से गिर जाता है, पद-पद पर साधुजीवन के मौलिक नियमो के विरुद्ध घृणित आचरण करता है, ऐसे) निन्दित पुरुष—को जनवाद त्यागता नही है। अर्थात्—जनसाधारण तीव्र-रूप से उसकी निन्दा और भर्त्सना करता है। फलत ऐसा साधक या गृहस्थ मानसिक दु ख से आक्रान्त होकर तप, सयम और समाधिभाव भी खो देता है, वह कभी हिंसा आदि अनिष्ट आचरण के लिए भी तत्पर हो जाता है।

फलितार्थ यह है, जो साधु या गृहस्थ सुख, शान्ति और समाधि प्राप्त करना चाहता है, उसे जिससे लोकनिन्दा हो, ऐसे निन्दनीय-गर्हणीय आचरण से दूर रहना चाहिये।

कामना, वासना, और प्रमादवृत्ति से दूर रहे

जो साधु या गृहस्थ अपने जीवन मे मानसिक एव शारीरिक सुख-शान्ति चाहता है, उसे ऋषि कुर्मापुत्र प्रेरणा देते हैं—

आलस्सेणावि जे केइ, उस्सुअत्त ण गच्छति।
तेणावि से सुही होइ, कि नु सिद्धि (सद्धी) परक्कमे ॥४॥

आलस्स नु परिण्णाए जाती-मरण-बधण।
उत्तमट्ठ-वरग्गाही, वीरियातो परिव्वए ॥५॥

काम अकामकारी, अत्तत्ताए परिव्वए।
सावज्ज णिरवज्जेण, परिण्णाए परिव्वएज्जासि ॥६॥

—जो व्यक्ति आलस्यवश भी उत्सुकता (लोकैषणादि इच्छा) के पथ पर नही जाता, उससे भी वह सुखी हो सकता है। किन्तु वह अनन्तसुखयुक्त मोक्ष की दिशा मे पुरुषार्थ (पराक्रम) करे तब तो कहना ही क्या, वह अवश्य ही सिद्धि (सफलता) प्राप्त कर सकता है।

यो तो आलस्य (प्रमाद)—मोक्ष के - कर्ममुक्ति के लिए अपुरुषार्थ—एक प्रकार से जन्म-मरण के बधन के रूप मे परिज्ञात है। अत उत्तमार्थ (मोक्ष) ग्राही आत्मा को शक्ति (आत्मबल) के साथ मोक्ष मार्ग की ओर चलना चाहिए।

(सुखप्राप्ति दु खमुक्ति के लिए) साधक को काम को अकाम बनाकर अर्थात् काम पर विजय प्राप्त करके आत्मा की दिशा मे विचरण करना चाहिए। सावद्य को उसके प्रतिपक्षी निरवद्य सेज्ञ परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्याख्यान (त्याग) करे।

निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति के जीवन मे कहाँ प्रमाद और कहाँ अप्रमाद पूर्वक पुरुषार्थ होना चाहिए ? इसके लिए उपर्युक्त तीन गाथाओ द्वारा सुख-प्राप्ति के सन्दर्भ मे बताया गया है कि लोकैषणादि, काम (इच्छाकाम और मदनकाम) अर्थात्—कामना एव वासना, तथा सावद्यक्रिया, इनमे साधक पुरुषार्थ न करे, इनमे प्रमादी रहे, तभी वह इनसे होने वाले शारीरिक—मानसिक दु खो से मुक्त होकर सुखी हो सकता है। साधक एकान्त रूप से तभी सुखी हो सकता है, जब वह कर्म-मुक्ति—मोक्ष प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करे, उसमे जरा भी प्रमाद न करे।

पचम उपाय अदीनवृत्ति से दु ख सहन करो

इच्छाजन्य दु ख पर भी साधक विजय पाए, फिर पूर्वकृत अशुभ-कर्मवश उसे शारीरिक वेदना—पीडा सता सकती है। उस समय वह उक्त

दु ख से मुक्त होने के लिए क्या करे ?दु ख आने पर उसे भोगना तो पडता ही है, चाहे व्यक्ति हँसते-हँसते भोगे या रोते-रोते भोगे । जब कोई साधक अपने पर आये हुए सकट, कष्ट या दु ख को रोते-रोते, दीन-हीन मनोवृत्ति के साथ भोगता है, तो उससे दु ख कम नही होता, बल्कि अशुभ कर्मबन्धन करके वह व्यक्ति भविष्य मे अनेक दु खो के बीज बो देता है। अत कुर्मा-पुत्र ऋषि का यह परामर्श है कि किसी भी प्रकार के दु ख से आक्रान्त होने पर साधक दीन-हीनवृत्ति मे उस दु ख मे उलझे नही, बल्कि तेजस्विता—अदीनता के सा र उस दु ख का सामना करे, उसे पूर्ण समभाव के साथ, पूर्वकर्मकृत दु ख मानकर सहन करे। इससे कर्मनिर्जरा भी होगी, व्यक्ति सदा के लिए दु ख का अन्त भी कर सकेगा ।

महासती सीता, अजना, दमयती आदि पर दु खो के पहाड टूट पडे थे, वे सब ओर से तिरस्कृत, निरुपाय, सकटग्रस्त और सतप्त हो चुकी थी, फिर भी उन्होंने हिम्मत नही हारी, उन दुखो के समय किसी भी निमित्त को नही कोसा, स्वकृत कर्मो को ही दुखो का कारण माना। अत न ही दीनता दिखाई न ही अधीरता बताई, किन्तु दु खो को समभाव से सहकर कर्म-निर्जरा की, आत्मशुद्धि की ।

अत दुखमुक्ति के जो पाच उपाय अर्हतर्षि ने कुर्मापुत्र बताएँ हैं, उन पर चलकर क्या साधु, क्या गृहस्थ, क्या सघ और क्या राष्ट्र, सभी स्थायी और अक्षय सुख को प्राप्त कर सकते हैं। आप भी इन उपायो पर मुस्तैदी के साथ कदम बढाएँ और अक्षय सुख को प्राप्त करे ।

□

१०

दुःख विमुक्ति के लिए ग्रन्थच्छेद

शरीर के सम्बन्ध से आत्मा ग्रन्थयुक्त होता है

धर्मप्रेमी श्रोताजनो ! हमारे जीवन के दो भाग है। एक भाग शरीर है और दूसरा भाग आत्मा है। दोनो भाग मिलकर हमारा इहलौकिक जीवन बनता है। केवल आत्मा से हम साधना नही कर सकते है। शरीर साथ मे रहता है, तभी हम साधना कर सकते हैं। भारतीय दर्शनो मे शरीर को आत्मा का मन्दिर माना है। आत्मा देवता है, शरीर उसका मन्दिर है। यह ठीक है कि शरीररूपी मन्दिर की सार-संभाल होनी चाहिए, परन्तु उससे भी बढकर हमे ध्यान रखना है, आत्म-देवता की पूजा का, जो शरीर मन्दिर मे विराजमान है।

आज अधिकाश लोग शरीररूपी मन्दिर की पूजा करते है। इसकी भूख और प्यास के लिए, इसके निवास के लिए, इसकी सर्दी-गर्मी-वर्षा आदि से रक्षा के लिए तथा अन्यान्य आवश्यकताओ—जैसे कि गमनागमन के लिए, आरोग्य आदि के लिए, आवश्यकता से अधिक साधन जुटाये जाते हैं। उदाहरण के तौर पर—शरीर की भूख मिटाने के लिए सादा और स्वास्थ्य-कर आहार चाहिए, परन्तु स्वादवश या मोहवश अधिकाधिक चटपटा, गरिष्ठ, पौष्टिक, तामस या राजस आहार जुटाया जाता है। शरीर को रहने के लिए एक मकान चाहिए, पर पाच दस मकान बनाये जाते हैं, अधिकाधिक मकानो पर स्वामित्व एव ममत्व रखा जाता है। शरीर की रक्षा के लिए थोडे-से सादे वस्त्र चाहिए परन्तु आवश्यकता से अधिक वस्त्र—एक से एक भडकीले, मुलायम, बारीक वस्त्र जुटाये जाते है तथा उन सब पर स्वामित्व और ममत्व रखा जाता है। इसके अतिरिक्त धन-सम्पत्ति, दुकान, कारखाना, मोटर आदि सवारी, पशु धन, आदि भी शरीर और शरीर से सम्बन्धित परिवार आदि की सुख-सुविधा के लिए जुटाये जाते हैं।

यह तो हुई शरीर के लिए बाह्य परिग्रह (ग्रन्थ) की बात। फिर शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ के प्रति मोह, ममत्व, मूर्च्छा, लोभ, राग, द्वेष, वासना-कामना आदि होते हैं, उन्हे भी आप शरीर की आवश्यकताओ की पूर्ति के रूप मे मान लेते हैं। जिस प्रकार धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद आदि ९ बाह्य ग्रन्थ (परिग्रह) हैं, उसी प्रकार १४ आभ्यन्तर परिग्रह (चार कषाय, नौ नोकषाय और मिथ्यात्व) या ग्रन्थ है। इन बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थो से विरक्त—ममत्वमुक्त रहने वाला 'निर्ग्रन्थ' कहलाता है। भगवान् महावीर को जैन और बौद्ध ग्रन्थो मे 'निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र' कहा गया है।

निर्ग्रन्थ साधु को ग्रन्थ-छेदन का उपदेश क्यो ?

प्रश्न होता है कि साधु तो निर्ग्रन्थ--ग्रन्थमुक्त होता है, फिर उसे ग्रन्थ-विमुक्ति का उपदेश क्यो दिया जाता है ? इसके समाधान के लिए हमें जरा तात्त्विक गहराई मे उतरना होगा। यद्यपि साधु निर्ग्रन्थ कहलाता है, तथापि उसने शरीर, वस्त्र, पात्र, पुस्तक तथा अन्य धर्मोपकरण आदि छोडे नही हैं। इन पर से ममता-मूर्च्छा और आसक्ति छोडने के कारण वह निर्ग्रन्थ कहलाता है, परन्तु अगर उसके मन के किसी कोने मे इन पर तथा अपने पूर्वाश्रम के सगे-सम्बन्धियो, वर्तमान सन्यासाश्रम के भक्त-भक्ता, श्रावक-श्राविका शिष्य-शिष्या अथवा सम्प्रदाय एव सम्प्रदायगत साधु-साध्वी के प्रति ममता-मूर्च्छा आ जाती है, या होती है तो वह पुन ग्रन्थयुक्त हो जाता है।

अथवा पूर्वाश्रम मे भुक्त अथवा साधु जीवन मे अकल्पनीय वस्त्र, गन्ध, आभूषण, स्त्रिया, शय्या, आसन आदि कामभोगो के प्रति मूर्च्छित हो जाए तो वह निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट हो जाता है। निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट या दूर साधु अनेक अशुभ कर्मो का बन्ध तथा चिन्ता, व्याधि आदि नाना दु खो को आमत्रित करता है। जिस प्रकार बाह्य उपकरणो तथा सम्बन्धियो के प्रति आसक्ति या ममता ग्रन्थ है, उसी प्रकार राग और द्वेष एव मिथ्यात्व भी आभ्यन्तर ग्रन्थ है। अपने सम्प्रदाय या अपनी परम्परा के प्रति राग और दूसरे सम्प्रदाय या परम्परा के प्रति द्वेष, यह चाहे साधु जीवन मे हो, चाहे गृहस्थ जीवन मे भयानक ग्रन्थ है। इसी प्रकार के अनेक प्रसग राग-द्वेष के आते हैं, जब साधु वर्ग भी उसी प्रवाह मे बह जाता है, तब निर्ग्रन्थ के बदले वह ग्रन्थयुक्त हो जाता है। निर्ग्रन्थ के जीवन मे क्रोध, अभिमान, माया और लोभ, ये चारो आभ्यन्तर ग्रन्थ त्याज्य है।

आज सामाजिक मान-प्रतिष्ठा के व्यामोह मे फँसे हुए निर्ग्रन्थ दम्भ-

ग्रन्थी से मुक्त नही है। जिसे निर्ग्रन्थता स्वीकारनी है, उसके अन्तर्मन मे यह नाद गूंजता रहेगा—मुझे सामाजिक प्रतिष्ठा नही चाहिए, मुझे तो आध्यात्मिक निष्ठा प्राप्त करनी है। निर्दम्भता के बिना निर्ग्रन्थता नही है, यह बात निर्ग्रन्थ मुनि के हृदय मे स्थिर हो जानी चाहिए।

अर्हतर्षि केतलीपुत्र ने ग्रन्थ-छेदन को निर्ग्रन्थ जीवन मे अनिवार्य बताते हुए कहा है—

इह उत्तमो गथ-छेयए (चेयए) रह-समिया लुप्पति।
गच्छती सम वा छिद पावए ॥२॥

सय वोच्छिदय कम्मसचय।
कोसारकीडेव जहाइ बधण ॥४॥

तम्हा एव वियाणिय गथजाल दुक्ख दुहावह छिदिय ठाइ सजमे।
से हु मुणी दुक्खा विमुच्चइ धुव सिव गइ उवेइ ॥५॥

अर्थात्—उत्तम निर्ग्रन्थ वह है, जो बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थो को तोडता है, अथवा जानता है। जैसे रथ (गम्या) चक्र से बनी हुई रेखा को पीछे छोडता जाता है, इसी प्रकार आत्मारूपी रथ की गमनादि क्रिया के अनुरूप जो शुभाशुभ कर्म का बन्ध होता है, उन पाप कर्मो का छेदन—नाश करो।'

—कोशार नामक रेशम का कीडा जैसे स्वयकृत बन्धन को स्वय तोडता है, उसी प्रकार ग्रन्थछेदक महामुनि भी स्वय बाँधे हुए कर्मो के बन्धन को स्वय तोडता है। अर्थात्—कोशार कीट की भाँति मुनि बन्धन को तोडकर स्वय मुक्त होता है।

—इस प्रकार ग्रन्थजाल को दुखरूप और दुख का कारण जानकर निर्ग्रन्थ साधक उसका छेदन करता है और सयम मे स्थित होता है। वही (ग्रन्थ-छेदक) मुनि दुख से सर्वथा मुक्त होता है। और आयुष्य पूर्ण होने पर शाश्वत शिव रूप सिद्धगति (मुक्ति) को प्राप्त कर लेता है। सचमुच राग-द्वेष की गाठ को तोडने वाला उत्तम मुनि लोकबन्धन (ससार के जन्ममरण रूप बन्धन) का त्याग करता है।

ग्रन्थ-विच्छेद क्यो और कैसे ?

हाँ, तो निष्कर्ष यह है कि जब व्यक्ति बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थो से मुक्त हो जाता है, तब वह शरीर को ही, अर्थात्—आत्मदेवता के मन्दिर की

ही—पूजा करने लग जाता है। आत्मा की पूजा को उपेक्षित और परित्यक्त कर दिया जाता है। इसी दृष्टिकोण को मद्देनजर रखकर अर्हत ऋषि तेतलीपुत्र ने आठवें अध्ययन मे इसी ग्रन्थच्छेद पर भार दिया है, ताकि आत्मदेवता की पूजा ठीक तरह से हो सके।

पूर्वोक्त ग्रन्थ का अर्थ पुस्तक नही, किन्तु एक प्रकार की गाठ है जो शरीर से सम्बन्धित है। जिससे वह आत्मदेवता की सेवा-पूजा से दूर हट जाता है, केवल शरीर की ही सेवा-पूजा होती है।

आप कहेगे कि इन गाठो (ग्रन्थो) को तोडने का जहाँ तक प्रश्न है, वह केवल निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी के लिए है, हम गृहस्थो के लिए नही है। किन्तु ऐसी बात नही है। आप भी निर्ग्रन्थोपासक है—श्रमणोपासक हैं अथवा श्रमण सस्कृति के उपासक है। इसलिए आप भी अगर अपना जीवन सदा के लिए सुखी, सच्चिदानन्दमय बनाना चाहते हैं तो आपको भी इन ग्रथो का अमुक सीमा मे त्याग करना या इन्हे कम करना ही चाहिए। जैसे कि भगवान् महावीर ने गृहस्थ श्रमणोपासक को बाह्यग्रन्थो की सीमा के लिए पाँचवा परिग्रह-परिमाणव्रत, छठा दिशापरिमाणव्रत एव सातवाँ उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत, आठवाँ अनर्थदण्डविरण तथा बारहवाँ अतिथि-सविभागव्रत बताए हैं, तथा आभ्यन्तर ग्रन्थ को सीमित करने के लिए पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, नौवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ व्रत बताया है।

यह तो निर्विवाद है कि श्रमणोपासक के जीवन मे अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानी कषाय तथा कुछ अशो मे नोकषाय एव मिथ्यात्व ये १४ आभ्यन्तर ग्रन्थ कम से कम नही होने चाहिए। ये ग्रन्थ होते है तो तीव्र अशुभ कर्मबन्ध होते हैं और उनके फलस्वरूप नाना दु ख भोगने पडते हैं।

ग्रन्थ-छेदन का उपाय

प्रश्न यह है कि इन ग्रन्थियो का—बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थो के छेदन करने का उपाय क्या है। अर्हतर्षि केतलीपुत्र ने इसके लिए इस (अष्टम) अध्ययन की प्रथम गाथा में ही सकेत कर दिया है—

आर दुगुणेण, पारं एकगुणेण।
केतलीपुत्तेण इसिणा बुइत ॥१॥

(बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थो के छेदन का सर्वोच्च विधेयात्मक उपाय) आर अर्थात् इस लोक मे (मानव को प्राप्त) दो गुणो (ज्ञान और

चारित्र) से और पार अर्थात्—परलोक मे एक गुण (ज्ञान) से (ग्रन्थ छेदन) होता है, ऐसा तेतलीपुत्र अर्हतर्षि ने कहा है।

वास्तव मे अर्हतर्षि केतलीपुत्र ने ज्ञान और चारित्र दोनो को इहलोक मे ग्रन्थ-छेदन का कारण इसलिए बताया है कि ज्ञान का आत्मा से सीधा सम्बन्ध है और चारित्र का शरीर से, क्योकि ज्ञान आत्मा का निजगुण है और वह जैसे इस भव मे आत्मा के साथ रहता है, वैसे परभव मे भी जाता है, किन्तु चारित्र आत्मा का गुण होते हुए भी उसका पालन क्रियात्मक होने से बहुधा शरीर मे होता है। मानव शरीर यही नष्ट हो जाता है, वह परलोक मे साथ नही जाता। परलोक मे उसके द्वारा अर्जित ज्ञान साथ मे जाता है चारित्र नही। 'भगवती सूत्र' मे भगवान् से गौतम स्वामी द्वारा पूछा गया -

(प्र०) इहभविए भंते ! नाणे, परभविए नाणे, तदुभयभविए णाणे ?

(उ०) गोयमा ! इहभविए वि नाणे, परभविए वि नाणे, तदुभय-भविए वि नाणे।

(प्र०) इहभविए भंते ! चरित्ते, परभविए चरित्ते, तदुभय भविए चरित्ते ?

(उ०) गोयमा ! इहभविए चरित्ते, नो परभविए चरित्त, नो तदुभय भविए चरित्ते।

(प्र०) भगवन् ! ज्ञान इस भव मे आत्मा के साथ रहता है या परभव मे अथवा दोनो भवो मे ?

(उ०) गौतम ! ज्ञान इस भव मे आत्मा के साथ रहता है, परभव मे भी और दोनो भवो मे भी आत्मा के साथ रहता है।

(प्र०) भगवन् ! चारित्र इस भव मे आत्मा के साथ रहता है, या परभव मे, अथवा दोनो भवो मे रहता है ?

(उ०) गौतम ! चारित्र इसी भव मे आत्मा के साथ रहता है, परभव मे नही रहता, और न दोनो भवो मे साथ रहता है।

वास्तव मे, ग्रन्थ-छेद आत्मिक ज्ञान के द्वारा ही होता है।

भगवान् महावीर के मुख्य पट्टधर शिष्य गणधर गौतम स्वामी से केशी श्रमण ने पूछा–दो प्रकार के वेष एव दो प्रकार की क्रिया करते हुए भी अर्थात्—दो प्रकार के धर्म होते हुए भी आपको विप्रत्यय (सशय) क्यो नही होता ? उन्होने उत्तर दिया—

पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्त तत्त-विणिच्छय

'प्रज्ञा (सद्-असद् विवेकशालिनी बुद्धि) से तात्त्विकरूप से निश्चित धर्मतत्त्व का समीक्षण करो।'

आप और हम अनेक पदार्थों को देखते है, बाह्य दृष्टि से देखना और वस्तु तत्त्व को गहराई से जानने-देखने मे रात-दिन का अन्तर है।

सम्यक्ज्ञान मे आत्मा की स्मृति रहती है मैं अनन्त शक्तिमान आत्मा हूँ मैं जड से अलग हूँ, देह मरता है, आत्मा नही'', ऐसी स्मृति जहाँ रहती है, उस ज्ञान के समक्ष अज्ञान टिक नही सकता। ''ग्रन्थ कौन-कौनसे है? वे मेरी आत्मा पर कैसे हावी हो जाते हैं? वे कैसे दूर किये जा सकते है? पूर्वजन्मकृत या इस जन्म मे पूर्वकृतकर्मो के कारण कौन-कौन से कर्म मेरी आत्मा के विकास को रोके हुए है? वे कैसे दूर किया जा सकते है? इत्यादि सब आत्मस्मृतिमूलक सम्यग्ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है। मैं आत्मा हूँ। ऐसी स्मृति सदैव आत्मा में रहेगी, तभी आत्मा की विशुद्धि करने की तीव्र भावना, इच्छा या विचारणा जागेगी। आत्मस्मृति आत्मा को 'स्वभाव' मे स्थित रखने का कारण बनेगी। वही परमात्मा का स्मरण करायेगी।

गजसुकुमाल मुनि ने जिस दिन भगवान् नेमिनाथ से दीक्षा ली, उसी दिन उन्होने ग्रन्थो के कारण कई भवो के बधे हुए कर्मजाल को तोडकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का उपाय—अर्थात् आत्मा की पूर्ण विशुद्धि का उपाय भगवान् से पूछा। भगवान् ने अपने ज्ञान मे उनका आयुष्य अत्यल्प देखा, उनकी आत्मशक्ति, मनोबल एव परिणामो की धारा देखी। उन्होने उन्हे महाकाल नामक श्मशान मे एक पुद्गल पर दृष्टि एकाग्र करके कायोत्सर्ग करने और किसी भी प्रकार का उपसर्ग हो तो उसे समभाव से सहन करने का आदेश दिया।

गजसुकुमाल मुनि वहाँ आत्म-स्मृति को सतत जागृत रखकर कायोत्सर्ग मे लीन हो गये। उपसर्ग कितना घोरतम था? मुण्डित मस्तक पर धधकते अगारे रखने पर शरीर को कितनी वेदना होती है? परन्तु उन्होने शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान को आत्मसात् कर लिया था। यही कारण है कि पूर्वभवो के ग्रन्थो के कारण बधे हुए घोरकर्मों को उन्होने तोड डाला और रागद्वेष एव कषाय रूप ग्रन्थ को आत्मज्ञान के बल पर आने ही नही दिया, जिसके कारण नये कर्मों का आगमन बिलकुल रुक गया और

समस्त कर्मो को क्षय करके केवलज्ञानी एव सिद्ध-बुद्ध- मुक्त तथा अर्हतर्षि केतलीपुत्र के शब्दो मे 'सर्वदु खविमुक्त' हो गए।

यह है ग्रन्थ-छेदन का इहभव मे सर्वोत्तम उपाय ज्ञान और चारित्र का सगम। परभव मे तो कदाचित् तिर्यञ्च देव या नरकगति मे जाने पर चारित्र का मिलना तो अत्यन्त दुर्लभ है। वहाँ तो सम्यग्ज्ञान की शक्ति है, जिसके द्वारा देव आदि पुण्यवृद्धि कर सकते है, सर्वकर्मक्षय नही। आपको भी ज्ञान और चारित्र के द्वारा ग्रन्थ-छेदन का अवसर मिला है, इस उपाय को जीवन मे अपनाइये और दु खो से मुक्त बनिये। □

११

जन्म और कर्म का गठबन्धन

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

क्या आप बता सकते हैं कि इस ससार मे प्राणी बार-बार जन्म क्यों लेते है ? एक मनुष्य यहाँ से मर कर कभी मनुष्य बनता है, कभी पशु-पक्षी, कभी नारक बनता है तो कभी देव । इस प्रकार नाना रूपो मे प्राणी जन्म लेता है, उसका क्या कारण है ? क्या इस जन्म और मरण की शृखला का कभी अन्त भी हो सकता है ? अथवा जन्म-परम्परा को शिथिल किया जा सकता है ? आपके मन में इसका समाधान जानने की उत्सुकता जाग रही होगी ? तो लीजिए इस पहेली का समाधान अर्हतर्षि महाकाश्यप नौवे अध्ययन में करते है । उन्ही के शब्दो मे देखिए—

'जाव जाव जम्म, ताव ताव कम्म
कम्मुणा भो पया सिया ।
समिय उवनिच्चिज्जइ अवचिज्जइ य ।।"

—जब तक जन्म है, तब तक कर्म है ।

— कर्म से ही प्रजा उत्पन्न होती है ।

—सम्यक्चारित्र के अनुसरण से कर्मों का अपचय (शैथिल्य) होता है, और वे सम्पूर्ण रूप से क्षय भी हो सकते हैं । इस प्रकार महाकाश्यय अर्हतर्षि ने कहा ।

आशय यह है कि जहाँ जन्म हुआ, वहाँ कर्म अवश्य होगे । शरीर छोडते समय अगर कर्म शेष होगे तो फिर जन्म भी अवश्य लेना पडेगा । इस प्रकार जन्म और कर्म का चक्र तब तक चलता रहेगा, जब तक कर्मों का सर्वथा क्षय नही हो जाएगा । कर्मों का सर्वथा क्षय होने पर जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाएगा, फिर मोक्ष मे जीव चला जाएगा, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाएगा ।

अर्हतर्षि महाकाश्यप ने अपने उद्गार मे साथ-साथ यह भी सूचित

कर दिया है कि अगर तुम्हे भव भ्रमण समाप्त करना है तो कर्म को समाप्त कर दो।

जन्म-मरण रूप ससार (भव) मे भ्रमण कराने वाला मूल कारण कर्म है। कारण के समाप्त होते ही कार्य भी समाप्त हो जाएगा। अगर कर्म परम्परा को रोकना या शिथिल करना चाहते हो तो सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त सम्यक्‌चारित्र का पालन करो। क्योकि कर्म रहेगा तो जन्म होता रहेगा, और जन्म होगा तो फिर नये कर्मो का सचय होता रहेगा।

जन्म-कर्म के अन्योन्याश्रय सिद्धान्त का प्रतिपादन करके महर्षि महाकाश्यप ने भगवान् महावीर के कर्म सिद्धान्त का सुन्दर प्रतिपादन कर दिया है। उत्तराध्ययन सूत्र (३२/७) मे भगवान् महावीर ने यही कहा है—

कम्म च जाइ-मरणस्स मूल

—कर्म ही जन्म-मरण का मूल है।

ये कर्म ही है जो मनुष्यो को विभिन्न गतियो, और योनियो मे भटकाते है नाना रूप धारण कराते है। कर्म-परम्परा ही मनुष्य को अनेक नाच नचाती है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—

एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया।
एगया आसुर काय, अहाकम्मेहि गच्छइ ॥३॥
एगया खत्तिओ होई, तओ चडाल वोक्कसो।
तओ कीड-पयगो य, तओ कुन्थुपिवीलिया ॥४॥

कर्मानुसार जीव कभी देवलोको मे जाता है, तो कभी नरको मे जाता है तथा कभी आसुर-काय मे उत्पन्न होता है। इसी प्रकार कभी वह क्षत्रिय होता, कभी चाण्डाल और बुक्कस (शूद्र) होता है। फिर कभी कीट, पतग, कुन्थुआ एव चीटी के रूप मे जन्म लेता। मतलब यह है कि ससार के इस नाटक का सूत्रधार कर्म है। कर्मों के कारण ही ससार के रगमच पर होने वाली विचित्रताएँ, घटनाएँ, विविध गतियो, योनियो एव जाति-कुलो मे जन्म आदि सब है। ससार के इस भयानक नाटक के दृश्यो को समाप्त करना है तो कर्मरूपी सूत्रधार को बिलकुल हटाना होगा।

अशुभ कर्मों के अशुभ परिणाम

यह तो निश्चित है कि मनुष्य जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल पाता है। नीम का बीज बोकर कोई भी आम का फल पाना चाहे, यह हो नही सकता।

कोई यह कह सकता है कि कर्मों का सचय होने से क्या हानि है? हम ससार मे यह देखते है कि एक व्यक्ति अच्छे-अच्छे कार्य कर रहा है,

फिर भी दु खी है, अभावग्रस्त है, पीड़ित है और दूसरा उसी की जाति का, उसी के पडौस मे रहने वाला हत्यारा, लुटेरा, डाकू या व्यभिचारी है, वह मौज मे है उसके पास पैसा भी है, सुख के साधन भी है। फिर अच्छे कर्म करने से क्या लाभ ?

इन दोनो प्रश्नो के सन्दर्भ मे ही अर्हतर्षि महाकाश्यप शुभकर्मों (पुण्य) के फल के विषय मे आगे बताएँगे, फिलहाल पाप-कर्मो के फल विषय में बताते हुए कहते हैं। इसका भावार्थ यह है—

"जब तक आत्मा कर्मों से विहीन नही होती, तब तक इस ससार में उसका पुन पुन आवागमन चालू रहता है। वह अशुभ कर्मो के फलस्वरूप नरक, तिर्यञ्च या मनुष्यगति मे ऐसी जगह जन्म लेता है जहाँ उसके हाथ काटे जाते है, कही पैर काटे जाते हैं, कही कान छेदे जाते है। कही नाक, होठ या जीभ का छेदन होना है। कही सिर को दण्ड दिया जाता है, कही (चोर या व्यभिचारी आदि का) सिर मड दिया जाता है। कही जीव को उद्विग्न करके कूटा-पीटा जाता है, कही उसका तर्जन किया (झिडका) या ताडन (मारा-पीटा या हैरान) किया जाता है। कही पर प्राणियो का वध किया जाता है तो कही उसे बधनो मे जकडा जाता है। कही उसे चारो ओर से (हैरान परेशान करके) क्लेश (कष्ट) दिया जाता है।'

"कही शृखला और बेडो के बन्धन हैं तो कही जिंदगी भर बन्धन ही बन्धन है। कही युगलरूप मे शृखला में जकडा जाता है। कही सिकोड कर, मोडकर कष्ट दिया जाता है। कही किसी के हृदय (वक्षस्थल) उखाडे जा रहे है। कही किसी के दॉत तोडे जा रहे है। कही किसी वृक्ष की शाखा से बाधा जा रहा है। कही किसी को शृखला से बाध कर उलटा लटकाया जाता है। कही किसी को घसीटा जा रहा है। कही किसी को घाणी मे पीला जा रहा है। कही किसी को पूछ से बाध कर चमेडी उधेडी जाती है, कही आग लगाकर जला दिया जाता है। किसी को आहार-पानी देना बद कर दिया जाता है। कही कोई दुर्गति, दरिद्रता, फजीहत आदि के दु ख से पीडित है, कोई भोजन के अभाव मे तो कोई अभोज्य भोजन के कारण दु खी है। कोई दिन-रात पारिवारिक या आर्थिक चिंताओ से व्यथित है।"

इसके अतिरिक्त इस ससार मे जन्म लेने के कारण नाना प्रकार के पारिवारिक ममत्व सम्बन्ध बध जाते है। कही लोगो से वैसे ही मोह-ममता-पूर्ण सम्बन्ध जुड जाता है। उनके ससर्ग से भी अनेक प्रकार के दु ख सताते है, उनका प्रतिपादन भी अर्हतर्षि महाकाश्यप करते है—

"किसी के भाई की मृत्यु हो जाती है, किसी का बहन की मृत्यु होती है, कभी पुत्र-पुत्री या पत्नी की मृत्यु होती है अथवा अन्य स्वजन-परिजन की मृत्यु होती है। अथवा उनको दरिद्रता दुर्भोजन, मानसिक चिन्ताएँ, अप्रिय-सयोग एव प्रिय का वियोग होना है या अपमान, घृणा, पराजय या अन्य अनेक दु ख व दुश्चिन्ताएँ होती है तो स्वय दु ख एव दुश्चिन्ताओ का अनुभव करते हुए आत्मा अनादि-अनन्त दीर्घ-मार्गयुक्त चातुर्गतिक ससार-सागर में परिभ्रमण करते है।"

यह है जन्म और कर्मो के गठबन्धन का दारुण परिणाम ! ये दु.ख, जो गिनाए गए है, वे तो प्राय मनुष्यभव मे मिलते है, नारक और तिर्यञ्च-गति के अगणित दु खो की करुण कहानी सुनकर तो रोगटे खडे हो जाते है।

उत्तराध्ययन (अ १९) मे मृगापुत्र ने नरक के दु खो का वर्णन करते हुए कहा है -"नरक मे कितने-कितने भयकर कष्ट मैंने सहे है। नरक की कुम्भी मे मैं अनेक बार गिराया और पकाया गया हूँ। नरक की प्रचण्ड अग्नि मे मैं अनेक बार जला हूँ। नरक के शाल्मली वृक्ष के तलवार जैसी तीखी धार वाले उन पत्तो से अनेक बार मेरे अग-प्रत्यग काटे गए है। इसे भालो मे पिरोया गया है। यन्त्रो (कोल्हू या घाणी) मे पीला गया है। वहाँ इसकी चीख-पुकार या कष्टकथा सुनने और आश्वासन देने वाला कोई नही था।"

एक कवि ने पाप-कर्मों के कारण होने वाले जन्म-मरण रूप ससार के विविध दु खो की करुणकथा-गाथा गाते हुए कहा है—

दुनिया दु खकारी, तू छोड सके तो छोड, दुनिया० ॥ध्रुव॥
जन्म-मरण का दु ख अनन्ता, दुखडा जैसा सुई चुभन्ता।
साढे तीन करोड ॥ दुनिया दु खकारी० ॥

तो नरकगति और तिर्यञ्चगति के दु खो की कहानी तो कुछ परोक्ष हो सकती है, किन्तु मनुष्यगति के दु ख भी कम नही है। पापकर्मवश मनुष्य मनुष्यगति मे भी भयकर दु खो मे घिरा रहता है। देखिये कवि क्या कहता है—

किसी के घर मे पुत्र कस-सा, किसी के घर मे नारकर्कशा
होती माथा फोड ॥ दुनिया० ॥
किसी के घर मे सासू लडती ननन्द-भौजाई झगडा करती।
बोले कडवा बोल ॥ दुनिया० ॥

सार यह कि जब तक कर्म है, तब तक किसी न किसी रूप मे दु खो के प्रहार आत्मा को सहने ही पडेगे। एक गाथा मे अर्हतर्षि महाकाश्यप कह रहे है—

कम्ममूलमनिव्वाण ससारे सव्वदेहिण ।
कम्ममूलाइ दुक्खाई, कम्ममूल च जम्मणे ॥१॥

"समार के समस्त देहधारियो का भवभ्रमण (अनिर्वाण) कर्मजन्य है, समस्त दु खो का मूल कर्म है और जन्म भी कर्म का ही मूल है।"

निष्कर्ष यह है कि चारगति रूपी ससार मे जन्म लेना ही दु ख रूप है। जन्म के साथ ही भूख, बीमारी, शोक, वियोग, बुढापा, और मृत्यु आदि के दु ख जुडे हुए हैं।

कोई यह कहे कि मेरे पास सोना-चाँदी प्रचुर मात्रा मे है, धन भी बहुत है, अनेक नौकर-चाकर है, मेरा भरा-पूरा परिवार, शरीर भी स्वस्थ एव सुन्दर है, अनेक स्वजन सम्बन्धी है, चल-अचल सम्पत्ति भी अधिक है, सुख पूर्वक जीवन जीने के एक-से एक बढकर साधन है, फिर मुझे कर्म कैसे कष्ट दे सकते हैं ?

किन्तु भाई ! कुदरत का नियम है—पापकर्म जब उदय मे आते हैं तब धनी हो या निर्धन, विद्वान् हो या अविद्वान् राजा हो या रक, स्वस्थ हो या रोगी, किसी को नही छोडते। यह तो मनुष्य का झूठा गर्व है कि कर्म मेरा क्या कर सकते है ? पापकर्म जब फल देने आते है, तब चादी, सोना, रत्न आदि कितने ही लुटा दे, वह फलभोग से बच नही सकता।

भगवान् महावीर जैसे दीर्घतपस्वी को पूर्वकृत पापकर्म के फलस्वरूप कानो मे कील ठोके गए, पैरो पर खीर पकाई गई, अनार्य पुरुषो ने घोर कष्ट दिये।

सीता, अजना, दमयन्ती आदि सतियो को पूर्वकृत अशुभ कर्म के उदयवश घोर कष्ट एव यातनाएँ सहनी पडी। स्कन्दक मुनि को अपने पूर्व-कृत पापकर्म के फलस्वरूप मरणान्तकष्ट मिला। उसमे निमित्त बना उनका ही बहनोई राजा।

अत चाहे कोई तीर्थंकर हो, साधु-साध्वी हो, सती हो या शासक हो, धनिक हो या विद्वान् हो, कर्म किसी प्रकार की रियायत नही करते।

कहा भी है—

यह कर्मो का फल तो पाना पडेगा,
चाँदी लुटाले, चाहे सोना बहाले,
किस्मत का लिखा दु ख तो उठाना पडेगा ॥
न कर्मों के आगे, कोई पेश चलती,
कर्मों की रेखा, टाले न टलती।
यह हिसाब तो हँसके या रोके, सबको चुकाना पड़ेगा ॥१॥

कभी धूप यहा पे, कभी यहाँ पे छाया।
समझ ले यह कर्मो की सारी माया ।।
धूप छाँव के इस खेल मे तो हरदम तुझको मुस्काना पडेगा ।।२।।

सचमुच, कर्मों का खेल निराला है। इस खेल के मैदान मे जो सच्चा खिलाडी है, वह तो कर्मो के आगमन के समय सावधान रहता है और प्राचीन कर्मो को तप जप, व्रत, नियम आदि धर्माचरण द्वारा काट देता है अथवा शिथिल बना देता है। निकाचित रूप से न बँधे हुए हो, तो उन अशुभकर्मो को शुभ मे परिणत कर डालता है। परन्तु जो कच्चा खिलाडी है, वह हर शुभाशुभ कर्म के उदय के समय हार खा जाता है, असावधान होकर निमित्तो को कोसने लगता है। अपने उपादान का विचार करके उस कर्म का फल भोगकर क्षय करने का पुरुषार्थ नही करता।

मनुष्य के उत्थान और पतन, सुख और दु ख, उन्नति और अवनति, जीवन और मरण, बाल्य, युवा और वृद्धत्व, धनी और निर्धन, बुद्धिमान् और मदबुद्धि आदि सभी अवस्थाओ का मूल कारण कर्म है।

जैसे कर्म वैसा शरीर और भोग

अब प्रश्न होता है कि एक ही जगह, एक ही समय मे एक ही मा के उदर से जन्मे हुए दो लडको की आकृति, प्रकृति, रूप, रग, बुद्धि आदि मे विषमता क्यो है ? इसी प्रश्न का समाधान अर्हतर्षि म ाकाश्यप करते है—

जहा अडे जहा बीए, तहा कम्म सरीरिण।
सताणे चेव भोगे य, नाणावण्णत्तमिच्छइ ।।६।।

निव्वत्ती वीरिय चेव, सकप्पे य अणेगहा।
नाणा-वण्ण-वियक्कस्स, दारमेय हि कम्मुणो ।।७।।

—जैसा अडा होता है वैसा ही पक्षी भी होता है, जैसा बीज होगा, वैसा ही वृक्ष होगा। इसी प्रकार जैसे कर्म होगे, आत्मा को वैसा ही शरीर मिलेगा। कर्म ही के कारण सतति मे और भोग मे नानात्व दिखाई देता है।

—निर्वृत्ति (रचना), वीर्य (पुरुषार्थ—पराक्रम), अनेकविध सकल्प, नाना प्रकार के वर्ण और वितर्कों का द्वार कर्म है।

वस्तुत यह ससार विचित्रताओ और विरूपताओ का भण्डार है। इसमे कोई भी प्राणी एक-सरीखा नही मिलेगा। एक ही माँ के उदर से पैदा हुए दो लडको मे एक मूर्ख है तो एक विद्वान्। वैदिक दर्शन इस

विविधता का कारण ईश्वरेच्छा बताता है, जबकि जैन दर्शन स्वय प्राणी को ही इसके लिए उत्तरदायी बताता है। जैसे मयूर के अडे से मयूर ही पैदा होता है, आम की गुठली से भी आम ही होता है इसी प्रकार जिसके जैसे कर्म होगे, उसे वैसा ही शरीर मिलेगा। उसी के अनुरूप देहधारियो को नाना प्रकार के भोग मिलेगे। विविधता और विचित्रता आत्मा के द्वारा पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों पर आधारित है।

हर व्यक्ति की शारीरिक रचना, शक्ति और सकल्प (मनोभाव) अलग अलग होते हैं। आत्मा के जैसे सकल्प होगे, उसी दिशा मे उसकी शक्ति लगेगी। सकल्प और शक्ति से ही मानव का जीवन-निर्माण होता है। सत्सकल्प और शक्ति का सत्प्रयोग मानव का सद्रूप मे ढालते हैं। आत्मा सत्सकल्प करता है तो वीय शक्ति उसकी सहचारिणी बन जाती है। और वही शक्ति एव सत्सकल्प महावीर और हनुमान जैसे महामानव बनाते है। असत्सकल्प और असत्शक्ति (शक्ति का दुरुपयोग) मानव को दानव बना देती है। जैसे रावण का उसके दु सकल्प ने ही रावण बनाया।

कर्मों का आगमन क्यो और कैसे ?

एक व्यक्ति मिर्च खाए और चाहे कि मुँह न जले, यह हो नही सकता। आप अपने घर का दरबाजा खुला रखे और फिर कहे कि बाहर का कचरा या धूल न आए, यह भी असभव है। आप कभी यह सोचते है कि आप प्रमादवश अपनी आत्मा के द्वार—आस्रव द्वार खुले रखते हैं, जिनसे कर्मो का धूल या कचरा बहुत तेजी से घुस जाता है। यह भी सोचिये कि आपकी आत्मा मे कितनी जगह से कर्मो का प्रवाह आ रहा है ? आप बारीकी से आत्म-निरीक्षण करे तो पता लगेगा कि प्रतिक्षण आत्मा मे अनन्त-अनन्त कर्मो का प्रवाह आ रहा है। जब इसका फल भोगना पडेगा तब आपको अत्यन्त कष्ट का अनुभव होगा। अगर आपको आत्मा मे कर्मों के प्रवेश होने का भय है तो आप इन द्वारो को तत्काल बन्द कीजिये। इन द्वारो को बन्द किये बिना कर्मो का प्रवाह रुक नही सकता। इन प्रवाहो के रुके बिना कर्मो की भर्ती कम नही होगी। भले ही आप कर्मो की निर्जरा करते हो, परन्तु पहले आपका कार्य होगा—इन आस्रव के द्वार बन्द करना। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच आस्रव द्वार है, कर्मो के आगमन के दरवाजे है। बाहर आधी चल रही और कमरे मे धूल जमी हुई है, ऐसे समय मे समझदार व्यक्ति पहले कमरे का दरवाजा बन्द करता है, ताकि बाहर से धूल आनी बद हो जाए, उसके बाद वह

कमरे के अन्दर पहले से जमी हुई धूल या कमरे को झाड़ू आदि से बाहर निकालता है। इसी प्रकार सर्वप्रथम व्यक्ति को बाहर से आने वाले कर्मों (आस्रवो) के द्वार बद करने चाहिए, तत्पश्चात् पहले से बधे हुए कर्मों का निर्जरा के द्वारा क्षय करके आत्मा से पृथक् करना है।

पुण्यास्रव और पापास्रव

इन पाँच आस्रव द्वारो की सक्षिप्त पहचान आपको बताता हूँ। पहला आस्रव द्वार है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व सबसे बडा दरवाजा है। यह प्राणी को अनेक उलटी और असत् कल्पनाओ मे खीच ले जाता है। अविरति प्राणी को किसी भी प्रकार के पाप का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करने नही देती। कषाय आत्मा को क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त बनाता है, तथा मन वचन काया के दुष्टयोग पाप मे प्रवृत्त करते है और प्रमाद आपको विषयो मे आकर्षित करके धर्म साधना से विमुख करता है। ये पाँच पापास्रव है, इनको रोकना अनिवार्य है।

अब रहे पुण्यास्रव ये भी कथचित् त्याज्य हैं, क्योकि पुण्यास्रव भी पापास्रव की तरह ससार मे परिभ्रमण कराने वाला है। किन्तु इनको छोडने के लिए प्रयत्न करने की जरूरत नही रहती। पुण्यकर्म तो प्राणी भोगते-भोगते या एकदम छोड सकता है। कठिन है पापकर्म का त्याग। इसलिए सभी शास्त्र पापकर्म का त्याग करने का ही उपदेश देते है।

अर्हतर्षि महाकाश्यप कहते है—

ससार-सतईमूल पुण्ण पाव पुरेकड ॥
पुण्ण-पाव-निरोहाय सम्म सपरिव्वए ॥२॥
पुण्ण-पावस्स आयाणे परिभोगे यावि देहिण ।
सतई-भोग-पाउग्ग पुण्ण पाव सयकड ॥३॥

—पूर्वकृत पुण्य और पाप ससार-सतति (भवपरम्परा) के मूल है। पुण्य और पाप के निरोध के लिए साधक सम्यक् प्रकार से (यतनापूर्वक) विचरण करे।

—देहधारी आत्मा को पुण्य और पाप के आदान (ग्रहण) और उपभोग मे योग्य वस्तुओ की प्राप्ति होती है, जो कि स्वकृत पुण्य (शुभकर्म) और पाप (अशुभकर्म) के फलस्वरूप है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है—

रागो य दोसो विय कम्मबीय ।
कम्म च मोहप्पभव वयति । —३१/१७

—राग और द्वेष ये दोनो कर्म के बीज है। कर्म मोह से उत्पन्न होता है।

वास्तव मे, मन के कषाय-विषय-युक्त आवेगो और विकारो से ही कर्मों का बन्धन और सिलसिला आगे के लिए चलता है। जैसा कि उत्तरा-ध्ययन सूत्र कहा गया है—

'पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्म।
ज से पुणो होइ दुह विवागे।' ३२/६८

—मन की दुष्टता—उद्वेगशीलता से जीव कर्मों को खीचता है, वे कर्म आत्मा के साथ लगाकर फिर दु खदायी फल देते है।

तत्त्वार्थ सूत्र मे भी कहा है—

सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान्पुद्गलान् आदत्ते।

स बन्ध । —(अ० ८/२—३)

कषाययुक्त परिणति से जीव कर्मयोग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है, और यह ग्रहण ही कर्मों का बन्ध है।

पुण्य और पाप दोनो बन्ध के कारण है, क्योकि दोनो आस्रव है। दोनो ही बन्धन है। एक सोने की बेडी है तो दूसरी लोहे की। एक से भौतिक सुख मिल सकता है, किन्तु वह भी क्षणिक है और उसका परिणाम भी दुखरूप ही होता है। यात्री वन से पार होता है, तब महकते गुलाब के फूल उसके मन-मस्तिष्क को सुरभित और मस्त बना देते है। जबकि काटे पैर मे चुभकर तन-मन को दु खित कर डालते है। काटो मे तन उलझता है तो फूलो मे मन। दोनो ही उलझने है, और दोनो ही बधन है, रुकावट है। दोनो ही लक्ष्य से दूर करते हैं। फूलो से सुगन्ध भले ही मिल जाए, लक्ष्य को निकट लाने मे असमर्थ है। लक्ष्य का साधक मुमुक्षु जितना शूल से बचेगा, उतना ही या उससे भी अधिक फूल मे भी बचेगा, क्योकि शूल की चुभन थोडी ही देर रोकती है, मगर फूल की सौरभ तो मन को ही बाँध लेती है। मन का बन्धन, तन के बधन से भी अधिक मजबूत होता है। अत साधक को मोक्षमार्ग मे बाधक दोनो ही बन्धन तोड फैकने है।

पुण्य-पाप के लिए जिम्मेदार स्वय

पुण्य का फल मधुर है, और पाप का फल कडुआ। दोनो के विपाक के रूप मे प्राणी को शुभ या अशुभ वस्तुओ की प्राप्ति होती है।

अज्ञानी मानव पुण्य के मधुर सुस्वादु (अभीष्ट) फल प्राप्त होने पर आसक्तिपूर्वक भोगता है, तो और नये कर्मबन्धन कर लेता है। उसका अह पुण्यफल भोग के समय कहने लगता है—मैंने अपने श्रम से इसे अर्जित किया है, दूसरे का इस पर कोई अधिकार नही। यदि किसी मुकद्दमे मैं विजय

प्राप्त हो जाएगी तो कहगा—मेरी बुद्धि से यह प्राप्त हुई है, किन्तु हार मिलेगी तो वकील को, गवाह को या न्यायाधीश को दोष देगा, या कोसेगा।

मनुष्य की आदत है, वह अपने फायदे की चीज तो स्वय लेना चाहता है किन्तु घाटे की चीज दूसरे के शिर मढ देता है। एक नौजवान मुसलमान बीवी का शौहर गुजर गया। कुछ दिन बाद उसने दूसरा शौहर किया। तो उनका रिवाज था कि दूसरे शौहर के साथ जाने से पहले घर-मोहल्ले की औरत इकट्ठी होती और वह बीवी अपने पहले शौहर का नाम लेकर रोती। बीवी ने पहले शौहर का नाम लेकर रोना शुरू किया—

"हाय मेरे छुट्टन मिया, तुमने इतनी बढिया पोशाके बनवाई उनको अब कौन पहनेगा ?

होने वाला शोहर बोला—फिकर मत कर, हम पहनेगे ?

बीवी बोली -हाय मिया, तुमने कितनी बढिया घोडी खरीदी, इस पर अब कौन चढेगा ?

नया शौहर बोला—तू फिकर काहे को करती है हम चढेगे।

यो चार पॉच बार सवाल-जबाव के बाद बीवी बोली—हाय मेरे मिया तुमने पाच हजार का कर्जा सिर पर छोड दिया उसको कौन चुकायेगा ?

अब मिया झेप गये, पास मे बैठे लोगो से बोले—अरे, मिया, बारी-बारी सभी बोलो, मैं अकेला कहाँ तक बोलूगा ?

तो मनुष्य की आदत है, "मीठा-मीठा हप्प और कडवा-कडवा थू।" पुण्य का फल खुद हडपना चाहता है और पाप का फल दूसरो के सिर मढ़ना। पर यह न्याय कुदरत के दरबार मे चल नही सकता। यहाँ पाप और पुण्य सभी अपने करने वाले के सिर पडते है। इसलिए जैन दर्शन कहता है, पाप के फल भोगते समय घबरा मत, और पुण्य के फल भोगते समय इतरा मत।

पुण्य के कल्पवृक्ष को सेवा, दया, परोपकार आदि के जल से सीच, ताकि वह हरा-भरा रह सके। अन्यथा, तेरा अर्जित पुण्य भी शीघ्र नष्ट हो सकता है। दूसरी ओर मानव पाप (अशुभकर्म) का फल भोगते समय छटपटाता है, बेचैन हो उठता है, निमित्तो को कोसने लगता है, उन पर आक्रोश करता है, चीखता-चिल्लाता है। उक्त निमित्त को अपने दुख का कारण मानकर उसे नष्ट करने पर तुल जाता है, किन्तु पाप कर्म की जो जड है, उसे नष्ट नही करता, यही मनुष्य का अज्ञान है। कर्मवाद कहता है कि जिस तरह पुण्यफल भोगने समय तू स्वय को जिम्मेवार मानता है, उसी तरह

पाप का फल भोगते समय भी स्वय (उपादान) को जिम्मेवार मान। पाप के फल से भागने वाले मानव से कर्मवाद कहता है—तू जिस विषफल से भागना चाहता है, उसके बीज तो एक दिन तेरी ही आत्मा ने बोए थे, फिर दूसरे पर रोष और दोष क्यो ?

आस्रवों के माध्यम से बन्ध और उसके कारण

अगर आस्रवो को रोका नही जाता है, तो वे इन (मिथ्यात्वादि) पाँच द्वारो से आते हैं और आत्मा इन्हें ग्रहण कर लेता है। यही बात अर्हतर्षि महाकाश्यप कहते है—

मिच्छत्तं अनियत्ती य, पमाओ यावि णेगहा।
कसाया चेव जोगा य, कम्मादाणस्स कारणं ॥५॥

मिथ्यात्व, अनिवृत्ति, अनेकविध प्रमाद, कषाय और योग, ये पाच कर्म ग्रहण करने के कारण है। ये पाँच कर्मबन्ध (ग्रहण) करने के माध्यम है।

तत्त्वार्थसूत्र (अ ८ सू १) में भी इसी का समर्थन किया गया है—

मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतव ।

—आत्मा से कर्म का बन्ध होने मे ये पाच मुख्य हेतु है।

१ मिथ्यात्व का लक्षण है—व्यवहार दृष्टि से देव, गुरु और धर्म पर या तत्त्वभूत पदार्थों पर श्रद्धा या विपरीत श्रद्धा करना, अथवा हठाग्रहपूर्वक पदार्थ को एकान्तरूप से मानना भी मिथ्यात्व है। निश्चय दृष्टि से—आत्मा की शुद्ध स्वभाव दशा से हटकर विभाव दशा में आनन्द मानना मिथ्यात्व है।

२ अनिवृत्ति का लक्षण है—अविरति अथवा अव्रत। हिसा, असत्य आदि पापो में प्रवृत्त होती हुई आत्मा को न रोकना व्यावहारिक दृष्टि से अविरति है।

३ प्रमाद का लक्षण है—मद्य (मद), विषय, कषाय आदि से प्रेरित होकर अपनी स्वभाव दशा को भूल जाना और व्रतो मे अतिचार(दोष) लगाना।

४ कषाय का लक्षण है—जिसके द्वारा जन्म-मरणरूपी भव-परम्परा की वृद्धि हो। जैसे क्रोधादि विकार—क्रोध, मान, माया और लोभ।

५ योग—मन, वचन, काय की चञ्चलता को योग कहा जाता है।

बन्धुओ !

ये पाच आस्रव ही, जब रोके नही जाते, तब वे आत्मा के साथ दूध और पानी की तरह एकीभूत होकर बध जाते हैं। मुमुक्षु साधक को चाहिए कि वह आत्मा को अनन्त शक्तिशाली मानकर बधे हुए कर्मों को तोडे और आत्मा से इन्हें पृथक करे। तभी वह जन्म और कर्म के दु खदायी गठबन्धन से मुक्त हो सकता है। □

१२

जन्म-कर्म-परम्परा की समाप्ति के उपाय

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

पिछले प्रवचन मे हमने चर्चा की थी कि जन्म का कारण है कर्म। जन्म लेकर आत्मा कर्म करता है, और कर्म के कारण आत्मा मृत्यु प्राप्त करके पुन परलोक मे जाता है। वहा फिर नया एक शरीर धारण करता है, फिर कर्म करता है। इस प्रकार जन्म-कर्म-मृत्यु—यह चक्र चलता ही रहता है।

अब आज के प्रवचन मे अर्हतर्षि महाकाश्यप के शब्दो मे हम यह बताना चाहते है कि इस जन्म-मरण के हेतुभूत पुण्य-पाप रूप कर्म को समूल नष्ट कैसे किया जा सकता है ?

यद्यपि इस अध्ययन का विषय बहुत गूढ है। कर्मनिरोध के उपाय—सवर और कर्मक्षय के साधन निर्जरा (तप) का विवेचन जैनदर्शन मे बडी सूक्ष्मता के साथ किया गया है, किन्तु यह समझना बहुत जरूरी है। सम्भव है कुछ बाते आपकी समझ मे न आये तो पुन पूछ लेवे, या बार-बार विचार करे तो बन्धनमुक्ति का यह सिद्धान्त आपकी समझ मे आ जायेगा।

पुण्य-पाप विनाशक सवर और निर्जरा

> **सवरो निज्जरा चेव पुण्ण-पाव-विणासण।**
> **सवर निज्जर चेव सव्वहो सम्ममायरे ॥४॥**

—सवर और निर्जरा, ये दोनो पुण्य और पाप के विनाशक हैं। अत मुमुक्षु साधक सवर और निर्जरा का सम्यक् प्रकार से आचरण करे।

आगमो मे सवर और निर्जरा के लिए एक सुन्दर रूपक देकर समझाया गया है। आत्मा (जीव) एक सरोवर है, उसे कर्म रूपी जल से रहित करना है। अभी उसमे पुण्य और पाप का मीठा और कडआ जल

भरा है। उसे जल से खाली करना है, किन्तु जब तक जल के आने के दरवाजे (मोरिया) खुले हैं, तब तक सरोवर (जीव रूपी तालाब) कर्मरूपी जल से खाली होकर सूखेगा नही। उत्तराध्ययन सूत्र मे सरोवर को सुखाने का उत्तम उपाय बताया गया है—

जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवेण य कम्मेण सोसणा भवे ॥ —३२/५

जैसे विशाल तालाब मे पानी आने का मार्ग (मोरी) रोक दिया जाए और बाद में उसका पानी उलीचा जाए तथा ताप की व्यवस्था की जाए तो वह महा तालाब (विशाल सरोवर) क्रमश सूख जाता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी तालाब मे पुण्य-पापरूपी आस्रव (कर्मो के आगमन) का द्वार रोक दिया (सवर किया) जाए और फिर बारह प्रकार के तप से, परीसह-सहन से उसे ताप दिया जाए और उलीचा जाए (निर्जरा की जाए) तो कर्मरूपी जल सूख सकता है।

सवर और निजरा के कार्य

अब अर्हतर्षि महाकाश्यप सवर और निर्जरा का स्वरूप और उसकी गतिविधि के विषय में कहते है—

एस एव विवण्णासो सवुडो सवुडो पुणो।
कमसो सवरो नेओ, देस-सव्व-विकप्पिओ ॥८॥

सोपायाणा निरादाणा विपाकेयर सजुया।
उवक्कमेण तवसा निज्जरा जायए सया ॥९॥

सतत बधए कम्म, निज्जरेइ य सतत।
ससारगोयरो जीवो विसेसो उ तवोमओ ॥१०॥

अर्थात्—यही (जन्म-कर्म-परम्परा) आत्मा की विपन्न अथवा विभाव दशा है। इस विपन्न दशा को समाप्त करने के लिए साधक पुन पुन सवर करके अपनी आत्मा को आशिक अथवा पूर्णरूप से सवृत करता है।

दूसरे शब्दो में साधक अपनी आत्मा को—आत्मिक प्रवृत्तियो को सवरयुक्त बनाकर कर्मों के आस्रव का निरोध करता है।

—(तत्पश्चात् अर्थात् सवर के उपरान्त साधक निर्जरा मे प्रवृत्त होता है।) वह निर्जरा आदान सहित (सोपादाना) अथवा आदान रहित (निरादाना) भी होती है। साथ ही विपाक सहित (सविपाक) और विपाकेतर (अविपाक—विपाकेतर) भी होती है। इसके अतिरिक्त सोपक्रम (उव-

क्रम) निर्जरा भी होती है और निरुपक्रम भी । किन्तु सोपक्रम निर्जरा तपस्या के द्वारा होती है ।

—ससारी जीव के सतत कर्मो का बधन होता है तथा निर्जरा भी होती है । किन्तु विशेष कर्म निर्जरा तप द्वारा ही होती है । अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति मे सहायक कर्म-निर्जरा का प्रमुख हेतु तप है ।

प्रस्तुत तीन गाथाओ मे अर्हतर्षि महाकाश्यप ने साधक को सवर और निर्जरा की प्रेरणा दी है । वे कहते है कि मुमुक्षु साधक बार-बार सवर करे यानी अशुभ सकल्पो, असत् विचारो से दूर रहे ।

सवर के बाद वे निर्जरा की प्रेरणा देते है । साथ ही निर्जरा के कई भेद भी बताते है । इस भेद बताने का कारण यह है कि ससारी जीव को निर्जरा भी सतत होती रहती है, किन्तु वह मोक्ष-प्राप्ति मे सहायक नही होती । इसलिए साधक को विशेष निर्जरा—तपोजन्य निर्जरा मे प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

बन्धुओ ! सवर और निर्जरा का विषय थोडा गहन है, किन्तु मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख कारण होने से महत्वपूर्ण भी बहुत है । साथ ही इसका महत्व इसलिए भी बढ जाता है कि सामान्य ससारी जीव को भी सतत निर्जरा होती रहती है ।

अत मोक्ष-प्राप्ति मे सहायक निर्जरा तथा सामान्य निर्जरा का भेद भली प्रकार समझ लेना आवश्यक है । साथ ही यह भी आवश्यक है कि किस प्रकार निर्जरा करता हुआ, कर्मबध को रोकता हुआ, कर्मों के निबिड बधनो को तोडता हुआ आत्मा क्रमश मोक्ष की ओर गति-प्रगति करता है, अपनी उन्नति करता है, इसे भी आप हृदयगम करले ।

सवर का स्वरूप

बधुओ ! अर्हतर्षि महाकाश्यप ने सर्वप्रथम सवर का वर्णन किया है। मैं भी उसी क्रम से आपको समझाता हूँ ।

यद्यपि सबसे पहले मुझे आपको सवर का लक्षण, परिभाषा आदि बताने चाहिए लेकिन आप विषय को सरलता से समझ सके इसलिए एक दृष्टान्त देता हूँ—

एक कछुआ है । वह नदी या तालाब के किनारे रेती मे चुपचाप पडा हुआ है । उसी समय उसे शृगाल जैसे मासभोजी पशु देख लेते है, वे उस पर आक्रमण करते है । किन्तु कछुआ तत्काल अपनी गरदन, हाथ-पैर आदि कोमल अगो को समेट लेता है और इस प्रकार उन मासभोजी पशुओ के आक्रमण को विफल कर देता है ।

उनके प्रतिपक्षी उतने ही कारण सवर के है और ये सवर के भेद कहे जाते है। अपेक्षाभेद से इनकी सख्या मे भी भेद पड गया है। कही सवर के २० भेद बताये है तो कही ५७ और ५ भेद ही किये है।[1]

यद्यपि अपेक्षाभेद मे सवर के कितने ही प्रकार गिना दिये जायँ किन्तु प्रमुख रूप मे सवर के भेद ५ ही है। इन ५ भेदो का थोडा-सा सक्षिप्त वर्णन

१ सवर के बीस भेद—(१) सम्यक्त्वसवर (२) विरति सवर, (३) अप्रमाद सवर, (४) अकषाय सवर (५) अयोग सवर (६) अहिंसा सवर—जीवो पर दया के भाव रखना (७) सत्य सवर (८) अदत्तादान सवर (९) ब्रह्मचर्य सवर (१०) ममत्वत्याग सवर—परिग्रह के प्रति ममत्व एव मूर्च्छा न रखना (११—१५) पाँचो इन्द्रियो का सवर—इन्द्रियो के विषयो की ओर मन को न जाने देना। (१६—१८) मन-वचन-काय—तीनो योगो को वश मे रखना, इनका सवर करना (१९) भाण्डोपकरणो को यतना से सावधानीपूर्वक उठाना और रखना तथा (२०) सूई, तृण आदि तुच्छ वस्तुओ के प्रति भी सभी प्रकार की सावधानी रखना।

सवर के ५७ भेद—सवर के ५७ भेद दो अपेक्षाओ से बताये गये है। प्रथम अपेक्षा से—(१—५) पाँच समिति, (६—८) तीन गुप्ति, (९—१८) दश प्रकार का श्रमण धर्म, (१९—४०) बाईस परीषहो पर विजय, (४१—५२) अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन, (५३—५७) सामायिक आदि पाँच प्रकार के चारित्र का पालन करना। जैसा कि कहा है—

(क) आस्रव-निरोध सवर। स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रै।
—तत्त्वार्थसूत्र ९/१—२

(ख) समिई-गुत्ति-परीसह-जईधम्मो-भावणा चरित्ताणि।
पण ति-दुवीस-दस-बारस-पचभेएहि सगवन्ना।

—नवतत्वप्रकरण, गाथा २५

दूसरी अपेक्षा से ५७ भेद इस प्रकार भी है—(१—५) पाँच प्रकार के मिथ्यात्व का त्याग, (६—१७) बारह प्रकार की विरति, (१८—४२) पच्चीस प्रकार की कषाय—अनतानुबधी आदि की अपेक्षा से क्रोध, मान, माया, लोभ—ये १६ प्रकार की कषाय और हास्य आदि ९ प्रकार की नोकषाय—इन सबका त्याग, (४३-५७) पन्द्रह प्रकार के योग।

सम्मत्त देसवय महव्वय तह जओ कसायाण।
एदे सवर णामा जोगाभावो तहा चेव॥

—कत्तिगेयाणुप्पेक्खा, सवराणुप्पेक्खा, गाथा ९५

मैं आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। ये ५ भेद है—(१) सम्यक्त्व सवर (२) विरति सवर (३) अप्रमाद सवर (४) अकषाय सवर और (५) अयोग सवर।

(१) सम्यक्त्व सवर—सम्यक्त्व सवर का अभिप्राय मिथ्यात्व की प्रवृत्ति को रोकना है। आत्मा अनादिकाल से मिथ्यादर्शन से युक्त होकर ससार मे परिभ्रमण कर रहा है। मिथ्यात्व ही अनत ससार का कारण है। इसके निरोध से अनत ससार परीत हो जाता है।

सम्यक्त्व के प्रभाव से आत्मा मे ससार के प्रति विरक्ति होती है। उसकी रुचि मोक्ष की ओर हो जाती है। ससार के प्रति विरक्ति ही सम्यक्त्व सवर है। मुमुक्षु साधक इस सवर को करता है।

(२) विरति सवर—सम्यक्त्व-प्राप्ति से आत्मा में जो ससार के प्रति विरक्ति होती है, वह धीरे-धीरे बढती है। साधक इन्द्रियभोगो और पापो से विरक्त होता जाता है।

अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार वह देशसयम (श्रावक के व्रत) तथा सर्वसयम (मुनि के व्रत) ग्रहण करता है, देशसयम अथवा सर्वसयम का पालन करके विरति सवर करता है।

(३) अप्रमादसवर—जब साधक अपने स्वीकृत व्रतो मे अत्यधिक सावधान रहता है, बिल्कुल भी प्रमाद, असावधानी अथवा आलस्य नही करता तब उसके अप्रमाद सवर होता है।

(४) अकषायसवर—क्रोध, मान, माया लोभ इन कषायो और नोकषायो के आस्रव को रोकना अकषाय सवर कहलाता है। यह स्थिति उच्च गुणस्थानो की भूमिका मे आती है, विशेष रूप से ग्यारहवे, बारहवे तथा आगे के गुणस्थानो मे, जहाँ कषायो का आस्रव एव बध पूर्ण रूप से रुक जाता है।

(५) अयोगसवर—यह स्थिति १३-१४वे गुणस्थान मे आती है, जब केवली भगवान योगो का निरोध करके शैलेशी अवस्था प्राप्त करते हैं और पाँच ह्रस्व अक्षरो के उच्चारण मात्र समय मे देह त्यागकर मुक्त हो जाते है। यही अयोग सवर है।

देश और सर्व सवर का स्पष्टीकरण

बधुओ ! मैंने आपको संवर के भेदो का विभिन्न अपेक्षाओं से परिचय दिया। अब एक बात स्पष्ट करने को रह जाती है। वह है—संवर के देश-सवर और सर्वसंवर विकल्प।

अर्हतर्षि महाकाश्यप ने गाथा में कहा है—**कमसो संवरो नेओ, देस-सव्व-विकप्पिओ।** अर्थात् साधक क्रमश सवर को प्राप्त होता है, वह सवर देश और सर्व दो प्रकार का है।

यहाँ देश का अर्थ है आशिक रूप से और सर्व का अभिप्राय पूर्ण सवर से है।

ये दोनो भेद विरति सवर के है। श्रावक अथवा देशव्रती को देश-सवर होता है और साधु अथवा सर्वविरत श्रमण को सर्वसवर।

कही कही चारित्र की अपेक्षा से सवर के ये दो भेद मानकर यथा-ख्यात चारित्री को सर्वसवर माना गया है तथा शेष चारित्र वालो को देश-सवर। किन्तु यह विचार सर्वजनमान्य नही है।

अत यही मानना उचित है कि साधु को सर्वसवर होता है और श्रावक को देशसवर।

इसके अतिरिक्त सवर के दो भेद और होते है—(१) भावसवर और (२) द्रव्यसवर। भावसवर मे साधक अपने आत्म-परिणामो मे आस्रव के भाव नही आने देता, भोगो के राग-द्वेष अथवा कषाय जनित परिस्पन्दन को शात-उपशात करता है और द्रव्यसवर मे वह पुद्गल कर्मों के आगमन को रोकता है।

जैसा कि आप सभी जानते है, हमारा जैनदर्शन द्रव्य और भाव इन दो अपेक्षाओ पर अधिक बल देता है, प्रत्येक तत्व का विचार इन दोनो ही अपेक्षाओ से करता है। अत सवर के द्रव्य और भाव—ये दो भेद ही प्रमुख है। इन्ही मे अन्य सभी भेद गर्भित हो जाते है।

एक बात और है। वह भी आप समझ ले। द्रव्य और भाव—ये दानो परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, इनमे अविनाभावी सम्बन्ध है। ऐसा नही हो सकता कि द्रव्य-सवर हो और भावसवर न हो अथवा भाव-सवर हो और द्रव्यसवर न हो। दोनो ही होगे।

अब आप अपने ध्यान को मुख्य रूप से अपने आत्मिक भावो पर रखिए, भाव-सवर करिए, द्रव्य-सवर अपने आप हो जायेगा। यह भी ध्यान रखने की बात है कि सवर ही मोक्ष का कारण है।

इसीलिए मुनिजन आपको सवर की प्रेरणा देते है और आप हिसा आदि आस्रवो को रोककर सवर करते भी है।

अब आपके मन मे एक प्रश्न उठ रहा होगा कि अन्यत्र तो निर्जरा से मोक्ष-प्राप्ति मानी गई है, क्योकि निर्जरा से कर्मों का क्षय होता है और सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने पर ही आत्मा की मुक्ति हो पाती है।

तो, आपका यह विचार ठीक है। यह बिल्कुल सत्य है कि निर्जरा ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। किन्तु निर्जरा के भी कई प्रकार है और

सभी निर्जरा मोक्ष का कारण नही होती। मैं अब आपको निर्जरा के विभिन्न भेद बताता हूँ, जिससे आप समझ ले कि कौन-सी निर्जरा मोक्ष प्राप्ति मे सहायक है।

निर्जरा के विविध भेद

सवर के बाद निर्जरा तत्व का क्रम है। इस क्रम के अनुसार ही अर्हत्तर्षि महाकाश्यप ने सवर के पश्चात् निर्जरा तत्व का वर्णन किया है।

निर्जरा का सीधा-सा अर्थ है—कर्म-परमाणुओ का रसहीन होकर झड जाना, आत्म-प्रदेशो से अलग हो जाना। लेकिन इस झडने के कई प्रकार है। इन्ही के आधार पर निर्जरा के भी कई भेद हो गये है। इन सभी भेदो को समझ लेना आवश्यक है।

शास्त्रो मे सकाम और अकाम—निर्जरा के ये दो भेद बताये है। जो व्रत आदि उपक्रम से होती है वह सकाम निर्जरा है, इसी को सोपक्रम निर्जरा कहते है और जो जीवो के कर्मविपाक से स्वत ही होती रहती है, वह अकाम अथवा निरुपक्रम निर्जरा कहलाती है। अकाम निर्जरा, चारो गतियो के जीवो के होती है किन्तु सकाम निर्जरा सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद ही होती है।

अकाम निर्जरा के अन्य नाम भी है—अबुद्धिपूर्वक निर्जरा, स्वकाल-प्राप्त निर्जरा, विपाकजा निर्जरा, यथाकाल निर्जरा आदि।

इसी प्रकार सकाम निर्जरा के भी कई नाम शास्त्रो मे गिनाये गये है—कुशलमूल निर्जरा तप कृत निर्जरा, उपक्रमकृत निर्जरा, अविपाकजा निर्जरा आदि-आदि।

यहाँ अर्हत्तर्षि ने निर्जरा के तीन प्रकार गिनाए है। (१) प्रथम विपाकजा और अविपाकजा, (२) द्वितीय, निरुपक्रम और सोपक्रम। इन दोनो प्रकारो का विवेचन तो मैं आपके सामने कर ही चुका हूँ। लेकिन उन्होने तीसरे प्रकार का नाम दिया है—(३)सोपादाना और निरादाना निर्जरा।

यद्यपि यह नाम नया है, पहले आपके सुनने में शायद न आया हो किन्तु इसका भाव वही है जो सकाम और अकाम निर्जरा का है। फिर भी मैं कुछ स्पष्टीकरण कर दूँ—

आदान कहते हैं ग्रहण करने को। यहाँ तत्व-चर्चा मे आदान से अभिप्राय है आत्मा द्वारा कर्म-परमाणुओ को ग्रहण करना—यानी आस्रव—कर्मों का आना।

अभिप्राय यह है कि जो निर्जरा, आस्रवपूर्वक होती है यानी निर्जरा

एक ओर हो और दूसरी ओर आस्रव भी होता रहे वह है सोपादाना निर्जरा, तथा जिस निर्जरा के साथ कर्मों का आस्रव न हो, कर्म आवे ही नही, वह निरादाना निर्जरा है और वह निरादाना निर्जरा तपविशेष से होती है।

आप शायद उलझन मे पड गये होगे कि आस्रव और निर्जरा दोनो परस्पर विरोधी है, एक साथ दोनो कैसे हो सकते है। इस उलझन को मैं एक दृष्टान्त से सुलझा दूँ—

आपने ऐसी टकी देखी होगी, जिसमे नल लगा होता है। आपके घरो मे भी होगी। अब आप उसे नल के नीचे रख दीजिए और नल खोल दीजिए। टकी मे पानी भरने लगेगा। साथ ही टकी का नल भी खोल दीजिए।

अब क्या स्थिति बनी? वह टकी भर जायेगी या खाली हो जायेगी? आप कहेगे न वह भरेगी और न खाली ही होगी, क्योकि उसमे ऊपर से जितना पानी भर रहा है, उतना ही नीचे से निकल भी रहा है।

अब आप समझिये। आत्मा को टकी मान लीजिए और पानी को कर्म-प्रवाह। भरता हुआ पानी आस्रव है और झरता हुआ निर्जरा। तो अब आस्रव और निर्जरा दोनो एक साथ हो रहे है।

मैं समझता हूँ, आपके दिमाग की उलझन सुलझ गई होगी। इसी स्थिति को राजस्थानी की एक कहावत मे बहुत ही सक्षेप मे कह दिया गया है—ऊपर भरे, नीचे झरे।

गाथा १० मे अर्हतर्षि ने भी यही बात कही है कि कर्मों का बध भी सतत होता रहता है और निर्जरा भी सदा ही होती रहती है, ससारी जीव के आस्रव-बध तथा निर्जरा का क्रम कभी रुकता नही, सदा ही प्रवर्तमान रहता है।

कुछ लोग यह शका करते भी हैं कि जब सदा ही निर्जरा होती है तो आत्मा मुक्त क्यो नही हो जाता? तो भैया! इसका उत्तर यह है कि एक ओर से आस्रव हो रहा है और दूसरी ओर निर्जरा भी चालू है तो मुक्ति कैसे हो? ऐसी निर्जरा, जिसे अकाम निर्जरा कहा गया है, मोक्ष-प्राप्ति मे सहायक नही होती।

एक भक्त कवि ने भी कहा है—

> काल पाय विध झरना, तासो निज काज न सरना।
> तप कर जो कर्म खपावे, सो ही अविचल गति पावे॥

तपस्या द्वारा जो निर्जरा होती है, वही मोक्ष-प्राप्ति मे—आत्मा की शुद्धि मे सहायक बनती है। कैसे ? एक दृष्टान्त से समझिये—

जगल मे एक तालाब है। उसमे पानी भरा है। किन्तु वह गँदला है, धूल-मिट्टी-कचरा उसमें मिल गया है। पानी बदबूदार हो गया है। वह पीने के योग्य नही रहा।

तो क्या वह पानी कभी भी पीने योग्य नही बन सकता ? शुद्ध, साफ और निर्मल नही हो सकता ? अवश्य हो सकता है। उसके लिए निर्मली आदि वस्तुओ की आवश्यकता है। उसे विभिन्न प्रक्रियाओ से गुजारना होगा, निथारना और छानना होगा, फिल्टर करना होगा, वह पानी निर्मल, शुद्ध और स्वच्छ हो जायेगा, स्वभाव में आ जायेगा।

इसी तरह यह आत्मा है। इसमे भी पापो की बदबू और कर्मों का कीचड इकट्ठा हो गया है। दुर्गुणो की दुर्गन्ध आ रही है, दु खो के काँटे उग आये है, अशुद्ध दशा मे आत्मा आ गई है। तो इसे भी शुद्ध और स्वाभाविक दशा मे लाया जा सकता है। लेकिन कैसे ?

तो बात यह है कि जिस तरह विभिन्न प्रक्रियाओ से गन्दे पानी को शुद्ध किया जाता है उसी तरह विभिन्न प्रक्रियाओ से आत्मा भी शुद्ध हो सकती है। पानी की शुद्धि एसिडो और कैमीकलो तथा छानने-निथारने से होती है और आत्मा की शुद्धि होती है तप से। जिस तरह विभिन्न क्रियाओ से पानी की गन्दगी दूर होती है, इसी तरह तप से आत्मा पर लगे कर्मों की निर्जरा होती है, कर्मरूपी मैल दूर हो जाता है।

इसीलिए तप द्वारा हुई निर्जरा को ही आत्म-शुद्धि तथा मोक्ष-प्राप्ति मे कार्यकारी माना गया है।

सज्जनो ! यद्यपि विषय कुछ लम्बा होता जा रहा है, किन्तु तप का वर्णन किये बिना निर्जरा तत्त्व का विवेचन पूरा नही होता। जैन शास्त्रो मे निर्जरा के भेदो मे तप ही गिनाए गये है। तप १२ प्रकार के होते है, इसलिए निर्जरा तत्व के भी बारह भेद बताये है।

अत अब मैं सक्षेप मे आपको तप के बारे मे भी बताता हूँ।

तप का लक्षण

'तप' शब्द 'तप्' धातु से बना है। इसका अर्थ होता है तपना या तपाना। इसीलिए आवश्यक मलयगिरि मे कहा गया है—

तापयति अष्टप्रकार कर्म इति तप ।

—जो आठो कर्मों को तपाता है (उनकी निर्जरा करता है) वह तप है।

ऐसा ही लक्षण दशवैकालिक, जिनदासचूर्णि मे भी किया गया है।

पचाशत्, नियमसार, द्रव्यसग्रह, प्रवचनसार आदि ग्रथो मे 'विषयो की इच्छा के निरोध' को तप कहा है।

सर्वार्थसिद्धि मे कर्मक्षय की प्रक्रिया को तप कहा गया है। साथ ही वही इसे (आत्म) अभ्युदय का कारण भी बताया गया है—

तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतु

यो विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न अपेक्षाओ से तप के विभिन्न लक्षण बताए है। लेकिन मुझे सबसे अच्छी परिभाषा यह लगती है—

आत्मशोधनी क्रिया तप

—आत्मा की विशुद्धि करने वाली क्रिया तप है।

यह परिभाषा किसी प्राचीन आचार्य की दी हुई है। इसमे आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट है। साथ ही इसमे कर्मक्षय, आत्माभ्युत्थान, इच्छानिरोध आदि सभी बाते गर्भित है। क्योकि आत्मा की विशुद्धि कहो या कर्मों का क्षय बात एक ही है, सिर्फ अपेक्षाभेद है।

तप के भेद

तप के १२ भेद हैं जिनमे से ६ अन्तरग है और ६ बाह्य। उत्तराध्ययन सूत्र मे इनके नाम इस प्रकार गिनाये गये है—

सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा।
बाहिरो छविहो वुत्तो एवमब्भन्तरो तवो॥
अणसणमूणोयरियाभिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो सलीणया य बज्झो तवो होइ॥
पायच्छित्त विणओ वेयावच्च तहेव सज्झाओ।
झाण च विउस्सग्गो एस अब्भिन्तरो तवो॥—उत्तरा० ३०/७-६

अर्थात् तप दो प्रकार का है—(१) बाह्य और (२) अन्तरग।

बाह्य तप है—(१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचर्या, (४) रस-परित्याग, (५) कायक्लेश और (६) प्रतिसलीनता, तथा अतरग तप है—(७) प्रायश्चित्त, (८) विनय, (९) वैयावृत्य, (१०) स्वाध्याय, (११) ध्यान और (१२) व्युत्सर्ग।

(१) **अनशन**—जैसा कि आप सभी जानते हैं अनशन का अर्थ है, उपवास। यह एक दिन से लेकर छह महीने तक का होता है। इसमे (१)

अशन (अन्न) (२) पान (जलादि पेय पदार्थ), (३) खादिम (पक्वान, मेवा आदि) तथा (४) स्वादिम (मुख को सुवासित करने वाले इलायची आदि पदार्थ)—इन चारो प्रकार के आहार का अथवा पानी के अतिरिक्त तीन प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है।

श्रेणी तप, प्रतर तप आदि के भेद से यह ६ प्रकार का है।

(२) **ऊनोदरी**—का अर्थ है भूख से कम खाना। इसके भी दो भेद हैं—(१) द्रव्य ऊनोदरी और (२) भाव ऊनोदरी। द्रव्य ऊनोदरी मे आहार, उपधि आदि को कम किया जाता है और भाव ऊनोदरी मे कषायो, राग-द्वेष, चपलता आदि दोषो को कम करना अपेक्षित है।

(३) **भिक्षाचरी**—यह तप विशेष रूप से साधुओ के लिए है क्योकि वे ही भिक्षाचर्या द्वारा क्षुधा निवृत्ति करते हैं। साधुओ को सभी प्रकार से निर्दोष भिक्षा लेने का विधान है।

गृहस्थ के लिए **वृत्ति परिसख्यान तप** बताया गया है। इसके अन्तर्गत श्रावक अपने आहार-द्रव्यो की सख्या मे कमी करके अपनी आहार-वृत्ति को सकुचित करता है।

(४) **रस-परित्याग**—इसमे रसो का—सरस भोजन का त्याग अपेक्षित है। स्वादिष्ट और इन्द्रियो को उत्तेजित करने वाले आहार का त्याग साधक अपनी शक्ति और क्षमता-योग्यता के अनुसार करता है।

(५) **कायक्लेश**–इसका अर्थ है–शरीर को सुविधावादी न बनने देना। जितना सम्भव हो, अधिक से अधिक इस शरीर का उपयोग धार्मिक क्रियाओ मे करना।

(६) **प्रतिसलीनता**—इस तप मे साधक अपने इन्द्रिय, शरीर, मन, वचन को विकारो से रोककर आत्माभिमुख करता है।

(७) **प्रायश्चित्त**—अपने स्वीकृत व्रत-नियमो मे भूल अथवा असावधानी से लगे पापो की—स्खलनाओ की आलोचना आदि करना। यह १० प्रकार का है।

(८) **विनय**—का अर्थ है विनम्रता। इसके ७ उत्तर भेद हैं—(१) ज्ञानविनय, (२) दर्शनविनय, (३) चारित्रविनय, (४) मनोविनय, (५) वचनविनय, (६) कायविनय और, (७) लोकव्यवहार विनय।

(९) **वैयावृत्य**—इसका अर्थ है—सेवा। तपस्वी, ग्लान आदि साधको की सेवा करना। उन्हे आहार-औषध आदि आवश्यक वस्तुएँ दिलाना। रोग के समय सेवा करके साता पहुँचाना।

(१०) **ध्यान**—यो तो ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल ये चार भेद है, किन्तु मोक्ष मार्ग मे सहायक धर्म और शुक्लध्यान ही हैं। अत इन्ही की अपेक्षा है। इनके भी चार-चार उत्तर भेद हैं।

धर्मध्यान के चार भेद हैं—(१)—आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय और (४) सस्थानविचय।

इनके लक्षण, आलम्बन, अनुप्रेक्षाएँ भी चार-चार है।

शुक्लध्यान के भी चार भेद है, चार ही लक्षण हैं, चार ही आलम्बन है और चार ही अनुप्रेक्षाएँ है।

(११) **स्वाध्याय**—स्वाध्याय का अर्थ है—सद्ग्रन्थो का पठन-पाठन। ऐसे ग्रन्थो का पढना-सुनना जिनमे आत्मोत्थान के उपाय बताये गये हो, जीव आदि तत्वो का यथार्थ स्वरूप समझाया गया हो। उन ग्रथो वर्णित विषयो का चिन्तन मनन भी स्वाध्याय है।

(१२) **व्युत्सर्ग**—व्युत्सर्ग का अभिप्राय है त्याज्य वस्तु का त्याग। त्याज्य वस्तुएँ शरीर आदि हैं।

इसके भी दो भेद है—द्रव्य और भाव।

द्रव्य-व्युत्सर्ग के चार उत्तर भेद है—(१) शरीर-व्युत्सर्ग, (२) गण व्युत्सर्ग, (३) उपधि व्युत्सर्ग और (४) भक्तपान व्युत्सर्ग।

यहाँ शरीर-व्युत्सर्ग का अभिप्राय शरीर को छोडना नही अपितु शरीर के प्रति ममत्व का त्याग करना है। इसी कारण व्युत्सर्ग का दूसरा नाम कायोत्सर्ग भी है।

भाव व्युत्सर्ग के तीन उत्तर भेद है—(१) कषाय-व्युत्सर्ग, (२) ससार व्युत्सर्ग और (३) कर्म व्युत्सर्ग।

बन्धुओ! आपको मैंने निर्जरा के १२ भेदो यानी १२ तपो का सक्षिप्त परिचय दिया है, इनका विस्तार तो अत्यधिक है। फिर कभी इसे विस्तृत रूप से आपके समक्ष रखूगा।

इस समय तो मैं अर्हतर्षि महाकाश्यप द्वारा गाथा १० मे कथित मुख्य बात पर आता हूँ कि कर्मों का बध और निर्जरा ससारी जीव को सतत—सदा-सर्वदा होती रहती है तो समस्या यह है कि फिर ससारी जीव मुक्त क्यो नही हो जाता, वह अभी तक बधन मे क्यो पडा है?

सतत निर्जरा होते हुए भी आत्मा सर्व-कर्ममुक्त क्यो नहीं?

कर्मों की निर्जरा के सम्बन्ध मे एक ज्वलन्त प्रश्न उठता है कि आत्मा जब प्रतिक्षण कर्मों की इतनी निर्जरा करता है, तब भी वह सर्वकर्म-

मुक्त क्यो नही होती, क्योंकि पहले यह कहा गया है कि सवर और निर्जरा से शुभाशुभ कर्मक्षय होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर अर्हतर्षि महाकाश्यप ने दसवी गाथा मे दिया है। उसका आशय यह है कि आत्मा प्रतिक्षण जितने कर्मो की निर्जरा करता है, उन कर्मो से वे कर्म अनन्तगुणे है, जो अभी अनुदय अवस्था मे पडे हैं, उदय मे आये नही है। अत सम्पूर्ण कर्मों का क्षय न होने से मोक्ष होना सम्भव नही है।

अर्हतर्षि का दूसरा अभिप्राय यह भी है कि आत्मा शुभ या अशुभ कर्मों का विपाकोदय प्राप्त करता है, अर्थात्—वे उदय मे आते है, तो किसी न किसी निमित्त को लेकर ही आते है। अज्ञानी आत्मा शुभ निमित्त पर राग और अशुभ निमित्त पर द्वेष करता है। इसी राग और द्वेष के कारण वह आत्मा पुन नये कर्मो का उपर्जन कर लेता है कि निर्जरित (क्षय) हुए कर्मो की अपेक्षा परिणाम मे द्विगुणित या असख्य गुणित भी हो सकते हैं। अज्ञानी आत्मा ऐसा मूढ कर्जदार है, जो कर्ज तो चुकाता है, किन्तु वह एक हजार चुकाता है और दस हजार का नया कर्ज फिर ले लेता है, ऐसी स्थिति मे वह सर्व कर्मो से मुक्त कैसे हो सकता है ?

निर्जरा मे पूव सवर हो, तभी एक दिन सर्वकर्मविमुक्ति

अत होना यह चाहिए कि यदि कर्मों के ऋण से मुक्त होना है, तो नया ऋण लेना बद कर दे और पुराना ऋण थोडा-थोडा चुकाये, तो भी एक दिन ऐसा आ सकता है, जब वह पूर्णत ऋणमुक्त हो जाए। इसीलिए अर्हतर्षि ने निर्जरा से पूर्व सवर तत्त्व का निरूपण किया है। सवर के बिना की हुई निर्जरा का कोई मूल्य नही, क्योकि वह तो अनादिकाल से चली आ रही है। अकेली निर्जरा या सभी निर्जराएँ भव-परम्परा को समाप्त करने मे सहयोगी नही हो सकती। यही कारण है कि अर्हतर्षि ने तप के द्वारा होने वाली निर्जरा को महत्त्वपूर्ण बताया है, क्योकि तप के द्वारा निर्जरित कर्म आत्मा से पुन कभी चिपकते नही हैं।

कर्मक्षय करने मे रखी जाने वाली सावधानियाँ

पहले यह बताया गया था कर्म चाहे कितने ही प्रचुर मात्रा में और प्रबल हो, किन्तु आत्मा उससे भी अधिक प्रबल और अनन्त शक्ति-सम्पन्न है, इसलिए उन्हे क्षय किये जा सकते हैं, शिथिल भी किये जा सकते है। अन्धकार कितना भी गहन और प्रचुर हो, सूर्य का थोडा-सा प्रकाश उसे छिन्न-भिन्न कर देता है। संवर और निर्जरा (चारित्र एव तप) द्वारा कर्मक्षय होते हैं, परन्तु (१) उस समय भी निमित्त पर राग-द्वेष करना नही चाहिए

तथा (२) पहले नये कर्मों को सवर द्वारा आने से बिलकुल रोक देना, चाहिए, और (३) तपोजन्य (इहलौकिक पारलौकिक कामना-रहित तप के द्वारा होने वाली) कर्म-निर्जरा करे। इन तीन सावधानियो के अतिरिक्त और भी ६ सावधानियो की ओर अर्हतर्षि इगित करते है। वे इस प्रकार है—

अकुरा खध-खधीया जहा भवइ वीरुहो।
कम्म तहा तु जीवाण सारासाररतर ठित ॥११॥

उवक्कमो य उक्केरो सछोभो खवणं तथा।
बद्ध-पुट्ठ-निधत्ताण, वेयणा तु निकाइते ॥१२॥

उकड्ढत जधा तोय, सारिज्जत जधा जल।
सखविज्जा निदाणे वा पावकम्म उदीरती ॥१३॥

अप्पा ठिती सरीराण बहु पाव च दुक्कड।
पुव्व बज्झिज्जते पाव, तेण दुक्कर तवोमय ॥१४॥

खिज्जते पावकम्मानि, जुत्तजोगस्स धीमतो।
देसकम्मक्खयब्भूता जायते रिद्धियो बहू ॥१५॥

विज्जोसहि-णिवाणेसु, वत्थु-सिक्खा-गतीसु य।
तव-सजम-पयुत्ते य, विमद्दे होति पच्चओ ॥१६॥

दुक्ख खवेति जुत्तप्पा, पाव मीसे वि बधणे।
जधा मीसे वि गाहम्मि, विसपुप्फाण छड्डण ॥१७॥

समत्त च दय चेव सममासज्ज दुल्लह।
ण प्पमाएज्ज मेधावी मम्मगाह जहारियो ॥१८॥

अर्थात्– अकुर से स्कन्ध बनता है और स्कन्ध से शाखायें फूटती है, उससे वह विशाल वृक्ष बनता है। आत्मा के शुभ-अशुभ कर्म भी इसी प्रकार विकसित होते हैं।

—बद्ध, स्पृष्ट और निधत्त रूप मे बधे हुए कर्मो का उपक्रम, उत्कर, सक्षोभ और क्षय हो सकता है, किन्तु निकाचित कर्म का वेदन (फलभोग) अवश्य होता है।

—अजली मे भरकर ऊपर उठाया जाने वाला तथा ले जाया जाता हुआ पानी धीरे-धीरे क्षय होता जाता है, (इसी प्रकार बद्ध, स्पृष्ट और निधत्तरूप कर्मजल भी धीरे-धीरे क्षय हो जाता है) किन्तु निदानकृत कर्म अवश्य ही उदय मे आता है।

—यदि देहधारियो की स्थिति (आयु कर्म की अवधि) थोडी है और पाप कर्म बहुत हैं, साथ ही वे दुष्कर भी हैं, तथा पहले भी पाप कर्म बाँधे गये हैं तो उनके क्षय करने के लिए दुष्कर तप की आवश्यकता है।

—बुद्धिमान् युक्तयोगी साधक पाप कर्मों को नष्ट कर देता है, परन्तु आशिक रूप मे कर्मक्षय होने पर कभी-कभी अनेक लब्धियाँ (ऋद्धियाँ) प्राप्त हो जाती है।

—तप और सयम मे प्रवृत्त (प्रयुक्त) आत्मा कर्मो का विमर्दन (नाश) करने पर विद्याएँ, औषधियो के विज्ञान की गहराई में उतर जाता है, तथा शिक्षा शास्त्र, वस्तु पूर्वशास्त्र अथवा वास्तु शास्त्र एव गतिविज्ञान में प्रवीण हो जाता है।

—जो लब्धिया बन्धनरूप होती हैं उन्ही लब्धियो को पाकर युक्तात्मा दुःख का क्षय भी कर लेता है। जैसे मिश्रित पुष्प ग्रहण हो जाने पर कुशल माली विष-पुष्प छोडकर अच्छे फूलो का ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार योग्य साधक लब्धियो के दुरुपयोग को रोककर उनका सदुपयोग करके दुःख-क्षय कर लेता है।

—मेधावी साधक दुर्लभ सम्यक्त्व और दया (चारित्र) को सम्यक् रूप से पाकर प्रमाद न करे। जैसे शत्रु का मर्म (गुप्त रहस्य) जान लेने पर विपक्षी योद्धा जरा भी विलम्ब नही करता।

अर्हतर्षि महाकाश्यप ने यहाँ कर्मों को क्षय करने मे जिन सावधानियो का निर्देश किया है, वे इस प्रकार हैं—

पहली सावधानी—यह है कि जैसे छोटा-सा अकुर एक दिन विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, इसी प्रकार छोटा-सा अशुभ (पाप) कर्म भी साधक की लापरवाही से एक दिन बहुत वृद्धिगत हो जाता है। अतएव छोटे-से अशुभकर्म को उत्पन्न होते ही झटपट नष्ट कर दो।

दूसरी सावधानी—यह है कि यह मत समझो कि जो अशुभ कर्म बध गया है, उसका फल उसी रूप मे भोगना पडेगा, उसमे कुछ भी परिवर्तन नही हो सकता, किन्तु अगर कर्म का बन्ध स्पृष्ट, बद्ध या निधत्त रूप मे हुआ है, तो उसे मिच्छामि दुक्कड (पश्चात्ताप), (आलोचना, निन्दना, गर्हणा), प्रतिक्रमण, क्षमापना एव प्रायश्चित्त के द्वारा भोग कर शीघ्र ही क्षय किया जा सकता है। गाढ बन्धन को शिथिल बन्धन के रूप मे, या जप, तप, शुभ ध्यान, भावना, अनुप्रेक्षा, व्रत, नियम, सवर, सामायिक, परीषहजय चारित्रपालन आदि के द्वारा अशुभ को शुभ मे भी परिणत किया

जा सकता है और सर्वथा क्षय भी किया जा सकता है। परन्तु यदि कर्म निकाचित रूप से बँधे हुए है, तो उसमें कुछ भी परिवर्तन नही हो सकता, उन्हे तो उसी रूप मे भोगना ही पडेगा। हाँ, भोगते समय यदि समभाव रखे, अपनी आत्मनिन्दा करते हुए भोगे, निमित्तो को न कोसे तो नये कर्म नही बधते और निकाचित रूप से बधे हुए कर्म भी क्षय हो जाते है।

सूइयो के दृष्टान्त मे इस तथ्य को समझा रहा हूँ। सुइयो का एक जगह ढेर कर दिया जाए तो उन्हे अलग-अलग करने मे कुछ भी देर या दिक्कत नही होती, इसी प्रकार स्पृष्टरूप से बधे हुए कर्मो को मिच्छामि दुक्कड आदि देकर झटपट आत्मा से अलग किया जा सकता है। परन्तु सूइयो के उस ढेर को एक सूत के डोरे से बाध दिया जाए तो उसे खोलने और अलग-अलग करने मे कुछ देर लगती है उसी प्रकार बद्धरूप से बधे हुए कर्मो को आत्मा से अलग करने मे थोडी देर लगती है, अर्थात्—आलोचना, प्रतिक्रमण आदि से वे अलग हो सकते है। इसी प्रकार सूइयो के उस ढेर को लोहे के तार से कसकर बाध दिया जाए तो उसे खोलने और सूइयो को अलग-अलग करने मे पहले से अधिक देर लगती है, इसी प्रकार निधत्त रूप से बधे हुए कर्मो को आत्मा से प्रायश्चित्त, तप आदि द्वारा अलग करने मे काफी अधिक समय लगता है। मगर सूइयो के उस ढेर को आग मे तपा कर तथा घन से पीट कर एकमेक कर दिया जाए, लोहपिण्ड बना दिया जाए तो उन सूइयो को अलग-अलग करना असम्भव होता है, इसी प्रकार तीव्र-कषायवश निकाचित रूप से बधे हुए कर्मो मे स्थितिघात, रसघात एव परिवर्तन कुछ भी सम्भव नही है, आत्मा से उनका पृथक्करण प्रायश्चित्त, तप आदि द्वारा हो नही सकता, उन्हे तो भोगना ही पडेगा।

जैसे स्कन्दकमुनि ने काचरे का छिलका उतारते समय तीव्र रूप से निकाचित कर्मबध कर लिया था, उसका फल उन्हे चमडी उधडवाने के रूप मे भोगना पडा।

निष्कर्ष यह है कि स्पृष्ट, बद्ध एव निधत्तरूप रूप मे बधे हुए कर्मो मे उपक्रम (बधे हुए कर्मो को तोडना), उत्कर (कर्म की स्थिति आदि मे वृद्धि) सक्षोभ (कर्मो की स्थिति आदि मे सक्षेप—हानि) और तप आदि के द्वारा क्षय भी हो सकता है। उनमे उद्वर्तन, अपवर्तन, सक्रमण आदि के रूप मे परिवर्तन भी हो सकता है।

जैसे अजली मे भरा हुआ पानी प्रतिक्षण एक-एक बूँद गिर कर धीरे-समाप्त होता जाता है, वैसे ही स्पृष्ट, बद्ध और निधत्त रूप मे बधा हुआ

कर्म धीरे-धीरे क्षय हो जाता है। ऐसे कर्म बधने के बाद उनका अबाधाकाल (विपाकवेदन से पूर्व का काल) पूर्ण होने बाद शनै शनै उदय मे आकर क्षीण हो जाते है। किन्तु किसी फलासक्ति को लेकर निदान के रूप में किया गया कर्म अवश्य ही उदय मे आता है। अभिप्राय यह है कि मुमुक्षु साधक को चाहिए कि वह निकाचित रूप से, निदान करके किसी भी कर्म को न बाधे। अगर प्रमादवश या सामान्य रागवश कोई कर्म बध गया है तो उसे उन-उन उपायो से क्षय करे या अशुभ को शुभ में अथवा गाढबन्ध को शिथिलबन्ध के रूप मे परिवर्तन करे।

तीसरी सावधानी—यह है कि कई साधक इस भ्रम मे रहते हैं, मैं साधना काल मे तो कोई विशेष कर्म अर्जित नही कर रहा हूँ, फिर मुझे तप आदि करने की क्या आवश्यकता है ? इसी भ्रमनिवारण के लिए अर्हर्तर्षि कहते है - सावधान रहो ! यदि तुम्हारे अन्य कर्मों की स्थिति तुम्हारे आयुष्य कर्म की स्थिति से कई गुना अधिक है, तथा वे कर्म भी इसी भव के नही अनेक पूर्वजन्मो के हैं, साथ ही वे पाप कर्म भी उत्कट है, घोरतम है, तो उन सबके लिए तुम्हे दुष्कर उत्कट तप करना अनिवार्य है। अन्यथा तुम्हे अपने कर्मो को सर्वथा क्षय करने के लिए कई जन्म लेने पडे गे। भगवान महावीर ने देखा कि मेरे कर्म तो बहुत अधिक है, उनकी स्थिति भी आयुष्य से कई गुना अधिक है। अत उन्होने शीघ्र कर्मक्षय करने के लिए १२।। वर्ष की घोर तपस्या की, अनार्यदेश मे जाकर घोर परीषहो को समभाव से सहन किया।

चौथी सावधानी—यह है कि बुद्धिमान युक्तयोगी साधक पाप कर्मों को जब नष्ट करने लगता है, तब साथ-साथ पुण्य कर्मों की वृद्धि के कारण उसे अनेक लब्धियाँ प्राप्त हो जाती है। कई विद्याएँ (सिद्धियाँ), आमर्षोषधि आदि लब्धियाँ, दृष्टिवाद के वस्तुपूर्व तक का ज्ञान, शिक्षा शास्त्र तथा गति के आधार पर इतिहास विज्ञता आदि की उपलब्धि प्राप्त हो जाती है। अगर साधक उनका दुरुपयोग करता है तो वह पापकर्मों को क्षय करने के बजाय नये पापकर्मों को और बाध लेता है। अत साधक को इन लब्धियो, सिद्धियो आदि मे आसक्त नही होना चाहिए और न ही इनका दुरुपयोग करना चाहिए। अव्वल तो इनका प्रयोग ही नही करना चाहिए। इन चमत्कारो के प्रदर्शन और प्रयोग मे पडने पर कदाचित् प्रसिद्धि और यश कीर्ति बढ सकती है, परन्तु अहकारवृद्धि, आसक्ति, साधना मे विक्षेप, आदि के कारण नये पापकर्मों का बध होने की सभावना है। अत इन लब्धियो से सावधान रहे।

पाँचवीं सावधानी यह है कि कषाय की मन्द अवस्था में शुभ का बन्ध

विशेष और अशुभ का बन्ध अल्प होता है। शुभाशुभ अध्यवसायों के द्वारा सत्कार्य करने पर शुभाशुभ रूप मिश्रित कर्मों का बन्ध होता है। यद्यपि मन्दकषायी आत्मा देवगति का बन्ध करता है, किन्तु वहाँ भी वृत्तिजन्य दु ख तो मौजूद है ही। सम्यक्त्वी आत्मा नरक में भी शान्ति का अनुभव करता है। जैसे नरक-प्राप्त श्रेणिक का जीव क्षायिक सम्यक्त्वी होने के कारण शान्तिपूर्वक कष्टो का वेदन करता है। वहाँ अशुभ के साथ शुभ का उदय है, किन्तु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान युक्त आत्मा अशुभ को छोडकर शुभ और शुभ मे शुद्ध की ओर प्रवृत्त होता है। अत अशुभकर्म उदय मे आने पर साधक को सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानपूर्वक समभाव से उक्त दु ख रूप कर्मफल को भोगना चाहिए। ऐसा करके वह अशुभ कर्मों के प्रभाव को समाप्त कर देता है, अपने पर नही आने देता।

छठी सावधानी--यह है कि बुद्धिमान् साधक को यह नही सोचना चाहिए कि अभी तो बहुत आयुष्य है, इसलिए बाद मे कर्मशत्रुओ को क्षय कर लूगा। ऐसा प्रमाद बिलकुल न करे, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र (दया) को सतत समभावपूर्वक पालन करने का पुरुषार्थ करे। वह कर्मशत्रु के साथ सघर्ष करने मे एक क्षण का भी विलम्ब न करे, किसी की प्रतीक्षा न करे।

मोक्ष-प्राप्ति के विविध उपाय

अर्हतर्षि महाकाश्यप ने अब मोक्षतत्त्व को समझाने के लिए कुछ तथ्य प्रस्तुत किये है

णेहवत्तिक्खए दीवो जहा चयति सतति।
आयाण-बध-रोहमि, तहप्पा भवसतइ ॥१९॥

दोसादाणे णिरुद्धम्मि सम्म सत्थाणुसारिणा।
पुव्वाउत्ते य विज्जाए, खय वाही णियच्छती ॥२०॥

मज्ज दोसा विस वण्ही गहावेसो अण अरी।
धण धम्म च जीवाण, विण्णेय धुवमेव त ॥२१॥

कम्मायाणेऽवरुद्धम्मि सम्म मग्गाणुसारिणा।
पुव्वाउत्ते य णिज्जिण्णे खय दुक्ख णियच्छती ॥२२॥

अर्थात्—जैसे दीपक मे तेल (स्नेह) और बत्ती (ब्राट) के क्षय होने पर वह दीपकलिका रूप सतति का क्षय कर देता है वैसे ही आत्मा आदान (आस्रव) और बन्ध का अवरोध कर देने पर भवपरम्परा को समाप्त कर देता है।

—यदि व्याधिग्रस्त मानव दोषो (त्रिदोषो) के आगमन को रोककर वैद्यकशास्त्रानुसार प्रवृत्ति करता है और पूर्वदोषो का परिमार्जन करता है तो व्याधि से मुक्त हो जाता है। (इसी प्रकार भवभ्रमण की व्याधि या कर्म-व्याधि से ग्रस्त मानव नये दोषो (आस्रवो) की परम्परा को रोककर सम्यक् शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति करता है, पुराने (पूर्वोपार्जित) कर्मदोषो का क्षय करता है तो वह कर्मव्याधि से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है।)

—आत्मा के दोष है—मद्य, विष, अग्नि, ग्रहावेश, ऋण और शत्रु, (ये आयुष्य को शीघ्र समाप्त करने मे निमित्त) है, जबकि धर्म (रत्नत्रयरूप) को जीवो का ही ध्रुव धन जानना चाहिए।

यहाँ दैहिक और आत्मिक दोनो प्रकार के स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाने वाले दोष बताए गए हैं। आत्मा का आत्मस्वभावरूप धर्म ही ध्रुव धन है। जो सम्प्रदायो और पथो से ऊपर है।

—*कर्मग्रहण को रोककर सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्ष मार्ग का अनुसरण* करने वाला पूर्वार्जित कर्मो की निर्जरा करके समस्त दुखो का क्षय कर देता है। यही आत्मा की मुक्ति है, सिद्धि है, सर्वदुखो का अन्त है, भव-परम्परा का अन्त है, सर्वकर्म क्षय है।

वस्तुत मुक्त आत्मा ही सिद्ध, बुद्ध, सर्वकर्ममुक्त, भवभ्रमण से रहित तथा समस्त दुखो का अन्त करता है।

आत्मा की शुद्धि के उपाय

बन्धुओ! यह तो पहले कहा जा चुका है कि आत्मा कर्मो से लिपटा हुआ है। कर्मबन्ध के पाँच कारणो मे *सबसे अग्रणी है—मिथ्यात्व*। इसका सहभावी है—अनन्तानुबन्धी-कषाय-चतुष्क। यह आत्मा का कट्टर शत्रु है। आत्मा के सम्यग्दर्शन-गुण का यह घात करता है। यह कषाय समग्र जीवन-पर्यन्त आत्मा को जलाता रहता है उस आग की लपटो मे दूसरो को झुल-साता है। जो कषाय जीते जी अन्तर् को आग मे जलाता है और मरने के बाद भी नरक की आग मे पटकता है, वह अनन्तानुबन्धी कषाय है।

शत्रु पर विजय पाने के लिए दो साधन अपेक्षित है—शक्ति और सुरक्षा के साधन। आत्मा सम्यग्दर्शन की शक्ति पाए और दूसरी ओर से आत्मा की सुरक्षा के लिए अहिसा आदि धर्माचरण और सम्यक्तपश्चरण हो तो आत्मा अनन्तानुबन्धी-कषाय को समाप्त कर देता है। उससे आत्मा बहुत अशो मे शुद्ध और सशक्त बनता है। अर्हतर्षि महाकाश्यप इसी तथ्य की ओर इशारा करते है—

पुरिसो रहमारूढो, जोग्गाए सत्तसजुतो।
विपक्ख णिहण णेइ, सम्मदिट्ठी तहा अण ॥२३॥

वह्नि-मारुय-सजोगा, जहा हेम विसुज्झती।
सम्मत्त-नाण-सजुत्ते, तहा पाव विसुज्झती ॥२४॥

जहा आतव-सतत्त, वत्थ सुज्झइ वारिणा।
सम्मत्त-सजुत्तो अप्पा, तहा झाणेण सुज्झती ॥२५॥

कंचणस्स जहा धाऊ जोगेण मुच्चए मल।
अणाइए वि सताणे तवाओ कम्मसकर ॥२६॥

वत्थादिएसु सुज्झेसु, सताणे गहणे तहा।
दिट्ठं त देसधम्मित्त, सम्ममेय विभावए ॥२७॥

अर्थात्—विपक्षी (शत्रु) को हनन करने योग्य शक्ति से सम्पन्न रथारूढ पुरुष शत्रु को समाप्त कर देता है, इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय शत्रु को सम्यग्दर्शन की शक्ति से सम्पन्न साधक समाप्त कर देता है।

--जैसे--अग्नि और हवा के सयोग से सोना शुद्ध हो जाता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त आत्मा पाप से विशुद्ध हो जाता है।

—जैसे—धूप से तप्त वस्त्र पानी से शुद्ध हो जाता है, वैसे ही सम्यक्त्व से युक्त आत्मा ध्यान से शुद्ध होता है।

— धातु के सयोग से जैसे सोने का मैल दूर होता है, वैसे ही अनादि कर्म-सतति भी तप से नष्ट होती है।

वस्त्रादि की शुद्धि मे और कर्म-सतति मे दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक की योजना की गई है। दृष्टान्त सदैव एकदेशीय होता है। इस दृष्टान्त पर सम्यक्-प्रकार से इसकी विचारणा (घटित) करना चाहिए।

अर्हतर्षि ने इन गाथाओ में आत्मशुद्धि के चार उपाय बताए है—

(१) सम्यग्दर्शनरूपी शक्ति से आत्मा पर आए हुए अनन्तानुबन्धी कषायमल को समाप्त करो।

(२) स्वर्ण-विशुद्धि अग्नि और वायु के प्रयोग से होती है, तदनुसार सम्यग्दर्शन और सम्यग्-ज्ञान से आत्मा को पाप से विशुद्ध बनाओ।

(३) धूप से वस्त्र में हुए पसीने की जल से शुद्धि होती है, वैसे ही सम्यक्त्व से युक्त आत्मा की शुभध्यान से शुद्धि करो।

(४) धातु (तेजाब आदि) के सयोग से स्वर्णमल दूर होता है, तथैव सम्यक्तप से आत्मा पर लगे हुए कर्मों को नष्ट करके आत्मा को विशुद्ध बनाओ।

सक्षेप मे, आत्मा की शुद्धि के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र (सम्यक्ध्यान) और सम्यक्तप, ये चार साधन हैं।

आत्मा पर कर्मों का मैल चढा हुआ है। सम्यग्दर्शन से अनादिकालीन मिथ्यात्व का मैल नष्ट हो जाता है, जिसके कारण आत्मा कर्मों के भार से आक्रान्त रहता था। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनयुक्त सम्यग्ज्ञान से आत्मा स्व-पर का भेदविज्ञान कर सकता है वही पापकर्म रूप परभाव को आत्मा पर से हटाने के लिए प्रयत्नशील होता है।

सम्यक्त्व से युक्त साधक धर्मध्यान एव शुक्लध्यान से कर्म मैल को हटा कर आत्मा को शुद्ध करता है और सम्यक्तप से समस्त कर्म-मैल को जला कर आत्मा को शुद्ध स्वभावयुक्त बना देता है।

सिद्धि और सिद्ध आत्माएँ

सम्पूर्ण कर्मक्षय होने की प्रक्रिया किस प्रकार होती है ? तथा सिद्ध आत्मा सिद्धि प्राप्त करने के पश्चात् कैसी स्थिति मे होते हैं ? इस विषय मे इस अध्ययन की अन्तिम गाथाएँ बहुत ही मननीय हैं—

आवज्जती समुग्घातो जोगाण च निरुम्भण।
अनियट्टी एव सेलेसी सिद्धी कम्मक्खओ तहा ॥२८॥

णावा व वारिमज्झमि खीणलेवो अणाउलो।
रोगी वा रोगणिम्मुक्को, सिद्धो भवति णीरओ ॥२९॥

पुव्वजोगा असगत्ता, काऊ वाया मणो इ वा।
एगतो आगतो चेव कम्माभावा ण विज्जती ॥३०॥

पर णावग्गहाभावा, सुही आवरणक्खया।
अत्थिलक्खणसब्भावा, निच्चो सो परमो धुव ॥३१॥

दव्वतो खित्ततो चेव कालतो भावतो तहा।
णिच्चाणिच्च तु विण्णेय ससारे सव्वदेहिण ॥३२॥

गंभीरं सव्वओभद्दं सव्वभाव वि भावणं।
धण्णा जिणाहितं मग्ग सम्म वेदेंति भावओ ॥३३॥

अर्थात्—(सिद्धिगति प्राप्त करने से पूर्व) आवर्जन, समुद्घात, योगो का निरोध और शैलेशीकरण के द्वारा आत्मा सर्वकर्मक्षय करके सिद्धि प्राप्त करता है ।

—जलप्रवाह के बीच मे रही हुई नौका के समान कर्म-लेपरहित अनाकुल आत्मा सिद्ध होता है ।

—(सिद्धस्थिति मे) पूर्व (ससारी अवस्था) के काया, वाणी और मन रूप से पृथक् एक ही आत्मद्रव्य रहता है । कर्म-जन्य भावो का वहाँ अभाव है । आत्मा के क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्तसुख, तथा सत्त्व-प्रमेयत्व आदि पारिणामिक भाव ही वहाँ होते हैं । औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भावो का वहाँ अभाव होता है । साथ ही भव्यत्वरूप पारिणामिक भाव भी वहाँ नही होता । आगमो मे सिद्धप्रभु को 'भव्याभव्य' कहा है, क्योकि वे सिद्धस्थिति प्राप्त है । अत उनमे अब भव्यत्व रहा ही कहाँ है ? सिद्धदशा मे योगो का अभाव है । मुक्तात्मा मे पुनरागमन नही है, भवपरम्परा का हेतु कर्म उनमे नही है ।

—सिद्धात्मा लोकाग्र मे स्थित होते हैं क्योकि आत्मा आगे (अलोक मे) नही जा सकता, उससे ऊपर अवग्रहस्थान का अभाव है । समस्त आव-रण के क्षय होने मे सिद्धात्मा परमसुख में अवस्थित है । अस्तिलक्षण से सद्भावशील है, (अर्थात्—वहाँ आत्मा का अभाव नही होता), और वह परम नित्य और शाश्वत है ।

—ससार की समस्त देहधारी आत्माओं को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नित्य और अनित्य जानना चाहिए ।

—गम्भीर, सर्वतोभद्र (सदैव सबके लिए कल्याणकारी), समस्त भावो के प्रकाशक, अन्तर् की गुफाओ को प्रकाशित करने वाले, सर्वज्ञ-निरूपित धर्म का जो सम्यक् प्रकार से अनुभव करते है, अथवा सम्यक् रूप से पह-चानते है वे आत्माएँ धन्य है ।

आशय यह है कि सिद्धि—मुक्ति प्राप्त करने से पूर्व आत्मा शुक्लध्यान की परमतपोऽग्नि के द्वारा चार घातिकर्मो का क्षय करके केवलज्ञान-केवल-दर्शन प्राप्त करता है, उसी का क्रम बतलाते हुए अर्हतर्षि कहते हैं—सर्वप्रथम आवर्जन क्रिया होती है । उदयावलिका मे अप्राप्त कर्मो को उदयावलिका मे प्रक्षेपण करना आवर्जन-क्रिया है । जब आयु अल्प हो और वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म अधिक हो, तब केवलीप्रभु आयुष्य को सम स्थिति मे लाने के लिए समुद्घात करते है, क्योकि आयु के बिना आत्मा शरीर मे रह नही

सकता और वेदनीयादि शेष अघाती (भवोपग्राही) कर्म क्षय न हो तो सकर्म आत्मा सिद्ध कैसे होगा ? ऐसी स्थिति मे केवली भगवान् अष्टसमयभावी समुद्घात करते है। प्रथम चार समय मे वे दण्ड, कपाट, मन्थान और अन्त पूर्ति के रूप मे आत्मप्रदेशो को लोकव्यापी बनाते है और शेष चार समय मे उसी क्रम से पुन उन आत्मप्रदेशो को समेट कर शरीरस्थ करते है। यही क्रिया केवलि-समुद्घात है। जैसे गीला वस्त्र फैला देने से जल्दी सूख जाता है, उसी प्रकार समुद्घात से आत्मप्रदेशो को फैलाकर लोकव्यापी बना देने से वेदनीयादि तीन अघाति कर्मो की स्थिति आयुष्य के बराबर हो जाती है। उसके बाद केवली क्रमश काया, वचन और मनोयोग का निरोध करते है। (पहले वे स्थूल वचनयोग से स्थूल काययोग का और फिर स्थूल मनोयोग से स्थूल वचनयोग का निरोध करते है। फिर वे सूक्ष्म काययोग के द्वारा स्थूल मनोयोग का और बाद मे क्रमश सूक्ष्म वचनयोग से सूक्ष्म काययोग का तथा सूक्ष्म मनोयोग से सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करते है। और अन्त मे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान के चतुर्थ पाद से सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करते है।) तत्पश्चात् वे शैलेशी निष्कम्प अवस्था को प्राप्त करते है। फिर अनिवृत्ति (अनियट्टी) अवस्था प्राप्त करते है। अनिवृत्ति, वह भाव है, जो मुक्ति पाये बिना निवृत्त नही होता। इसे अनियट्टीगुणश्रेणी भी कहते है। तदनन्तर क्रियारहित स्वस्वरूप शैलेशी अवस्था आती है। जिसमे पाँच लघु अक्षरो (स्वरो) के उच्चारण काल तक आत्मा शरीर मे ठहर कर फिर देहमुक्त होकर सिद्ध होता है।

सम्पूर्ण कर्मक्षय होने के बाद आत्मा की यही सर्वोच्च शुद्धतम स्थिति है।

नौका अथाह समुद्र के जल पर तैरती है। नौका के नीचे प्रचुर जलराशि रहती है, तथापि नौका मे एक बूद भी नही रहती। इसी प्रकार मोहमुक्त केवली आत्मा शेष आयुष्य पूर्ण न हो, तब तक ससार मे नौका के सदृश रहता है। अनन्तानन्त कर्म-वर्गणाएँ उसके चारो ओर रहती हैं। कर्मद्रव्य ससार मे तो सर्वत्र व्याप्त है, सिद्ध-शिला पर भी कर्म प्रदेश है किन्तु सिद्ध जीव कर्मविमुक्त होते हैं और चार कर्मो से युक्त होते हुए भी केवली भगवान् ससार से अलिप्त रहते हैं। रोग-विमुक्त व्यक्ति की भाँति वे भवभ्रमण के रोग से मुक्त होकर असीम आनन्द का अनुभव करते हैं।

सिद्धगति मे देह, वाणी और मन रूप से पृथक् एकमात्र शुद्ध आत्मा ही स्वस्वरूप मे स्थित रहती है। कर्म वहाँ बिलकुल नही है, इसलिए जन्म

(मरणादि रूप ससार) वहाँ कतई नही होता। वहाँ से ससार मे पुनरागमन भी नही होता, क्योकि सिद्ध-आत्मा कर्मो से सर्वथा दूर होते हैं। कर्मों के आगमन का मुख्य हेतु योग है जिनका वहाँ पूर्णतया अभाव है। ग्यारहवें से तेरहवे गुणस्थान तक केवल योग ही है। वहाँ ईर्यापथिक क्रिया है, जो १४वे गुणस्थान में समाप्त हो जाती है। गति धर्मास्तिकाय-सापेक्ष होने से आत्मा ऊर्ध्वगतिधर्मी होते हुए भी लोकाग्र से ऊपर नही जाती। बौद्धदर्शन आत्म-सतति के सर्वथा उच्छेद को निर्वाण मानता है जबकि जैनदर्शन मोक्ष में आत्मा का उच्छेद नही, उसका सद्भाव मानता है। हाँ, मोक्ष मे आत्मा की विभावदशाजन्य विकृतियाँ सर्वथा समाप्त हो जाती है, किन्तु आत्मा समाप्त नही होती। यदि आत्मा ही समाप्त हो जाए, तो फिर साधना किसके लिए की जाएगी ? अत सिद्धि प्राप्त आत्मा शाश्वत रूप मे स्थित रहता है।

विश्व के समस्त पदार्थ द्रव्यरूप से नित्य है किन्तु पर्याय-परिवर्तन की अपेक्षा अनित्य भी है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार वस्तु का स्वभाव ही 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्' अर्थात्—उत्पत्ति, व्यय, ध्रौव्य से युक्त ही सत्–द्रव्य है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पत्ति और विलय (विनाश) मे परिवर्तित हो रहा है, किन्तु उसके परिवर्तन का यह वर्तन ध्रुव की धुरी पर ही स्थित है। इस ध्रुव सिद्धान्त मे सिद्धिस्थित आत्मा भी उत्पाद-व्ययशील है। उनमे भी सूक्ष्म परिवर्तन है। स्वभावस्थित सिद्ध-आत्मा भी स्वगुणो मे रमण करता है। यह रमणता ही सिद्धो के सूक्ष्म परिवर्तन की परिचायिका है। समस्त द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त हैं, उनका पर्याय-परिवर्तन सिद्धात्माओ का पर्यायपरिवर्तन है।

धन्य है उन सिद्धगति प्राप्त आत्माओ को

अर्हतर्षि महाकाश्यप इस अध्ययन की अन्तिम गाथा द्वारा उन महान् आत्माओ को धन्यवाद देते है, जिन्होने अनन्त अनथक पुरुषार्थ करके कर्मों के साथ व्यवस्थितरूप से युद्ध किया और उन्हे परास्त करके वे मोहविजयी, अजेय वीतरागी, सर्वतोभद्र एव सर्वभाव प्रकाशक सर्वज्ञ बने। सर्वज्ञप्ररूपित रत्नत्रयरूप शुद्ध धर्म का सम्यक् आचरण करके, भगीरथ पुरुषार्थ द्वारा वे मोक्षशिखर पर पहुँच कर जगत् के जीवो को महती प्रेरणा दे रहे हैं, कर्मों से मुक्त होने की, जन्म-मरणरूप भवपरम्परा से छुटकारा पाने की, तथा अखण्ड आत्म-विश्वास और प्रबल आत्मशक्ति से आगे बढने की !

जन्म-कर्म से मुक्त होने का पुरुषार्थ करें

बन्धुओ! इस अध्ययन मे अर्हतर्षि ने ६ तथ्यो का प्रतिपादन कर दिया है—(१) आत्मा है, (२) वह नित्य है, (३) वह अपने कर्मों का कर्त्ता, (४) और भोक्ता है, (५) (आस्रव और बन्ध से मुक्तिरूप) मोक्ष है और (६) मोक्ष का उपायरूप सद्धर्म (सवरनिर्जरारूप) है। यही जैनदर्शन के छह मुख्य स्तम्भ हैं।

आप भी इन जीवादि नौ तत्त्वो पर गम्भीरता से विचार करके अपनी आत्मा को कर्म-बन्धन से और जन्म-परम्परा से मुक्ति दिलाने का पुरुषार्थ करे। मानव-जीवन मे यही पुरुषार्थ श्रेयस्कर है। □

१३

मिथ्या श्रद्धा और सम्यक् श्रद्धा

धर्मप्रमी श्रोताजनो !

ऋपिभापितानि के प्रवचन-क्रम मे आज मैं आपके सामने एक नये विपय पर प्रकाश डालना चाहूँगा । वह विषय है आत्म-श्रद्धा और परमात्म-श्रद्धा ।

ससार मे प्राय जितने धर्म है, सभी ईश्वर की सत्ता मे विश्वास रखते है । ईश्वर या परमात्मा मे सभी की श्रद्धा है, विश्वास है । किंतु कुछ लोग जो ईश्वर को कर्ता-हर्ता मानते है, उनका कहना है- ईश्वर अनन्त शक्तिमान है, वह चाहे जिसको सुखी कर सकता है, चाहे जिसको दु ख दे सकता है । सारा ससार उसी की इच्छा से चलता है ।

कुछ लोग है जो ईश्वर को सिर्फ द्रष्टा मानते है । उनका विश्वास है, ससार मे जो भी सुख-दु ख है वह अपना किया हुआ है । हमारा आत्मा यदि सत्कर्म करता है तो उसका फल सुख रूप मे प्राप्त होता है, आत्मा यदि असत्कर्म करता है तो उसका फल दु ख रूप मे मिलता है । ईश्वर इसमे कोई हस्तक्षेप नही करता । यह नही होता कि आपने जहर खा लिया और फिर ईश्वर से प्रार्थना करे कि हे परमात्मा मुझे मरने मत देना ! मुझे जिला दना ! अपने मिर्च खाई है तो मुँह जलेगा । आपने मीठा खाया है तो मुँह मीठा होगा । इसमे ईश्वर क्या करेगा ?

भारतवर्ष मे बहुत पुराने समय से ये दोनो ही विचारधारा चली आ रही है । ईश्वर को कर्ता मानने वाले सब कुछ उसी के भरोसे छोड देते है । ईश्वर को द्रष्टा मात्र मानने वाले आत्मा को सुख-दु ख का कर्ता मानकर कर्म-फल मे विश्वास करते है । श्रमण परम्परा मे निर्ग्रन्थ धर्म आत्मा को कर्ता मानकर कर्म एव कर्मफल मे विश्वास करता है । जैन धर्म का यह दृढ विश्वास है । कि—

अप्पा कत्ता वि कत्ता य दुहाण य सुहाण य

सुख और दु ख का करने वाला आत्मा ही है । आत्मा जैसा कर्म करता

है उसी के अनुसार उसको फल मिलता है। ईश्वर या परमात्मा उसमे कोई हस्तक्षेप नही करता।

जो लोग ईश्वर को कर्ता-हर्ता मानते है वे कहते हैं—ईश्वर मे श्रद्धा रखो! जो आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे कहते हैं—आत्मा मे श्रद्धा रखो!

प्रस्तुत प्रकरण मे तेतलीपुत्र अर्हतर्षि का प्रवचन है। यह ऋषिभाषितानि का दसवाँ अध्ययन है। इसमे ऋषि ने इसी बात पर बल दिया है कि कर्मों का कर्ता आत्मा है? सुख-दुख पाने वाला आत्मा स्वय ही है।

"को क ठावेइ अण्णत्थ, सगाइ कम्माइं इमाइ।"

—कौन किस को (अपने आत्मभाव से) अन्यत्र (दु ख के कारणभूत स्थानो मे) स्थापित करता है? मेरे अपने कर्म ही हैं, (जो मुझे बन्धन मे डाल कर दु ख के दलदल मे फँसाते है, उनसे मुक्त होने की शक्ति भी स्वय मुझ मे है।)

यह तो तो सर्वविदित है कि ससार के समस्त मानव अपने ही दोषो के कारण बन्धन मे पडते है। परमात्मा न तो किसी को बन्धन मे डालते है, न ही दु ख देते है, और न ही दु खो से मुक्त करने का दायित्व उन पर है। अपने दु खो, कष्टो और सकटो के लिए व्यक्ति स्वय ही जिम्मेवार है। बाहरी शक्ति न तो किसी को बन्धन मे डालकर दु ख देती है और न ही किसी के दु ख को दूर कर सकती है, अथवा बन्धनमुक्त कर सकती है। एक मस्त कवि कविता की भाषा मे कहता है—

सखे! तू न बीच मे बोल!
स्वय बधा हूँ, स्वय खुलूगा अपना हृदय टटोल।

प्रस्तुत सूत्र वाक्य में अर्हतर्षि अपने जीवन मे अनुभूत तत्व बतला रहे है कि मैं अब तक भ्रम मे था। मैं यह समझता था कि मुझ पर जो अगणित दु ख और विपत्ति, सकट और मुसीबतें आई है, वे परमात्मा ने दिये हैं अथवा मेरे स्वजन-परिजनो ने मुझे अपमानित करके सकट मे डाला है।

मैं सुख-सुविधाओ और विलासिता मे मग्न रहकर स्वय को, अपने ही पुरुषार्थ से, अपने ही अहकार वश सुखी मानता था। उस समय तो मैं परमात्मा को भूल गया था, अहकर्ता के अभिमान मे पड कर अपने आप को ही सर्वेसर्वा तथा राज्य का कर्ता-धर्ता मानता था। परन्तु अब मेरी आँखे खुली। मुझे सूर्य के उजाले की तरह प्रत्यक्ष अनुभव हो गया कि परमात्मा किसी को दु ख नही देते, न ही सकट मे डालते है, और न ही वीतराग प्रभु किसी के अपने किये हुए दु ख, विपत्ति और सकटो को नष्ट करते हैं। सत्य यह है कि—

स्वय कृत कर्म, यदात्मना पुरा,
फल तदीय लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुटम्,
स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा ।

—(आचार्य अमितगति)

आत्मा ने पूर्व मे जो कुछ कर्म स्वय ही किये है उन्ही का शुभाशुभ फल वह प्राप्त करता है । यदि अपने किये हुए कर्मो का फल दूसरा देता है तो स्पष्ट है कि स्वकृत कर्म निरर्थक हो जायेगा, अर्थात्—फिर तो स्वय किये हुए अच्छे-बुरे कर्म के अनुसार फल न मिल कर दूसरे के द्वारा—किसी बाहरी शक्ति की इच्छानुसार शुभाशुभ फल मिलेगा तब अपने द्वारा किये हुए कर्मो का क्या होगा ?

ऐसी श्रद्धा से सावधान !

वास्तव मे, ईश्वर न तो किसी को दु ख देता है और न ही किसी के अपने किये हुए कर्मोदयवश आए हुए दु ख या सकट का ही निवारण करता है । इस दृष्टि से, यानी इस प्रकार की अन्धमान्यता से अर्हतर्षि तेतलिपुत्र परमात्मा पर या देव, गुरु एव धर्म पर विपरीत श्रद्धा के खिलाफ खडे होकर कहते है—

सद्धेय खलु भो समणा वदती, सद्धेय खलु माहणा,
अहमेगो असद्धेय वदिस्सामि ।
तेतलिपुत्तेण अरहता इसिणा बुइय ॥

'श्रमण कहते है कि श्रद्धा करनी चाहिए, माहन (ब्राह्मण) भी कहते है कि श्रद्धा करनी चाहिए परन्तु मैं अकेला कहता हूँ कि श्रद्धा नही करनी चाहिए इस प्रकार अर्हतर्षि तेतलिपुत्र ने कहा ।'

यहाँ पर तेतलीपुत्र अर्हतर्षि ने श्रद्धा और अन्धश्रद्धा मे एक बहुत बडी रेखा खीच दी है । उनका कथन है कि कुछ श्रमण भी इस श्रद्धा (या अन्ध श्रद्धा) मे डूबे है कि ससार मे जो कुछ हो रहा है, होगा वह सब नियति—भाग्य (या परमेश्वर) की इच्छा से ही होता है । मनुष्य तो नियति के हाथ की कठपुतली मात्र है ।

आप पूछोगे—श्रमण (यानी निर्ग्रन्थधर्म—जैनधर्म) तो यह बात नही कहता । किन्तु आपको पता होना चाहिए प्राचीन समय मे श्रमणो की अनेक परम्पराएँ थी । हम वीतराग देव के अनुयायी श्रमण निर्ग्रन्थ श्रमण कहलाते थे, जबकि तथागत बुद्ध के अनुयायी 'शाक्य-श्रमण' नाम से प्रसिद्ध थे । गोशालक भी श्रमण परम्परा का आचार्य था । उसके अनुयायी 'आजीवक

श्रमण' कहलाते थे। इसी तरह 'तापस श्रमण' जटाधारी, जगलो मे रहने वाले सन्यासी भी 'श्रमण' होते थे और गैरिक श्रमण गेरुए रग के वस्त्र पहने त्रिदण्ड धारण किये रहने वाले सन्यासी भी 'श्रमण' ही कहलाते थे। प्रवचनसारोद्धार[1] आदि ग्रन्थो के उनका वर्णन आता है।

तो इस प्रकार श्रमणो की पाँच परम्पराएँ पुराने समय मे चल रही थी। और उनकी विचित्र-विचित्र मान्यताएँ थी। गोशालक नियतिवादी था, शाक्य-श्रमण (बौद्ध) क्षणिकवादी थे। तापस श्रमणो की मान्यताओ का परिचय आज पुराने ग्रन्थो मे नही मिलता, किन्तु लगता है यहाँ अर्हतर्षि ने तापस श्रमणो की इस प्रकार की अधश्रद्धा की ओर सकेत किया है जो यह मानते थे कि मनुष्य कुछ भी पाप करे, किंतु अन्त मे परमात्मा की शरण मे चला जाये तो वह उसे उन पापो से मुक्त कर देता है। इसलिए ऋषि ने यहाँ श्रमण एव ब्राह्मण दोनो की ही इस श्रद्धा पर प्रहार किया है कि—परमात्मा के प्रति भी पूर्वोक्त प्रकार की तथाकथित दु खमुक्ति की श्रद्धा रखकर नही चलना चाहिए, और न ही ससार के इन सम्बन्धीजनो या सम्बन्धो के प्रति कोई वैसी श्रद्धा करे क्योकि सासारिक सम्बन्ध स्वार्थ के धागो से बधे हुए है।

ऐसी अश्रद्धा का रहस्य स्वकथन द्वारा

अर्हतर्षि तेतलिपुत्र के इस प्रकार की श्रद्धा के विरुद्ध कथन की गहराई मे उतर कर देखा जाए तो ये उद्गार उस समय के है, जबकि एक ओर वे ईश्वरवादियो की सत्पुरुषार्थविहीन कोरी श्रद्धा एव स्वजनो के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की स्वार्थपरायण श्रद्धा से ऊब चुके थे। अपमान से त्रस्त होकर ही उन्होने ये उद्गार निकाले थे। इस कथन के पीछे तेतलिपुत्र के उत्थान-पतन की रोचक आपबीती कहानी है।

इस आत्मकथा की पूर्वभूमिका जैनागम ज्ञातासूत्र मे विस्तृत रूप से वर्णित है।

देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धाहीन कनकरथ राजा

तेतलीपुर का राजा कनकरथ ब्रह्मचर्यप्रेमी तथा रूपवती रानी पद्मावती पर अत्यन्त मुग्ध था। वह इतना कामासक्त था कि पद्मावती के यौवन को अखण्डित रखने और अपनी अधम सत्तालोलुपतावश पद्मावती से होने वाले पुत्र के अग को खण्डित करा देता और उसे स्तनपान नही करने देता।

---

१ (क) प्रवचनसारोद्धार, द्वार ४, प्रथम भाग, गाथा ७३१

(ख) जैन सिद्धान्त बोल सग्रह, भाग १, पृष्ठ ३८७

परमात्मा, धर्म या गुरु के प्रति न तो उसकी श्रद्धा थी और न ही अन्ध-श्रद्धा थी। अपने प्यार के पात्र अगजात पुत्र के अगो को खण्डित करके राज्य के लिए अयोग्य सिद्ध करके राजा कनकरथ अन्यायी और अत्याचारी बना हुआ था। रानी चाहते हुए भी राजा के अन्याय अत्याचार के खिलाफ विद्रोह नही कर सकती थी। कनकरथ राजा परमात्मा, सद्गुरु या सद्धर्म के प्रति बिलकुल अश्रद्धालु था। जनता भी उसके इस अत्याचार से दु खित थी।

पद्मावती की श्रद्धा फलित हुई

पद्मावती रानी की देव, गुरु और धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा थी। वह कनकरथ राजा के अत्याचारो को देख-देखकर काप उठती थी। परमात्मा से प्रार्थना किया करती थी कि राजा को सद्बुद्धि प्राप्त हो। राजा को भी वह मधुर शब्दो मे कहती थी कि क्या आप जानते है कि आपके पाप कर्मों का कितना बुरा परिणाम आएगा? थोड़े-से जीने के लिए आप इतनी रौद्र लीला क्यो करते है? यद्यपि राजा सुनकर अनसुना कर देता था तथापि मन ही मन उसे उसका पापकर्म कचोटता रहता था। रानी पद्मावती की तपस्या, परमात्मभक्ति और श्रद्धा के पुण्यबल से उसके शुभकर्मों का उदय हुआ। प्रकृति अनुकूल हुई।

कनकरथ राजा का अमात्य तेतलिपुत्र था। उसने 'यथा-राजा तथा प्रजा' की कहावत के अनुसार एक स्वर्णकार की पुत्री पोट्टिला के रूप से मुग्ध होकर उसके साथ पणिग्रहण किया।

पद्मावती रानी को राजा का अत्याचार असह्य हो उठा। वह परमात्मा से श्रद्धापूर्वक प्रार्थना करती रहती, इधर तप, व्रत, नियम, दान आदि धर्माचरण भी करती रही। सौभाग्य से उसकी मानसिक पीडा की प्रतिध्वनि अमात्य तेतलिपुत्र के हृदय मे हुई। एक दिन रानी ने गुप्त रूप से अमात्य तेतलिपुत्र को बुलाया और अपनी मनोव्यथा कहकर उससे सहयोग मागा। रानी के परम पुण्ययोग से अमात्य तेतलिपुत्र ने कहा—"महारानी जी! आप कहे उस प्रकार से मैं सहयोग देने को तैयार हूँ।"

पद्मावती ने कहा—इस समय मैं गर्भवती हूँ। अगर गर्भस्थ बालक पुत्र हो तो उसे स्थानान्तरित करके दूसरे स्थान से पुत्रीरूप बालक लाकर रख दिया जाय तो कदाचित राजा उस बालिका पर दया करके उसका अग-भग न करे या नष्ट न करे तो यह राजकुमार सुरक्षित रहकर भविष्य मे उत्तराधिकारी बने।" यो कहते-कहते पद्मावती रानी की आँखे गीली हो गई।

अमात्य तेतलिपुत्र ने कहा—"महारानी जी! चिन्ता न करे। इस

समय पोट्टिला (अमात्य की पत्नी) भी गर्भवती है। यदि उसके गर्भ से पुत्री हो तब तो कोई प्रश्न ही नही है। किन्तु यदि पुत्र हो तो उस समय कोई न कोई उपाय अवश्य ही इस सत्कार्य के लिए निकल आयेगा। मैं वफादारी के लिए चाहे जो त्याग करने को तैयार हूँ। आप निश्चिन्त रहे।"

महारानी पद्मावती को इस उत्तर से बडा आश्वासन मिला। उसका रोम-रोम उल्लास से भर गया। उसने अन्तर् से अमात्य को आशीर्वाद की वृष्टि की।

महारानी के शुभसकल्प एव श्रद्धाबल के अनुसार प्रकृति भी अनुकूल हुई। ठीक समय पर महारानी के पुत्र हुआ और अमात्य तेतलिपुत्र की पत्नी पोट्टिला की कूख से पुत्री हुई। पूर्व-सकेतानुसार अमात्य ने राजपुत्र को अपने यहाँ रखा और अपनी पुत्री रानी को सौंपी। राजा को पुत्री के जन्म की खबर मिली। फिर समझाया गया कि पुत्री का अग-भग करने की आवश्यकता नही क्योकि वह तो आपके राज्य की उत्तराधिकारिणी हो नही सकती। फलत राजा समझ गया। परन्तु जिसके पुण्य प्रबल होते हैं, उसका कोई भी बाल बॉका नही कर सकता। राजा तो इसी भ्रम मे था कि मेरा राज्य लेने वाला कोई नही है। मैं लाखो वर्षों तक सुख-सुविधापूर्वक जीऊँगा और राज्य करूगा। परन्तु पापकर्मो का बदला मिले बिना नही रहता।

अमात्य ने राजकुमार का नाम कनकध्वज रखा। राजकुमार की तरह सभी सुख-साधनो से उसका पालन-पोषण होने लगा। उसे कलाओ और विद्याओ का अभ्यास कराया। कनकध्वज ज्यो-ज्यो बडा होता गया, त्यो-त्यो अपने जन्म और पालन-पोषण का रहस्य समझता जाता था। फिर भी अमात्य तेतलिपुत्र को वह पिता ही मानता था। उसके प्रति उसके मन मे पूज्यभाव था।

कनकरथ राजा की अश्रद्धा का परिणाम

इधर राजकुमार राज्याभिषेक के योग्य हो रहा था, उधर राजा असाध्य रोग से पीडित था। मैं कभी रुग्ण नही होऊँगा, ऐसा कनकरथ राजा का अभिमान उतर गया था। वह ज्यो ज्यो इलाज कराता था, त्यो-त्यों अधिकाधिक बीमार होता जाता था। राजा के पाप कर्म उदय में आगये थे। मृत्यु राजा के सामने नाचने लगी। राजा ने अपार धन खर्च कर दिया, सभी कुछ उपाय कर लिये, सभी मत्रवादी, तत्रवादी,

ज्योतिषी, वैद्य, रसायनशास्त्री आदि बुलवा लिये, परन्तु कोई भी राजा को स्वस्थ न कर सका। होता भी कहा से, जिसके दर्शनमोह एव चारित्र-मोह कर्म का प्रबल उदय हो, उसे न तो देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा-भक्ति एव सच्ची समझ, निष्ठा एव लगन हो सकती है, और न ही अहिंसादि धर्मो के पालन मे रुचि, तडपन या तीव्रता आ सकती है। वह हाय, हाय करते ही, आर्त-रौद्र ध्यान से पीडित दशा मे इस ससार मे कूच करके दुर्गति का मेहमान बनता है। हुआ भी यही, जब राजा को यह प्रतीति हो गई कि अब तो मुझे यहाँ मे विदा होना ही पडेगा, तब उसके हृदय मे भयकर पीडा एव वेदना होने लगी कि— "हाय! मैंने थोडे-से जीने के लिए कितना अनर्थ कर डाला! कितने अत्याचार, दुराचार और अनाचार सेवन किये! अपने ही पुत्रो को मैंने अपने हाथो से अगविकल किये। इस पाप से मैं किस भव म छूटगा। हे पतितपावन! मेरा उद्धार कैसे होगा? मैंने अपना कोई उत्तराधिकारी भी नही रहने दिया! अब मेरे जमाये हुए सुरक्षित राज्य को शत्रुराजा शीघ्र ही हथिया लेगा।" इस प्रकार मरण शय्या मे पडा पडा राजा विलाप पश्चात्ताप एव आर्तनाद करने लगा। पलभर भी उसे चैन न था। इसी अशान्त और सन्तप्त दशा मे ही वह पर-लोकगामी हो गया।

देव-गुरु-धर्म के प्रति अश्रद्धा आशातना एव अत्याचार का दुष्फल राजा को मिल चुका। अमात्य ने राजा की उत्तरक्रियाएँ की। प्रजाजनो के हृदय मे राजा के प्रति सद्भाव नही था इसलिए उसके वियोग का दुःख किसी के मन मे नही था। सभी ने सुख की साम ली।

महामात्य तेतलिपुत्र द्वारा राजकुमार का राज्याभिषेक

तेतलिपुत्र अमात्य ने प्रजाजनो की एक विशाल सभा बुलाई। उसमे महारानी तथा महामात्य ने राजपुत्र के गुप्त के रूप से पालन-पोषण का रहस्योद्घाटन किया। महामात्य द्वारा की गई इस उद्घोषणा को सुन कर जनता मे प्रसन्नता छा गई। राजकुमार के हावभाव, स्वभाव और लक्षण देखकर लोगो को राजपुत्र होने की प्रत्यक्ष प्रतीति हो गई। सबने तेतलिपुत्र की कृतज्ञता और वफादारी की अत्यन्त प्रशसा की तथा आभार प्रदर्शित किया। राज्य के हित के लिए इतना बडा त्याग किया, उसके लिए प्रजाजनो ने महामात्य पर भारी अभिनन्दन की वर्षा की।

सुशिक्षित कुमार कनकध्वज का राजसभा मे बहुत धूमधाम से राज्या-भिषेक किया गया। राजगद्दी पर बैठने के पश्चात् कनकध्वज राजा भी

अपने पालक पिता—महामात्य तेतलिपुत्र के प्रति पूज्यभाव रखता था। उसने कृतज्ञता प्रदर्शित करने हेतु अपनी राज्यसम्पदा मे से कुछ अश उसे दे दिया। पिता की तरह सम्मान-बहुमान प्रदर्शित करता था। राजा द्वारा इतना सम्मान किये जाने से प्रजा मे भी राजपिता जितना ही उसका बहुमान होने लगा।

नेतलिपुत्र की प्रभुता और प्रतिष्ठा पतन की कारणभूत

जहाँ प्रसिद्धि, प्रभुता और अधिकार मिल जाते है, वहाँ उन्हे न पचा सकने के कारण भयकर गर्व और अहकार मनुष्य को घेर लेते हैं। महामात्य तेतलिपुत्र का भी धीरे-धीरे पतन होने लगा। तेतलिपुत्र की उक्त स्थिति ईर्ष्या करने योग्य थी, क्योकि इतना सम्मान, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, सत्ता, धन-वैभव एव सामर्थ्य तथा नैतिक गुण उसके पास थे ही। परन्तु वह इन्हे पचा न सका। फलत अदर ही अदर पतन होने लगा। जैसे टी वी के रोगी का शरीर दवा खाने तथा पौष्टिक भोजन लेने से बाहर से तो बहुत स्वस्थ और सन्दर भरावदार लगता है, किन्तु अन्दर से खोखला हो जाता है, वैसे ही तेतलिपुत्र अमात्य का होने लगा।

तेतलिपुत्र धीरे-धीरे पतन के मार्ग पर आगे बढने लगा। पोट्टिला के जिस रूप पर वह मुग्ध था, धीरे-धीरे उसके प्रति लगाव मन्द होने लगा। पोट्टिला के एक सतान होने पर शरीर-सौष्ठव एव सौन्दर्य फीका होते ही रूपलोभी तेतलिपुत्र का अनुराग एकदम फीका पडने लगा। उसके प्रति अमात्य का व्यवहार रूखा-सूखा और नीरस हो गया। वह भी समझने लगी कि मेरे प्रति पति का प्रेम अब नही रहा।

पोट्टिला के हृदय मे वैराग्य का अकुर

पोट्टिला अब दिनो दिन चिन्तित, भ्रान्त और दिक्मूढ-सी रहने लगी। पति के रूखे व्यवहार के कारण उसके मन पर भी प्रभाव पडने लगा। शरीर सूखता गया, चेहरा फीका पड गया, तेजस्विता भी नही रही, वह दिनोदिन दुर्बल होने लगी। उसका यौवन पुष्प कुम्हलाने लगा। उसने अब तक कामराग को ही पति प्रेम मान रखा था, किन्तु अब उसकी आँखे खुल गईं। उसे इस स्वार्थभरे ससार से विरक्ति हो गई, परन्तु अन्दर ही अन्दर मन मे पति को मना कर अनुकूल बनाने की अनुरक्ति थी। विरक्ति और अनुरक्ति का द्वन्द्वयुद्ध उसके हृदय क्षेत्र मे हो रहा था। आखिर यही हुआ। इस द्वन्द्वयुद्ध मे अन्त मे वैराग्य की जीत हुई।

पोट्टिला की वैराग्य वासित दृढश्रद्धा और दीक्षा

पोटिटला को अपने वैराग्य को सुदृढ बनाने हेतु, सुव्रता नाम की एक साध्वी जी का सत्सग मिला। उसका हठीला हृदय कोमल बना। पोट्टिला ने जब साध्वी जी से 'वशीकरणमत्र' पति को वश मे करने हेतु देने की प्रार्थना की तो साध्वी जी ने उसे प्रतिबोध देते हुए कहा—

'बहन! वशीकरण विद्या मलिन विद्या है। इस मत्र से पति के वश हो जाने पर भी तू अपनी कामवासना की पूर्ति ही करना चाहेगी न? पर इससे तू अपनी महगी आत्म-स्वतत्रता बेच देगी। तू जिसे प्रेम समझती है वह वासना का विकृत रूप है। अगर निर्मल प्रेम ही चाहती है, तो तुझे सयम तप और ब्रह्मचर्य को अपनाना चाहिए जिसमे तू पति नही, सारे विश्व को अपनी ओर खीच सकेगी। उस विशुद्ध प्रेम मे सारा जगत समा जाएगा, तेरा जीवन भी सार्थक होगा।

'स्त्री जो सतान लालसा के कारण काम वासना के गड्ढे मे गिरती है उससे तो तू ऊपर आ चुकी है, तेरे एक सतान हो चुकी है। अत अब इस पुराने अभ्यास से मुक्त होकर विशुद्ध विश्व प्रेम का विचार कर।'

साध्वीजी का उपदेश सुनकर पोट्टिला के हृदय मे निहित वासना का काटा निकल गया। उसे अपनी आत्मशक्ति और आत्मसमृद्धि का भान हुआ। अन्तर मे निर्ममता जागी चेहरे पर प्रसन्नता की लाली दौड उठी। उसने अपने उद्गार निकाले- 'महासतीजी! मैने थोडे-से सत्सग मे इतना ज्ञान प्राप्त किया, अत जीवन पर्यन्त आपके साथ रहने की इच्छा है। अब मुझे भोग या सासारिक सुख की इच्छा नही रही। अब मेरी इच्छा आपके पास दीक्षित होकर जीवन बिताने की है। अत आप मुझे साध्वी-दीक्षा दे।'

साध्वीजी ने कहा—'बहन! तेरी इच्छा प्रशसनीय है। सयम का मार्ग ही आत्मा के लिए सुखकर है परन्तु दीक्षा तुम्हे तभी दी जा सकती है, जब तुम्हे अपने पति की आज्ञा मिल जाए।'

पोट्टिला ने साध्वीजी की बात स्वीकार की और पति के पास आ कर दीक्षा लेने के अपने हार्दिक भाव व्यक्त किये। तेतलिपुत्र ने उसे दीक्षा की कठोरता समझाकर रोकने की बहुत कोशिश की। परन्तु पोटिटला को वैराग्य का पक्का रग लग चुका था। अत उसने कहा मैं अब विषय के कीचड मे फसना नही चाहती। चाहे जितना कठोर पथ हो, मुझे अपने ध्येय की ओर तीव्र गति से जाना है। मेरी तो इच्छा है कि मुझे आप दीक्षा की आज्ञा दे और आप भी इसी आत्मश्रेय के पथ पर चले।'

पोट्टिला का सहसा हृदय परिवर्तन देखकर तेतलिपुत्र को आश्चर्य मिश्रित खेद हुआ। उसने कहा- 'मैं गृहस्थवास का त्याग तो नही स्वीकार सकता, किन्तु तुम्हारे इस श्रेय मार्ग मे मेरी पूर्ण सहानुभूति है। परन्तु मेरी एक शर्त है कि भविष्य मे तू चाहे जिस उच्च-स्थान मे जाए, मुझे तुम्हे सद्बोध देने हेतु अवश्य आना है। पोट्टिला ने पति की यह बात मुक्त-मन मे स्वीकार की।

अत पति की आज्ञा प्राप्त करके पोट्टिला ने गृहस्थाश्रम का त्याग कर सुव्रता साध्वी से जी भागवती दीक्षा अगीकार की। दीक्षा लेने के बाद साध्वी पोट्टिला ने भी तप, सयम, सतोष, क्षमा पवित्रता, त्याग आदि उत्तम आत्मिक गुणो से अपने आपको सुसज्जित किया। अन्तिम समय निकट आया तब समाधिमरण पूर्वक इहलोक से विदा होकर देवलोक मे गई। सच है, जिसके जीवन मे सच्चा ज्ञान, सच्ची श्रद्धा और सम्यग्तप-सयम हो, उसके लिए देवगति दुर्लभ नही है।

पोट्टिलादेव द्वारा प्रतिबोध का प्रयास

पोट्टिला की आत्मा देवलोक मे रहते हुए अपने साथी का पतन देख कर काप उठी। अपने दिये हुए वचन के अनुसार पोट्टिला देव ने तेतलिपुत्र को जगाने का दृढ निश्चय किया। उसने सत के रूप मे आकर अपना परिचय दिया, प्रेरणा दी—इस मोहजजाल को छोडने की। परन्तु तेतलिपुत्र ने इस जजाल से निकलने की अपनी असमर्थता प्रकट की। दर्शन-मोहनीय की आधी कितनी विचित्र है, जो वस्तुतत्व पर दृढ श्रद्धा नही होने देती। तेतलीपुत्र के मन मे मेरा राज्य, मेरी प्रतिष्ठा, इस प्रकार 'मेरे पन' का माया जाल गहरा अड्डा जमाए हुए था।

सर्वत्र अपमानित और आत्म हत्या का विफल प्रयास

पोट्टिलादेव ने सोचा—दर्शनमोह के मूल पर प्रहार किये बिना इसकी आँख नही खुलेगी। अत दैवीशक्ति से पोट्टिलादेव ने एसा चामत्कारिक प्रयोग किया कि तेतलिपुत्र का पहले जहा सर्वत्र सम्मान था, आदर-सत्कार था, वहाँ सर्वत्र अपमान और अनादर ही मिलने लगा। उसकी नई पत्नी उसकी बात नही सुनती थी। न ही पुत्र उसकी आज्ञा का पालन करता था। राज-सभा मे जाते समय रास्ते मे किसी ने जरा भी आदर न किया। राजसभा मे प्रवेश किया, तब भी न कोई सम्मान मे खडा हुआ और न किसी ने उसे प्रणाम किया।

जो व्यक्ति सम्यग्दृष्टि तथा समभाव की भूमिका पर न हो, वह जरा-सा सम्मान मिलते ही फूल जाता है और जरा-सा अपमान होते ही

झुँझला उठता है। यही दशा तेतलिपुत्र की हुई। सम्मान का लबालब प्याला पिया हुआ तेतलिपुत्र सहसा अपमान की बौछार पाकर तिलमिला उठा। उसे भारी आघात लगा। ज्यो ही राजा कनकध्वज की कुर्सी के पास अपनी कुर्सी पर बैठने लगा, तब खडा होना तो दूर राजा ने घृणा से उसकी ओर से मुँह भी फेर लिया। यह तेतलिपुत्र के लिए असह्य हो उठा। उस समय के अपने मानसिक उद्‌गार स्वय अर्हतर्षि तेतलिपुत्र प्रगट करते है। उनका भावार्थ यह है—

'परिजन-सहित होते हुए भी मैं परिजन (परिवार) रहित हूँ, मेरे इस कथन पर कौन श्रद्धा करेगा? पुत्र होने पर भी मैं पुत्ररहित हूँ, ऐसा कहने पर कौन श्रद्धा करेगा? इसी प्रकार मित्रो और स्नेहीजनो के होते हुए भी मुझे कौन मित्र विहीन मानेगा? मेरे पास धन होने पर भी मेरी धनहीनता पर कौन विश्वास करेगा? परिग्रह होने पर भी मुझे परिग्रहहीन कौन मानेगा? दान मान, सत्कार और उपचार या उपकार से युक्त होने पर भी कौन मुझे इनसे पृथक मानने को तैयार होगा?

"तेतलिपुत्र के स्वजन-परिजन उससे विमुख है,' इस बात पर कौन विश्वास करेगा? श्रेष्ठ जाति कुल मे जन्मी हुई, रूपवती विनय और उपकार की साकार प्रतिमा स्वर्णकार (मूसिकार) की पुत्री पोट्टिला मिथ्याभिनिवेश मे पड गई। मेरे इस कथन को कौन सच मानेगा? कालक्रम मे नीति-शास्त्र विशारद (अमात्य) तेतलिपुत्र विषाद मे डूब गया, मेरे इस कथन पर कौन श्रद्धा करेगा?"

वास्तव मे, पोट्टिलादेव की दैवीमाया से सभी स्वजन-परिजन आदि रुष्ट हो गए। अपनी कही जाने वाली रूपवती कुलीन पत्नी पोट्टिला स्वय की उपेक्षा के कारण (ज्ञातासूत्र मे वर्णित कथा के अनुसार) अमान्या (अनिष्ट) हो गई। अत पोट्टिला ने साध्वी पतिव्रता का उपदेश सुना, ससार से विरक्त हुई और साध्वी के पास दीक्षित हुई। इसी को तेतलिपुत्र कहता है— 'मिच्छ विप्पडिवन्ना' अर्थात् दूसरे के झूठे बहकावे मे आ गई। विषादग्रस्त मानव दु ख के क्षणो मे सबको याद करता है। तेतलिपुत्र के हृदय मे गहरा आघात लगता है और वह जीवन से ऊबकर आत्म-हत्या करने लगता है। किन्तु वह विफल हो जाता है। इसी पर अर्हतर्षि तेतलिपुत्र के मनोभावो को पढिए—

"अमात्य तेतलिपुत्र ने घर मे प्रविष्ट होकर तालपुट विष खा लिया किन्तु वह विष भी उसके लिए विफल होगया। मेरे इस कथन पर कौन विश्वास करेगा? तत्पश्चात् मत्री तेतलिपुत्र एक विशाल वृक्षपर चढ कर गले

मे फासी लगाता है, किन्तु फासी का वह फदा टूट गया, अत वह न मर सका, फिर तेतलिपुत्र बडे-बडे भारी भरकम पत्थरो को गले मे बाध कर अगाध जल वाली पुष्करिणी मे अपने-आपको गिराता है, किन्तु उस अथाह (जल) मे भी थाह पा ली, मेरी इस बात पर कौन श्रद्धा करेगा ? तदनन्तर तेतलिपुत्र काष्ठ की विशाल चिता प्रज्वलित कर उसमे कूद पडता है, लेकिन वहाँ भी अग्नि की ज्वाला बुझ गई कौन मेरी इस बात पर विश्वास करेगा ?"

इस प्रकार जब तेतलिपुत्र के द्वारा आत्महत्या करने के सभी प्रयत्न विफल हो जाते है । तब पोट्टिलादेव तेतलिपुत्र की मोहदशा नष्ट करने हेतु जो उपाय करती है, उसका भावार्थ यह है—

'तत्पश्चात वह स्वर्णकार-पुत्री पोट्टिला छोटी-छोटी घटिका से युक्त पचवर्णीय वस्त्र पहन कर (देवी के रूप मे) आकाश मे (ज्ञातासूत्र के अनुसार न अति दूर और न अति निकट) खडी हो कर इस प्रकार बोली—'आयुष्मान् ! यह समझो कि तुम्हारे समक्ष गिरिशिखर और चट्टानो मे विच्छिन्न होता हुआ प्रपात गिर रहा है, तथा पृथ्वीतल को कम्पित करता हुआ और वृक्षो को उखाडता हुआ, आकाश को फोडता हुआ, पिडीभूत अन्धकार (तम के सदृश, प्रत्यक्ष महाकाल-सा शब्द करता हुआ विशालकाय गजराज सामने खडा है । तथा क्षणभर मे दोनो ओर प्रचण्ड धनुष से छूटे हुए, पृथ्वी के वक्ष मे पूरे के पूरे प्रवेश करने वाले बाण बरस रहे है । जिनके पिछले हिस्से पर लगे हुए पख ही दिखाई पड रहे है । आग की लपलपाती हुई सहस्रो लपटो से सारा वन प्रदेश जल रहा है । धू-धू करती हुई ज्वालाएँ उठ रही है और शीघ्र ही उदीयमान सूर्य के सदृश लाल-लाल व गुजा के अर्द्धभाग की राशि की प्रभा के समान लाल अगार-सा बना हुआ यह घर भी जल उठेगा । आयुष्मान् तेतलिपुत्र ! ऐसा होगा, तब हम कहा जाएँगे ?"

पोट्टिलादेव का यह कथन सुनकर तेतलिपुत्र ससार से भयभीत हो गया था, उसके उद्गार सुनिये—

तत्पश्चात् अमात्य तेतलिपुत्र, मूसिकारपुत्री पोट्टिला (देवता) से इस प्रकार बोला—'पोट्टिले ! यह तो तुम्हे स्वीकार करना पडेगा कि भय-ग्रस्त मनुष्य को प्रव्रज्या (साधुदीक्षा) ग्रहण करना उपयुक्त है । अभियुक्त व्यक्ति आत्मघाती कृत्य कर सकता है । मायी व्यक्ति गुप्तकृत्य करता है । देशाटन के लिए उत्कण्ठित मनुष्य देश भ्रमण करता है । पिपासित का पान

करना, क्षुधातुर का भोजन करना, दूसर को पराजित करने की कामना वाले व्यक्ति का शस्त्रकाय अर्थात्-शस्त्र विद्या का अध्ययन सम्भव है, किन्तु क्षान्त, दान्त, तीन गुप्तियो से गुप्त, जितेन्द्रिय के लिए (पहले बताया हुआ प्रपातादि) इन भयो में से एक भी भय सम्भव नही है।

तेतलिपुत्र का मोह का नशा उतरा

इसमे पूर्व पोट्टिलदेव ने जो ससार और गृहस्थाश्रम को विभिन्न अग्नियो से प्रज्वलित बताकर तेतलिपुत्र को भयभीत एव विरक्त किया था, इस पर तेतलिपुत्र ने कहा था कि भयभीत मनुष्य को प्रव्रज्या ग्रहण करना ही उचित है। यह सुनकर पोट्टिलदेव ने प्रेरणा दी—'आपने अपने मुँह से ही सयम लेने की बात स्वीकार की है, अत अब आनाकानी क्यो कर रहे हैं ?'

तेतलिपुत्र को पोट्टिला की बोधधारा गले उतरी। उसे गम्भीर विचारपूर्वक आध्यात्मिक प्रतिबोध हुआ। अब किसी प्रकार का जाति आदि गर्व नही रहा। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का प्रभाव इस बोध से समाप्त हुआ। तेतलिपुत्र को आन्तरिक सौन्दर्य के दर्शन हुए। त्याग-पिपासा जगी। ससार से विरक्ति तो हुई, परन्तु हृदय मे चुभा हुआ अपमान का काटा अभी खटक रहा था। पोट्टिला ने उस भ्रान्ति का पर्दा हटाते हुए समझाया—"आपने जो अपमान का दृश्य देखा, वह सिर्फ इन्द्रजाल था, एक प्रकार का नाटक था, वह वास्तविक नही था। वह तो मैंने तुम्हे प्रतिबोध देने के लिए चमत्कार प्रयोग किया था, वास्तव मे यह सब मिथ्या भ्रमजाल था।"

मोक्ष मार्ग पर दृढश्रद्धा, प्रव्रज्या और सिद्धि

अब तेतलिपुत्र को पोट्टिला की सारी बात समझ में आई। उसने पोट्टिला का बहुत उपकार माना कि उसने मिथ्या मोहमाया-जाल से मुक्त किया।

मोक्षमार्ग पर तेतलिपुत्र की श्रद्धा दृढ हुई। कहते है—तेतलिपुत्र को जातिस्मरण-ज्ञान हुआ। अब पूर्णरूप से उसका आत्मसमाधान हो गया था। अत त्यागमार्ग की प्रतीक भागवती दीक्षा अगीकार की। उत्तरोत्तर तप-सयम की आराधना से परम आत्मिक-विकास करके उसने केवलज्ञान और आत्मसिद्धि प्राप्त की।

सम्यक् श्रद्धा का दूरगामी परिणाम

धर्मप्रेमी श्रोताजनो!

तेतलिपुत्र अर्हतर्षि की जीवन गाथा पर से इतना तो स्पष्ट है कि जब तक काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, अभिमान आदि दुर्गुणो की प्रबलता मिश्रित श्रद्धा रहती है, तब तक आत्मशक्ति पर सच्ची श्रद्धा जमती नही। और जब आत्मशक्ति पर सम्यक् श्रद्धा दृढ हो जाती है, तब कामादि का प्रभाव हट जाता है। सम्यक्ज्ञान प्रकट होता है और सम्यक्चारित्र की पगडडियाँ पार करके एक दिन वह सिद्धि-मुक्ति के द्वार खोल देता है। सम्यक् श्रद्धा की सुदृढता ही उसका मूल है। □

१४

आध्यात्मिक विकास का राजमार्ग

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

आज मैं आपके समक्ष आध्यात्मिक-विकास के सम्बन्ध में प्रकाश डालूगा।

प्रत्येक साधक अपनी आत्मा का विकास चाहता है। दूसरे शब्दो में यो कह सकते हैं कि मुमुक्षु साधक चाहता है कि आत्मा की शक्तियो को रोकने वाली, उन्हे जकडकर रखने वाली गाठो को तोडकर आत्मा निराबाध रूप से मोक्षमार्ग की ओर गति-प्रगति करे।

आध्यात्मिक विकास के लिए आत्मिक विवेक आवश्यक

परन्तु क्या आप बता सकते हैं कि आध्यात्मिक विकास के लिए सर्वप्रथम किस बात की आवश्यकता है ? आप नही बता सकते हो तो मैं ही बता दूं।

आध्यात्मिक विकास का सम्बन्ध केवल पढने-लिखने से नही, भौतिक ज्ञान से भी नही, उसका सम्बन्ध है—आत्मिक विवेक को जगाने से। यदि भौतिक ज्ञान-विज्ञान या पढाई-लिखाई सहज-प्राप्त हो तो बहुत अच्छी बात है, परन्तु वह अगर सहज प्राप्त न हो तो कोई बात नही है। उसके लिए पश्चात्ताप की, या किसी को कोसने की आवश्यकता नही। कबीरजी कोई एम० ए० डी-लिट्, साहित्यरत्न या शास्त्री आदि किसी भी पदवी (डिग्री) के धारक नही थे, उनकी शैक्षणिक योग्यता बहुत ही अल्प थी, किन्तु उनमें कर्मयोगमय आध्यात्मिक जीवन जीने का विवेक था। इसी प्रकार रैदास आदि कई सन्त बहुत ही कम पढे-लिखे थे, लेकिन उनका आत्म-विकास प्रबल था। उसका कारण था—आत्मिक-विवेक की अधिकता।

बहुत-से व्यापारी पढे-लिखे नही थे, फिर भी उनके व्यावहारिक जीवन में आध्यात्मिक विकास देखते ही बनता था। आनन्द श्रमणोपासक की जीवन

गाथा जब हम पढते हैं तो भगवान् महावीर ने उनके नाम के आगे कोई भी शैक्षणिक डिग्री आदि का सूचक विशेषण नही लगाया। हाँ, उसके सामाजिक और व्यावहारिक जीवन में आध्यात्मिक विकास की क्षमता के परिचायक विशेषणो का प्रयोग भगवान् ने अवश्य किया है—

"अड्ढे, दित्ते, वित्ते, अपरिभूए ··।"

वह धन और गुणो से आढ्य (सम्पन्न) था, दीप्त (तेजस्वी) था, समाज में विख्यात (वित्त) था, और किसी से पराभूत होने (दबने) वाला नही था, इत्यादि।

भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए कहा गया है—

खेयन्नए से कुसले महेसी

वे क्षेत्रज्ञ (आत्मज्ञ) और कुशल महर्षि थे।

इसी प्रकार गणधर गौतम स्वामी के आध्यात्मिक विकास के सूचक पाठ भी भगवती सूत्र आदि शास्त्रो मे मिलते हैं—

"उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे, घोरबभयारी "

वे उग्रतपोधनी थे, उनकी तपस्या तजोयुक्त थी, उनकी तपश्चर्या तपीतपाई (अभ्यास युक्त) थी। वे घोर-ब्रह्मचर्यव्रती थे। ' इत्यादि।

आध्यात्मिक विकास की पहचान

जब साधक के जीवन का आध्यात्मिक विकास हो जाता है तो उसके जीवन की साधना तेजस्वी होती है, उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय, ब्रह्मचर्य, सत्य अहिंसा, दया, क्षमादि धर्म, आदि सब आत्मिक गुणो में आत्मिक विवेक सहज, अकृत्रिम, तेजस्वी, सुदृढ एव अविचल हो जाता है। अत आध्यात्मिक विकास सहज प्राप्त भी होता है, विवेक जनित भी। सहज प्राप्त तो किन्ही विरले ही साधको का होता है, जिन्होने पूर्वजन्मो में अध्यात्म-साधना की हो, और वह अधूरी रह गई हो। जैसे उत्तराध्ययन सूत्र मे वर्णित अनाथी मुनि, नमिराजर्षि आदि का तथा अन्तकृद्दशाग मे वर्णित गजसुकुमार मुनि, अतिमुक्तक मुनि आदि का जीवन सहज प्राप्त आध्यात्मिक विकासमय था। किन्तु विवेक जनित आध्यात्मिक विकास होता है वर्तमान जीवन में पुरुषार्थ करने से।

उत्तराध्ययन-सूत्र में वर्णित हरिकेशी मुनि, चित्त मुनि आदि का तथा अन्तकृत् सूत्र मे वर्णित अर्जुन मुनि आदि का जीवन विवेकजनित आध्या-

त्मिक विकास के उदाहरण है। इन्होने इसी जन्म मे ज्ञानादि गुणो में पुरुषार्थ करके आध्यात्मिक विकास किया था। इसी प्रकार दृढ़प्रहारी, संयती राजर्षि, नन्दीषेण मुनि आदि के उदाहरण भी विवेकजनित आध्यात्मिक विकास के हैं।

नमि राजर्षि की परीक्षा लेने के पश्चात् उनके आध्यात्मिक विकास की प्रशसा करते हुए इन्द्र कहता है—

अहो ! ते निज्जिओ कोहो, अहो ! माणो पराजिओ।
अहो ! ते निरक्किया माया, अहो ! लोभो वसीकओ ॥

अहो ! ते अज्जव साहु, अहो ! ते साहु मद्दव।
अहो ! ते उत्तमा खती, अहो ! ते मुत्ति उत्तरा ॥

इहसि उत्तमो भते ! पेच्चा होहिसि उत्तमो।
लोगुत्तमुत्तम ठाण सिद्धि गच्छसि नीरओ ॥

अर्थात्—अहो ! आपने क्रोध को जीत लिया है, और हे ऋषिवर ! आपने मान को भी पराजित कर दिया। अहो ! माया को भी पछाड दिया है आपने और लोभ को भी वश मे कर लिया है। अहो ! आप मे कितनी उत्तम सरलता है ! कितनी मृदुता है। अहो ! आप मे उत्तम क्षमा है, अहो ! आपकी निर्लोभता उत्तम है। भगवन् ! आप यहाँ भी उत्तम है, और परलोक मे भी उत्तम होगे तथा भविष्य मे कर्मरज से रहित होकर लोक के अग्रभाग पर उत्तम सिद्धिस्थान को प्राप्त करेगे।

निष्कर्ष यह है कि आत्मिक विवेक की प्रचुरता ही आध्यात्मिक विकास का थर्मामीटर है। इसी आत्मिक विवेक को दूसरे शब्दो में आध्यात्मिक ज्ञान कह सकते है।

लौकिक ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान मे महान् अन्तर

इसी आध्यात्मिक ज्ञान का प्रबल समर्थन करते हुए ग्यारहवे अध्ययन मे अर्हतर्षि मखलीपुत्र ने कहा है—

सिद्ठायणेव्व आणच्चा अमुणी सखाए अणच्चा एसे तातिते।
मंखलीपुत्तेण अरहता इसिणा बुइय।

इसका भावार्थ यह है कि वीतराग की आज्ञा प्राप्त करने के लिए सिर्फ लौकिक ज्ञान को प्राप्त करने वाला शिष्टजन अमुनि हो जाता है। लौकिक ज्ञान का अध्ययन छोडकर आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने वाला मुनि वास्तविक त्रायी - आत्मरक्षक होता है।

आध्यात्मिक ज्ञान की श्रेष्ठता

मुनि आत्म-शोधक होता है, वह वीतराग धर्म का पथिक है। आध्यात्मिक शान्ति के लिए आध्यात्मिक ज्ञान परम आवश्यक है। शास्त्रों में यत्र-तत्र साधु के लिए कहा गया है—'अप्पाण भावेमाणे विहरइ' अर्थात्—वह आत्मा को भावित करता हुआ विचरण करता था। हाँ आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई भाषा ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो सहायक के रूप में कर सकता है। परन्तु उसी को मुख्य मानकर झूठा आध्यात्मिक ज्ञान बघारे, आचरण रहित आध्यात्मिक ज्ञान का तोता-रटन करे तो वह आध्यात्मिक ज्ञान वास्तविक सही है। योगीश्वर आनन्दघनजी आध्यात्मिक ज्ञान को महत्व देते थे। उनके रोम-रोम मे आध्यात्मिक ज्ञान किस प्रकार रम गया था ? उनके जीवन की एक घटना से ज्ञान हो जाएगा—

योगीश्वर आनन्दघनजी आध्यात्मिक पुरुष थे। वे शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् मान कर एकमात्र आत्मा की, आत्म-विकास या आत्म-हित की साधना करने के लिए बस्ती को छोडकर एकान्त जगल में चले गये थे, वही वे ध्यानमग्न रहने लगे। उन्हे कुछ दिनो के लिए लोक-सग, जनासक्ति एव सघ के प्रति ममत्व से दूर रहकर एकमात्र आत्मध्यान एव आत्मचिन्तन करने का अभ्यास पक्का करना था। उनके एक योगी-मित्र को अतिदीर्घकालिक साधना के पश्चात् सोना बनाने की विद्या (लब्धि, प्राप्त हुई थी। अपनी विद्या (लब्धि) के बल से वे एक ऐसा रसायन बना सकते थे जिसकी एक बूँद लाखो मन लोहे पर डाल देने से सोना हो जाता था।

उस योगी ने अपने मित्र योगीश्वर आनन्दघनजी को वह रसायन एक कुप्पी मे भर कर अपने शिष्य के साथ भेजा। श्री आनन्दघनजी उस समय आत्म-ध्यान में मस्त थे। ध्यान पूरा होते ही योगी मित्र के शिष्य ने उक्त रसायन की कुप्पी आनन्दघनजी के चरणों में रखी और उसके प्रभाव की बात कहकर वह भेट स्वीकार करने की प्रार्थना की। इस पर आनन्द-घनजी ने पूछा— क्या इसमे आत्मा है ?' शिष्य बोला—'महाराज ! आप भी कैसी बचकानी बात करते हैं। केवल आत्मा-आत्मा की रट लगा रहे हैं। मेरे गुरु जैसी सिद्धि तो दिखाइये। इस भेंट में आत्मा नहीं है। परन्तु आपके मित्र-योगी ने मेरे साथ भेजी है, अत इस भेंट को स्वीकार कीजिए।'

आनन्दघनजी ने जवाब दिया—"जिसमे आत्मा नही है, वह मुझे नही चाहिए। आत्मा के अतिरिक्त, सभी वस्तुएँ तुच्छ हैं।"

शिष्य ने कहा—"महाराज ! अगर मैं यह भेंट वापस ले जाऊँगा तो आपके मित्र का अपमान माना जाएगा। इसलिए आप इस भेंट को स्वीकार कर लीजिए।"

आनन्दघनजी ने कहा—'इसे यहाँ रख दो।' और उसी समय कूपी हाथ मे लेकर पास मे पडी एक शिला पर पटकी और फोड डाली।

आनन्दघनजी ने एक पहाड पर जाकर लघुशका की। तुरन्त ही वह सारा पहाड सोने का हो गया। आनन्दघनजी ने आगन्तुक शिष्य से कहा—"ले उठा इसे, लेजा !" शिष्य तो यह देखकर हक्का-बक्का हो गया। उसने सोचा—मेरे गुरु इतने तक ही पहुँचे हैं, जबकि इनके मूत्र मे इतना चमत्कार है। फिर भी ये यही तक अटके नही है। इस लब्धि का इनके मन मे कोई महत्व नही है। सचमुच महात्मा आनन्दघनजी के मन मे पौद्गलिक ऋद्धि-सिद्धि को कुछ भी कीमत नही थी। वे तो आत्मिक ऋद्धि-सिद्धि की शोध मे थे।

श्रमण को आत्म ज्ञान मे पूरी निष्ठा होनी चाहिए। दूसरी बाते उसके लिए गौण होनी चाहिए।

अध्यात्म ज्ञानी और भौतिक ज्ञानी मे अन्तर

यद्यपि आज साधुवर्ग के समक्ष अनेक आकर्षण है, भौतिक और लौकिक ज्ञान-प्राप्त करने के। इसके लिए तो प्राय विद्यालय और महाविद्यालय खुलते हैं, परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान का महाविद्यालय तो साधु जीवन मे ही खुलता है न ? आत्मज्ञानी और भौतिकज्ञानी के प्रकाश मे इतना अन्तर है जितना बिजली के तथा मोमबत्ती के प्रकाश मे। बिजली का प्रकाश सिर्फ प्रकाश ही देता है, जबकि मोमबत्ती जलकर प्रकाश के साथ धुआँ भी करती है। भौतिकज्ञानी के ज्ञान मे भौतिक लालसाओ का धुआँ उठता रहता है जबकि आत्मज्ञानी का प्रकाश कामना रहित आलोक मात्र ही होता है।

अध्यात्मज्ञानी स्व और पर दोनो को जानता है—मैं कौन हूँ ? मेरा स्वभाव क्या है ? मेरे निजगुण (आत्मा के गुण) कौन-कौन से हैं ? जड का स्वभाव क्या है ? जड के गुण कौन-कौन-से हैं ? इत्यादि। जबकि भौतिक या लौकिक ज्ञानी या वैज्ञानिक जड-पदार्थों के विभिन्न प्रयोगों को ही जान सकता है किन्तु अपने आपको नही पहचान पाता।

अध्यात्मवाद की परिभाषा

उपाध्याय श्री यशोविजय जी ने अध्यात्म की परिभाषा इस प्रकार की है—

'आत्मानमधिकृत्य या प्रवर्तते क्रिया तदध्यात्मम् ।'

आत्मा को केन्द्र में रखकर जो क्रिया या प्रवृत्ति की जाए, वह अध्यात्म है। इसका फलितार्थ है—

तप, जप, सयम, ध्यान, महाव्रत, यम, नियम, प्रभुभक्ति, त्याग, प्रत्याख्यान, शास्त्रज्ञान या अध्ययन, धर्माचरण या धर्म क्रिया आत्मा को लक्ष्य मे रखकर, अथवा कर्मक्षय को लक्ष्य मे रखकर की जाए।

प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति मे वीतरागप्रभु की आज्ञा का ध्यान रखा जाए। जो क्रिया राग, द्वेष, मोह, कषाय, वैर-विरोध, ईर्ष्या, मायाचार, दम्भ आदि बढ़ाने वाली हो, केवल रूढिपालन, प्रदर्शन या दिखावा हो, उसके पीछे अन्तर् मे श्रद्धा न हो, वहाँ अध्यात्मवाद नही है।

अध्यात्मवादी ज्ञान, तप, जाति, कुल और आजीविका आदि का मद नही करता। आत्मा के उद्धार के लिए साधक को एक मात्र आत्मरमणता, अथवा अध्यात्म ज्ञान मे तल्लीनता करनी चाहिए।

अध्यात्मवादी अहर्निश यही यत्न करता है कि "मेरी आत्मा पापकर्म से लिप्त न हो, आत्मा पर लगे हुए कर्मों का नाश हो, मेरी आत्मा मे निहित ज्ञानादि गुण प्रकट हो। क्षणिक या विनाशी वस्तु के लिए अविनाशी शाश्वत आत्मा को कभी न भूलू। मेरे विचार, वचन और व्यवहार सदैव अध्यात्म रस से सीचे हुए रहे। अध्यात्मवाद मेरे जीवन मे आनन्द-परमानन्द पैदा करे। मैं विशुद्ध आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करू।"

जब जीवन में अध्यात्मवाद आता है

एक महामुनि थे। उन्हे लौकिक ज्ञान तो बहुत थोडा था, किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान मे अभ्यस्त थे। अध्यात्म ज्ञान को उन्होने जीवन मे रमा लिया था। एक बार उनके शरीर को केंसर की महाव्याधि ने घेर लिया। भक्तो ने कहा—"इसका ऑपरेशन करा देते हैं।"

मुनि ने कहा—"किसलिए ? केंसर तो शरीर को हुआ है। मैं तो सच्चिदानन्द रूप आत्मा हूँ। मैं तो निरोगी हूँ, अजर-अमर हूँ। तुम मेरी चिन्ता म करो। मैं तो अपने आत्मभाव में लीन हूँ। सड़ना-गलना, आदि तो शरीर के धर्म हैं।"

एक दिन स्वभावस्थ दशा मे मुनि ने देह का त्याग किया। यह था जीता-जागता अध्यात्मवाद !

एक सद्‌गृहस्थ थे। उनके पास करोडो की सम्पत्ति थी। वे धर्म कार्यों मे भी काफी व्यय करते थे। एक दिन सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई। स्नेहीजन, स्वजन और मित्र, सभी किनाराकसी कर गए। उनसे एक मुनि ने पूछा—"भाई ! तुम पर तो मुसीबतो का पहाड टूट पड़ा है।'

वे स्वभाव दशा मे स्वस्थ मन से बोले—नही जी, महाराज ! मुझे जरा भी दुःख नही है। मैंने अपने आपको कभी सम्पत्ति के कारण से सुखी माना ही नही था। मैं जानता और मानता था कि सम्पत्ति चंचल है, चाहे जब चली जा सकती है। वह चली गई। नश्वर थी, नष्ट हो गई। मेरी अपनी आत्म-गुणो की सम्पत्ति तो अखूट और अविनाशी है, यह तो आज भी है, भविष्य मे भी रहेगी। मैं तो प्रसन्न हूँ महाराज !"

यह था साक्षात् अध्यात्मवाद का उदाहरण।

एक दम्पत्ति का जवान पुत्र अचानक गुजर गया। पुत्र की अचानक मृत्यु के समाचार ज्यो-ज्यो स्नेहीजनो को मिलने लगे। वे आ-आकर आश्वासन देने लगे।

पिता ने कहा— हम मानते ही नही हैं कि हमारा पुत्र मर गया है। अलबत्ता, वह हमसे दूर चला गया है। परन्तु आखिर तो जो धरोहर होती है उसे लौटाना ही पडता है।"

माता बोली—'पुत्र आखिर तो आत्मा ही है न ! आत्मा तो अमर है। हम नही मानते कि आत्मा भी मरती है। फिर मृत्यु का दुःख कैसा ? अलबत्ता वह हमसे दूर चला गया है।'

यह था (Practical) अध्यात्मवाद, जो जीवन मे, रग-रग मे उतर गया था।

आत्मरक्षक अध्यात्मज्ञानी का जीवन परीषहों की आँधियो मे

अध्यात्मज्ञानी पर चाहे जितने सकट, कष्ट, परीषह और दुःख आएँ, वह मुस्कराता रहता है। वह मानता है कि शरीर और आत्मा अलग-अलग हैं। शरीर एक दिन नष्ट होने वाला है, इस पर पूर्वकृत अशुभ कर्मों के कारण सकट, कष्ट एव परीषह आते हैं, उन कर्मों को काटना है तो उस समय समभाव और धैर्य से उन्हे सह लेना चाहिए, हाय-हाय करके तो अज्ञानी सहता है, वह पूर्वकृत कर्मों को काट नही पाता, नये कर्म और बाध लेता है। इसी तथ्य का समर्थन भगवान् नेमिनाथ के शासन कालीन अर्हतर्षि मखलीपुत्र करते है, जिसका भाव यह है—

"जो मुनि परीषहों (कष्टों) को देखकर कांप उठता है, दु ख का वेदन (अनुभव) करता है, क्षुब्ध हो जाता है, सचित्त द्रव्यादि से उनका सामना (प्रतीकार) करता है, स्पन्दित होता है, चंचल हो उठता है, उन दु खों की उदीरणा करता है, क्रोधादि कषायजन्य भावों में परिणत होता है, वह अध्यात्मज्ञानी त्राता (आत्मरक्षक) नही है। परन्तु जिस साधक को परीषह आने पर न तो कप-कंपी छूटती है, न ही वह दु ख महसूस करता है, तथा जिसे उस समय क्षोभ, सघटन, स्पन्दन, चचलता, उदीरणा आदि नही होती। और जो कषायजन्य उन उन भावो मे परिणत नही होता है, वही वास्तविक अध्यात्म ज्ञानी त्राता मुनि है क्योंकि त्रायी (रक्षक) मुनि में परीषहो के आने पर कम्पन, वेदन आदि कोई भाव नही होते। ऐसा त्रायी मुनि ही अपने आपका तथा दूसरी आत्माओ का चतुर्गतिक, ससार रूपी अरण्य से रक्षण करता है।

वास्तव मे, साधना पथ पर पैर रखने पर कदम-कदम पर कष्टो और सकटो का सामना करना पडता है। उस समय सयम मार्ग से विचलित हो जाए, धैर्य खो दे, अथवा दु ख महसूस करने लगे, कष्ट का नाम सुनते ही काप उठे, अथवा कष्ट से बचने के लिए सावद्य उपाय खोजे, वह संयम पथ से भटक जाता है। मचमुच ऐसे साधक के जीवन में अध्यात्मज्ञान पचा हुआ न होने से सही माने मे अपनी आत्मा का रक्षक नही होता, दूसरो का रक्षक तो हो ही कैसे सकता है?

जो साधक अपने जीवन सग्राम मे परीषहो से समभावपूर्वक जूझता है, उसके मन की समाधि भग नही होती। वह पूर्वकृत कर्मो को नष्ट कर देता है, नये आते हुए कर्मो को रोक लेता है। उसे अपने शरीर, तथा शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थो के नष्ट होने या वियोग होने की चिन्ता या ममता नही होती, क्योकि वह इन्हे आत्मा से पृथक् मानता है। वही सच्चा फकीर है। कहा भी है—

"फिकर सबको खा गई, फिकर सबका पीर।
फिक्र का फाका करे, वो ही सच्चा फकीर॥"

"एहनु नाम फकीर जेनी मेरू सरखी धीर॥"

सच्चा फकीर वही है, जो आत्मा का श्रेय करे, शान्ति और धैर्य रखे। इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो, तथा अनिष्ट वस्तु का संयोग हो, तो भी समभाव रखे।

मार्गदर्शक पुरुषार्थी कुशल नेता आवश्यक है

परन्तु ऐसे अध्यात्मज्ञान या अध्यात्म विकास के लिए कुशल मार्ग-

दर्शक एव प्रतिबोधक की आवश्यकता होती है। अध्यात्म पथ पर आरूढ हो जाना और बात है, उस साधना-पथ में आने वाली विघ्न-बाधाओ, संकटो, उलझनों आदि के समय सकुशल पार उतरना और बात है। ऐसे समय मे कुशल मार्गदर्शक या गुरु न हो तो साधक विपरीत पथ पर या सुविधावादी मार्ग पर भी चल सकता है। इसी तथ्य को अर्हतर्षि मखलीपुत्र कहते हैं—

> असमूढो उ जो णेता, मग्गदोसपरक्कमो।
> गमणिज्ज गति णाउ, जण पावेति गामिण ॥१॥
> सिद्धकम्मो तु जो वेज्जो, सत्थकम्मे य कोविओ।
> मोयणिज्जातो सो वीरो, रोगा मोतेति रोगिण ॥२॥

यदि मार्ग दिखाने वाला असम्मूढ और कुशल नेता हो तो साधक उसके द्वारा लक्ष्य और गति का ज्ञान करके अपने गन्तव्य स्थान पर आसानी से पहुँच सकता है।

शस्त्रकर्म मे कुशल सिद्धहस्त वीर वैद्य मोचनीय (साध्य) रोग से रोगी को मुक्त कर देता है, सिद्धहस्त वैद्य के हाथ मे रोगी स्वय को रोगमुक्त मानता है। इसी प्रकार अध्यात्मविज्ञान मे कुशल सिद्धहस्त अनुभवी मार्गदर्शक या कुशल चिकित्सक के पास पहुँचते ही साधक अनादि वासना की व्याधियो से मुक्त हो जाता है।

कुशल मार्गदर्शक गुरु अन्तर्दृष्टि खोल देता है, जिससे व्यक्ति आसानी से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करके आध्यात्मिक विकास कर सकता है। आज ससार मे सैकडो ही नही, लाखो गुरु नामधारी हैं। परन्तु उनमे सच्चे मार्गदर्शक असम्मूढ गुरु कितने हैं? इसका पता विरले ही पा सकते हैं।

तिजोरी मे बहुत-सा धन और आभूषण हैं, हीरा, पन्ना आदि रत्न हैं, परन्तु चाबी न मिले तो केवल अलमारी या तिजोरी के बाह्य भाग को देखने से काम नहीं चलता। चाबी मिल जाती है तो व्यक्ति अन्दर का भाग खोलकर सभी वस्तुएँ पा सकता है। यही बात आध्यात्मिक खजाने के विषय मे कही जा सकती है। आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य (शक्ति) का खजाना भरा है। साधक को बाहर से तो ज्ञात हो जाता है, किन्तु वह अनन्त निधान विभिन्न आवरणों से ढका हुआ है, उन आवरणो को जब तक खोला नही जाता तब तक अन्दर मे निहित अनन्तचतुष्टयरूप निधान प्राप्त नही हो सकता। उसकी चाबी कुशल गुरु के पास है। सिद्धहस्त अनुभवी मार्गदर्शक उसकी चाबी बता दें तो साधक आसानी से आध्यात्मिक विकास के पथ पर चलकर अपने मे निहित अनन्तचतुष्टय को पा सकता है।

मार्गदर्शक यदि अध्यात्म का सिद्धहस्त और अनुभवी चिकित्सक हो तो साधक उसके सान्निध्य में रहकर आत्मा की स्वभावदशा प्राप्त करने मे आने वाले विकाररूपी रोगो को अनायास ही दूर कर सकता है।

कुशल अध्यात्म चिकित्सक किस प्रकार से साधक की आध्यात्मिक चिकित्सा करता है और उसे अपने कार्य में सफलता प्राप्त करा देता है? इस सम्बन्ध मे अगली गाथाओं में कहा है—

संजोए जो विहाणं तु दव्वाणं गुणलाघवे।
सो उ संजोग-णिप्फण्णं सव्वं कुणइ कारियं ॥३॥

विज्जोपयार-विण्णाता, जो धीमं सत्तसंजुत्तो।
सो विज्जं साहइत्ताण, कज्जं कुणइ तक्खणं ॥४॥

णिव्वत्ति मोक्खमग्गस्स, सम्म जो तु विजाणति।
राग-दोसे णिराकिच्चा सो उ सिद्धि गमिस्सति ॥५॥

'(वह सिद्धहस्त मार्गदर्शक पहले साधक को) द्रव्यो के गुण और लाघव के विधान की (कुशलतापूर्वक) सयोजना कराता है। वही सयोजना-निष्पन्नता (आध्यात्मिक विकास के) सभी कार्यों को पूर्ण करती है।'

'इसके पश्चात् प्रज्ञाशील साधक स्वय उस आध्यात्मिक विद्या (ज्ञान) और उसके उपचार (प्रयोग) का विज्ञाता एव सत्त्वसयुक्त (आत्मबल एव साहस से युक्त) होकर उक्त अध्यात्मविद्या की साधना (पचाचार रूप मे) करके अविलम्ब अभीष्ट कार्य सिद्ध कर लेता है।'

'इस प्रकार कुशल गुरु के निर्देशन में जो साधक मोक्षमार्ग की निष्पत्ति (स्वरूप रचना) सम्यक् प्रकार से जानता है, वह राग-द्वेष को समूल नष्ट करके सिद्धि (आत्मविमुक्ति) प्राप्त कर लेता है।'

अभिप्राय यह है कि अनुभवी चिकित्सक की तरह कुशल मार्गदर्शक, साधक को आत्म-द्रव्य के साथ-साथ सयोग-सम्बन्ध से जुड़े हुए शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, विविध अगोपाग आदि सहायक द्रव्यो तथा पात्र, वस्त्र, रजोहरण, ग्रन्थ, शास्त्र, आहार-पानी, मकान आदि धर्मपालन में सहायक अजीव द्रव्यो तथा साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका, सघ आदि सजीव द्रव्यो के गुण और उनको कर्मबन्धन न हो, इस प्रकार का लाघव (प्रयोग-कौशल) बताता है, फिर नियम एवं विधान के अनुसार साधुता के अनुरूप तादात्म्य और ताटस्थ्य के ज्ञान का सयोजन भी कर देता है। इस प्रकार की संयोजना-निष्पन्नता साधक में आ जाने पर वह फुर्ती से आध्यात्मिक विकास कर

लेता है, बशर्ते कि वह मार्गदर्शक गुरु के सान्निध्य में रहकर ग्रहण और आसेवन दोनो प्रकार की शिक्षाओं का प्रशिक्षण (यानी थ्योरिटिकल और प्रेक्टिकल दोनो प्रकार की ट्रेनिंग) प्राप्त करके आध्यात्मिक विज्ञान का पूर्ण विज्ञाता और आत्मबलपूर्वक उसका प्रयोक्ता हो जाए।

इस प्रकार का साधक दीर्घकालीन निरन्तर सत्कारपूर्वक अध्यात्म-मार्ग (मोक्षमार्ग) का सेवन करने से एक ओर से राग-द्वेष के कारण आते हुए नये कर्मों को रोक लेता है, दूसरी ओर से परीषह, कष्ट, वेदना आदि को सहन करते समय समभाव रखकर पुराने कर्मो की निर्जरा कर लेता है। इस प्रकार कर्मो को (अथवा कर्मों के बीज-रागद्वेष को) समूल नष्ट करके वह सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो जाता है।

मोक्ष के स्वरूपज्ञान का अर्थ है—कर्मों से छुटकारा पाने का ज्ञान। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि ऐसे अध्यात्म विज्ञान-वेत्ता को स्पष्टरूप से प्रतीत होने लगता है कि कौन-सा कर्म किस-किस प्रकार से किन-किन कारणो से बँधता है? उससे सर्वथा मुक्त होने का, नये कर्मों को प्रविष्ट होने से रोकने (सवर) का कौन-कौन-सा उपाय है? इस प्रकार का विज्ञाता ही कर्मो को काट सकता है।

बन्धुओ!

यह है—आध्यात्मिक विकास का यथार्थ राजमार्ग! केवल आत्मद्रव्य का रटन करने से तथा शास्त्रीय गाथाओ को बिना समझे-बूझे घोट लेने से अथवा उन पर लम्बा-चौडा भाषण कर देने मात्र से किसी का आध्यात्मिक विकास हो गया है, ऐसा नही कहा जा सकता। आध्यात्मिक ज्ञान की परिपक्वता के अभाव में बहुत-से मोक्ष के दीवानो ने अपने प्राणो को होम दिया, अपार कष्ट सहन कर लिये, किन्तु अध्यात्मदृष्टि के अभाव में उनके राग-द्वेष की आग नही बुझी, अहकार और कामना-नामना की भूख नही मिटी, इसलिए वे मोक्ष की मन्जिल नही पा सके। केवल देहदण्ड या अध्यात्मज्ञान का प्रदर्शन ही उनके पल्ले पडा। इसीलिए अर्हतर्षि मखलीपुत्र को आध्यात्मिक विकास का वास्तविक राजमार्ग बताना पडा। □

१५

लोकैषणा और वित्तैषणा के कुचक्र

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

साधक के जीवन मे असन्तोष सबसे बडा अभिशाप माना जाता है। असन्तोष वह आग है, जो एक बार लगने के बाद कभी बुझती नही। अपने पास सब कुछ होते हुए भी असन्तोषी व्यक्ति के मन मे 'और हो जाए, इतना हो जाए' इसकी रट लगी रहती है। असन्तोषी व्यक्ति के मन में लोभ के कारण सदैव बेचैनी रहती है। वह शान्तिपूर्वक अपना आत्म-चिन्तन, आत्म-शुद्धि, आत्मालोचन या आत्मजागरण कर नही सकता। लोभ के कारण उसकी शारीरिक हानि तो होती ही है, मानसिक और बौद्धिक हानि उससे भी अधिक होती है। असन्तोषी व्यक्ति नैतिकता-अनैतिकता के सारे विचार भूल जाता है और येन-केन-प्रकारेण अधिक से अधिक संग्रह, अधिक से अधिक पाने की तृष्णा और लालसा करता रहता है। चारित्र का नाश होने से उसके जीवन से सुख और शान्ति विदा हो जाते हैं। उसकी प्रतिष्ठा भी गिर जाती है।

लोभ चाहे धन-सम्पत्ति का हो, चाहे जमीन-जायदाद का, चाहे वस्त्र, मकान, मान-प्रतिष्ठा, भोजन आदि किसी अन्य प्रकार का हो, वह मनुष्य को ऐसा फँसाता है कि मनुष्य उसके जाल से फिर निकल नहीं सकता। असन्तोष के कारण व्यक्ति प्रेम, भाईचारा और सहिष्णुता के तमाम गुणों को तिलांजलि दे देता है। समाज में परस्पर संघर्ष, अशान्ति, युद्ध, मारकाट और हिंसा का मूल कारण असन्तोष ही है।

वित्तैषणा और लोकैषणा का स्वरूप

मानव-मन में दो प्रकार की वृत्तियाँ हैं, जो आत्मा को चंचल बनाती हैं। उनमें एक शुभवृत्ति है, दूसरी अशुभ। वृत्ति से ही व्यक्ति का जीवन का निर्माण होता है। मानव-मन को अशुभ की ओर प्रेरित करने वाली दो

अशुभ वृत्तियाँ हैं—एक है **वित्तैषणा**, अर्थात्—सम्पत्ति की भूख और दूसरी है—**लोकैषणा**, अर्थात्—प्रसिद्धि की भूख। प्रसिद्धि, प्रशसा, यश-कीर्ति और प्रतिष्ठा (सत्कार-सम्मान) आदि सबका समावेश **लोकैषणा** में हो जाता है। मैं भी कुछ हूँ, मेरी नामबरी हो, लोग मुझे जानें—आदर-सत्कार दें। लोगो की भीड मुझे घेरे रहे और मेरी वाहवाही करे, यही लोकैषणा है। इसी लोकैषणा के अन्तर्गत एक **तीसरी एषणा है—पुत्रैषणा**। गृहस्थो को संतान-वृद्धि की एषणा होती है और साधु-साध्वियो को शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता या अनुयायियो की सख्या अधिक से अधिक बढाने की होड लगती है, अधिकाधिक लालसा होती है, इस तरह की फौज बढाने की। सख्यावृद्धि के लोभ मे क्वालिटी नही, क्वांटिटी ही मुख्यतया देखी जाती है। इस प्रकार ससार में वित्तैषणा और लोकैषणा का दौर चल रहा है, जिसके कारण आज गृहस्थ और साधु प्राय अशान्त हैं।

अर्हतर्षि याज्ञवल्क्य ने इन्ही दो दुर्वृत्तियो की ओर इगित करते हुए इनसे सबको सावधान रहने की चेतावनी दी है—

"आणच्चा जाव ताव लोएसणा, जाव ताव वित्तेसणा, जाव ताव वित्तेसणा ताव ताव लोएसणा। से लोएसण च वित्तेसण च परिण्णाए गोपहेण गच्छेज्जा, णो महापहेण गच्छेज्जा।

जण्णवक्केण अरहता इसिणा बुइत।"

अर्थात्—साधक को यह जानना चाहिए कि जब तक लोकैषणा है, तब तक वित्तैषणा है और जब तक वित्तैषणा है, तब तक लोकैषणा है। साधक लोकैषणा और वित्तैषणा का परित्याग कर गोपथ से जाय, महापथ से न जाय, ऐसा याज्ञवल्क्य अर्हतर्षि बोले।

वित्तैषणा के बाद लोकैषणा सवार हुई

कई बार मनुष्य को किसी कारणवश वित्तैषणा से विरक्ति हो जाती है। किन्तु उसके बाद उसे लोकैषणा धर दबाती है। मैं अपनी बात स्पष्ट करने के लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत कर दू।

धारानगरी के प्रसिद्ध राजा भोज का एक समवयस्क मित्र था, नगर-सेठ सोमदत्त। राजा की कीर्ति प्रचुर दान से फैली हुई थी, लेकिन सोमदत्त अत्यन्त कजूस था। वह धन बटोरना जानता था, बाँटना नही। राजा भोज की मन स्थिति उसके ज्ञान, दान और सम्मान के कारण वसन्त की-सी थी, परन्तु सोमदत्त सेठ की मन स्थिति पतझर-सी थी, जिसमें न पत्ते थे, न फूल, लकेव ठूँठ ही बच रहा था।

सेठ की पत्नी वृद्धावस्था में स्वर्गस्थ हो गई थी। उसका एकमात्र पुत्र अतुल खुले हाथों खर्च करता था—वेश्यागमन, शराब आदि व्यसनों मे। सेठ की पुत्री व दामाद धन पाने की लालसा में सेठ की मृत्यु की कामना कर रहे थे। कर्मचारी भी घात में लगे थे। सेठ यह सब कुछ जानता था, इसी से वह आकुल और उदास रहता था। उसे न तो दिन मे नीद थी, न ही रात को चैन ? वह जी नही रहा था, जीवन को ढो रहा था।

एक दिन नगरसेठ स्नानादि से निवृत्त होकर धारानगरी में विराजमान मुनि सकलकीर्ति के पास दर्शनार्थ गए। अपनी पूर्वोक्त दुःखगाथा मुनिजी के समक्ष प्रस्तुत की और उनसे ही सुखी एव सन्तोषी जीवन-यापन करने की विधि पूछी।

मुनिश्री ने पूछा—'क्यो सेठ ! तुम्हारा सग्रहीत धन क्या तुम्हारे साथ परलोक मे जाएगा ?'

सेठ ने कहा—'नहीं !'

मुनि—"तो फिर तेरा इस पर इतना मोह क्यो ? सच्चा सुख एव सतोष चाहो तो धन का मोह छोड दे। पुत्रादि को जो देय है, उस अश धन को देकर शेष धन परोपकार मे लगा दे। जब यह कर चुके, फिर मेरे पास आ। मैं तुझे शाश्वत शान्ति का राजमार्ग बताऊँगा।" वैसा ही करना स्वीकार करके नगरसेठ लौट गया। दूसरे दिन सेठ के बद भण्डार और तिजोरिया खुल गई। सेठ के नाम से विद्यालय, अनाथालय और चिकित्सालय खुल गए। कवियो और पण्डितो को भी मुक्तहस्त से दान दिया। फलत उन्होंने सेठ के खूब यशोगीत गाए। उसे इस युग का सबसे बडा दानी घोषित किया। राजा भोज ने सालभर में जितना दान दिया—था नगरसेठ ने एक सप्ताह मे उससे अधिक दान दे दिया। अत· प्रशसको और भाटों ने उन्हें दानवीर कर्ण का अवतार बताकर खूब प्रशंसा की। सेठ इन्हें सुन-सुनकर गर्व से फूल उठा। वित्तैषणा के साथ लोकैषणा का यह नशा बहुत ही जोरदार था। इसी अहंकार के नशे में चूर होकर सेठ मुनिश्री के पास आया।

मुनिश्री उसकी चाल ढाल से समझ गए। उन्होंने कहा—"सेठ ! तू इस समय नशे में चूर है। मेरे सामने से हट जा। रात भर सामने वाले वृक्ष के नीचे बैठ। कल प्रातः तुम से बात करूगा।"

सेठ ऐसी अप्रत्याशित बात सुनकर बहुत खिन्न हो उठा। नगर भर में प्रशंसा के गीत और सत्कार, यहां डांट और दुत्कार ! वह सुनने को वह तैयार नही था।

रातभर वृक्ष के नीचे बैठकर इस पर चिन्तन-मनन करता रहा। आधीरात के बाद सेठ की अन्तर्दृष्टि खुली, तब इसका रहस्य समझ में आया इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मैंने दान से तो कोठा खाली किया, किन्तु मान से फिर अपना कोठा भर लिया। सर्वस्व दे डाला, पर गर्व नही गया। यही तो नशा था। मुनिवर मेरे उपकारी है, कि उन्होंने मेरा दोष निकालने के लिए ऐसा किया था। पश्चात्ताप से अश्रुधारा बह निकली। विनम्र होकर सेठ ने प्रात मुनिचरणो मे मस्तक रखकर क्षमा माँगी। मुनिवर ने कहा—"वत्स! अब तू सुपात्र है शान्ति और समाधि पाने का अधिकारी है।"

हाँ, तो पहले सेठ के जीवन मे वित्तैषणा थी, वह मिटी तो लोकैषणा आगई किन्तु अन्तर्दृष्टि खुलने पर वह भी मिट गई।

लोकैषणा और वित्तैषणा दोनो सगी बहनें

आज मानव-मन प्राय दोनो प्रकार की क्षुधाओ का शिकार हो रहा है। जब तक लोकैषणा है, तब तक उसके लिए वित्तैषणा भी जरूरी है। क्योकि प्रसिद्धि के लिए सम्पत्ति का होना अनिवार्य है। प्रसिद्धि के अनुरूप कार्य न करके भी मनुष्य सम्पत्ति से प्रसिद्धि को खरीद लेता है।

कई लोग एक बार प्रसिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद उसका उपयोग सम्पत्ति बटोरने मे करते है। अत लोकैषणा और वित्तैषणा दोनो सगी बहने हैं। एक के सद्भाव में दूसरी आ ही जाती है।

साधु जीवन मे दोनो ही अनिष्टकारिणी क्यो और कैसे?

वित्तैषणा और लोकैषणा दोनो ही गृहस्थ-जीवन और साधु-जीवन दोनो मे अनिष्टकारिणी हैं। साधु जीवन मे वित्त के नाम पर सोना चाँदी या सिक्के आदि तो नही, किन्तु उपाश्रय, मकान, वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि साधन भी वित्त है। अगर उनकी अमर्यादित तृष्णा या वासना साधुजीवन मे है तो वहाँ भी वित्तैषणा है। उसके साथ ही लोकैषणा भी चुपके से प्रविष्ट हो जाती है।

अनुयायियो की सख्या में वृद्धि करने की होड साधक वर्ग मे प्राय चल पडी है। वे किसी न किसी बहाने से दूसरे के अनुयायी या भक्त को अपने तथाकथित चारित्र की क्रियाकाण्डो की या नकली बडप्पन की छाप डाल कर उसकी भूतपूर्व समकित (गुरुधारणा) को बदलवा देते हैं। इस प्रकार की हेराफेरी का कारण वह लोकैषणा है, वही मिथ्या महत्त्वाकाक्षा है, वही प्रसिद्धि की वासना है जो विविधरूप मे साधक जीवन में आकर वीतरागता की साधना के सत्व को चूस लेती है। जिस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र मे दल-बदली की जाती है उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र मे भी एक ही

सम्प्रदाय उपसम्प्रदाय या पंथ में समकित-बदली की जाती है। इस प्रकार की वित्तैषणा और लोकैषणा के कारण कई साधु तो रात-दिन इसी उधेड़बुन मे, इसी फिराक में और इसी प्रकार की जोड तोड करने में लगे रहते हैं। उनको इनकी चिन्ता इतनी अधिक सताती है कि वे अपना आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण या आत्मशोधन जरा भी नही कर पाते। यह विचारणीय है।

महत्त्वाकांक्षा : कैसी उचित, कैसी अनुचित ?

उन्नति की आकाक्षा स्वाभाविक एव आध्यात्मिक मनोवृत्ति है। तुच्छता या क्षुद्रता से आगे बढकर महत्ता को प्राप्त करना स्वाभाविक है। नैतिक और आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए आत्म-साधना या आराधना मे आगे बढने की आकाक्षा का औचित्य है। परन्तु यह आकाक्षा तभी सफल हो सकती है, जब उक्त महत्त्वाकाक्षी व्यक्ति में धैर्य, साहस, विवेक, तथा शुद्ध धर्माचरण में पुरुषार्थ का उचित सम्मिश्रण हो।

ऐसी महत्त्वकाक्षा गुणो की होनी चाहिए। उत्तम क्षमा आदि दश-विध धर्म, समता, साधुता, सयमशीलता, आदि तथा प्रसन्न मन और स्थिर चित्त आदि गुणो के होने पर ही महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति हो सकती है। किन्तु उन्नति की आकाक्षा अपनी योग्यता, एव गुणो को देखकर होनी तो उचित है, किन्तु गुणवत्ता या योग्यता के बिना ही बेसुरा राग अलापना कथमपि उचित नही है।

लोकैषणा की इस दुष्प्रवृत्ति के कारण सार्वजनिक अथवा लोकसेवा का जीवन, अथवा धार्मिक क्षेत्र भी अत्यधिक गदा, विकृत और मलिन होता चला जा रहा है। धार्मिक जगत् में त्यागी कहे जाने वाले लोग यदि अपनी लोकैषणा का त्याग कर सके होते तो भारत की धर्मप्रधान जनता का जीवन चारित्र की दृष्टि से कहीं अधिक समुन्नत करना सरल होता। धन और वासना का प्रलोभन छूट सकता है, परन्तु लोकैषणा, प्रसिद्धि और बडप्पन का लोभ त्यागी कहे जाने वालो से भी नहीं त्यागा जाता। कहा भी है—

> कचन तजबो सहज है, सहज त्रिया को नेह।
> मान, बडाई, ईर्ष्या, दुर्लभ तजबो एह ॥

वाहवाही और नामवरी के लिए ओछे उपायो का अवलम्बन लेना उतना ही हेय है, जितना धन और वासना की पूर्ति अनैतिक उपायों से करना।

लोकैषणा की इस डाकिन की भूख कितनी प्रबल होती है, एक साधक कवि के शब्दो मे देखिए—

मैं बना नाम का भूखा, मैं ॥ ध्रुव ॥
नाम का भूखा, न काम का भूखा
नही अचल धाम का भूखा ॥ मैं ॥१॥
शान का भूखा, मान का भूखा, नही आत्मज्ञान का भूखा ॥ मैं ॥२॥
गान का भूखा, तान का भूखा नही एकतान का भूखा ॥ मैं ॥३॥
खान का भूखा, पान का भूखा, नही सुधापान का भूखा ॥ मैं ॥४॥
राज का भूखा, ताज का भूखा, नही अचलराज का भूखा ॥ मैं ॥५॥
मत का भूखा यत का भूखा, नही अटल सत का भूखा । मैं ॥६॥

लोकैषणा की दुर्वृत्ति के ये ज्वलन्त चित्र है । लोकैषणा की इस आग मे आज प्राय सारा ससार जल रहा है । त्यागियो के लिए तो भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र (३५/१८) मे कठोर आदेश दिये है—

अच्चण रयण चेव वदण पूयण तहा ।
इड्ढी-सक्कार-सम्माण मणसा वि न पत्थए ॥१८॥

'साधु अर्चन, रजन (मनोरजन), वन्दन, पूजन तथा ऋद्धि, सत्कार और सम्मान की मन से भी इच्छा न करे ।'

वास्तव मे लोकैषणा का पुजारी वीतराग-प्रभु का पुजारी नही हो सकता । वह अह का पुजारी है, अर्हं का नही । सत्कर्म पुण्य और परमार्थ को लोकैषणा के लिए बेच देने वाले हीरा बेचकर काच खरीदने वाले विवेकमूढ की तरह हैं ।

आज गृहस्थो द्वारा भी अमीरी का रौब गाठकर फिजूलखर्ची के द्वारा अपना बडप्पन सिद्ध करके प्रशसा पाने का प्रयत्न किया जा रहा है । अधिकाश लोगों में शेखीखोरी, बनावट, दिखावा, ढोग, फैशनपरस्ती और फिजूलखर्ची आदि के द्वारा बडप्पन दिखावे की होड चल रही है । ठाटबाट बनाने मे लोग अपनी गाढे पसीने की कमाई का अधिकाश भाग फूंक देते हैं । शरीर ढकने के लिए साधारण कपडों से काम चल सकता है, पर उन पर प्रचुर धन खर्च करके कीमती सूट और महगी साडी खरीद कर लोग अपनी अमीरी का प्रदर्शन करते हैं । इसी प्रकार जेवर लादे फिरने का फूहड़पन भी लोग उनको धनी समझे, इस ओछी बुद्धि का परिचायक है । विवाह शादियो में लोग अधे होकर पैसे की होली जलाते हैं, उसका प्रयोजन भी दर्शक लोगो से प्राय प्रशसा पाने का रहता है । मृत्युभोज या बडी-

बडी दावतों के मूल में भी वाहवाही लूटने की मनोवृत्ति छिपी रहती है। कई व्यक्ति तो अधिक वाहवाही लूटने के लिए अपना घर खाली कर डालते हैं, कर्जदार बन जाते हैं, आवश्यक कार्यों को भलीभांति चलाने में कठिनाई महसूस होने लगती है। मोटर, घोडा-गाडी, कोठी, बंगले, नौकर-चाकर आदि का भारी सरजाम आवश्यकता पूर्ति के लिए नही, किन्तु दिखावे और अमीरी के प्रदर्शन के लिए होता है। बड़े आदमी बनने के शौक मे इन कामो मे बहुत फिजूलखर्ची की जाती है। जो लोग इस प्रकार का छिछोरपन करते हैं, उन्हे यह बात गांठ बाध लेनी चाहिए, कि यह आडम्बर या प्रदर्शन प्रशसा का नही, निन्दा का कारण बनता जा रहा है। वर्तमान युग के लोग इस उद्धत-प्रदर्शन का विरोध करेंगे, इसे रोकेंगे। इसी दुष्प्रवृत्ति ने सार्वजनिक सस्थाओ का सत्यानाश किया है। पदाधिकारी बनने की हविस में प्राय सभी जन-सगठन ईर्ष्या और कलह के अखाडे बने हुए हैं। हर कोई बडप्पन और पदवी चाहता है, जिसे मिल जाती है वह फिर उसे सदा के लिए छाती से चिपकाये बैठा रहना चाहता है। जिसे नही मिलती, वह सत्ताप्राप्त व्यक्ति को पदच्युत करने के लिए ही नही, सस्था की प्रगति को ठप्प करने पर तुल जाता है। सत्ता हथियाने के लिए कुचक्र करने मे अपनी शक्ति खर्च करता है।

ऐसी लोकैषणा से आत्मार्थी गृहस्थ को तथा साधु को कोसो दूर रहना चाहिए।

वित्तैषणा की डाइन से भी बचो

मनुष्य प्रचुर धन का स्वामी बनने के तथा ऐश्वर्य का सुखोपभोग करने के सपने देखा करता है। अपने से बडे और सुखी सम्पन्न स्थिति के लोगो को देखकर वह खिन्न होता है तथा उसकी इच्छा होती है कि मेरे पास भी इतना ही वैभव और ऐश्वर्य हो। इस प्रकार ईर्ष्या और तृष्णा की आग प्रचण्ड वेग से उसके मन मे जलने लगती है। यही असन्तोष का कारण बनती है। जिसका मन महत्वाकाक्षाओ की तृष्णा मे प्रज्वलित हो रहा है, वह धन, साधन और सुख सामग्री बटोरने मे कौन-सा कुकर्म नही करता होगा, कहा नही जा सकता।

आज धन की मृगमरीचिका के पीछे लोग बेतहाशा दौड़ रहे हैं। क्या गरीबी इसी सीमा तक पहुँच गई है कि मनुष्य को निरन्तर धन के लिए उद्विग्न होकर रहना पड़े? वास्तव में बात ऐसी नहीं है। फिर भी हर व्यक्ति आज धन का प्यासा-सा फिरता है। धन, अधिक धन, और अधिक

धन, एव साधन यह एक ही पुकार हर दिल-दिमाग मे से उठती सुनाई देती है। धर्मध्वजी सन्त-महन्तो से लेकर गिरहकट और चोर-डाकुओ तक हर वर्ग के लोग धन की आकाक्षा से अपने चरखे चलाते रहते हैं।

गृहस्थ के लिए जीवन की प्रधान भौतिक आवश्यकताएँ हैं—रोटी, कपडा और मकान, जो थोडे-से समय के उचित श्रम से अनायास प्राप्त किये जा सकते हैं। गरीब कहे जाने वाले लोग भी इन तीनो आवश्यताओं को सहज ही पूरा कर लेते हैं और सन्तोषपूर्वक जीवन-यापन करते हैं। इसके विपरीत वे लोग हैं, जिनके यहाँ सब कुछ होते हुए भी रात-दिन धन की हाय-हाय लगी रहती है।

साधुओ के लिए भी वस्त्र, पात्र, रजोहरण, कम्बल, पादप्रोञ्छन आदि कुछ धर्मोपकरण ममता-मूर्च्छारहित होकर रखने का भगवान् महावीर का फरमान है—

सन्निहिं च न कुव्वेज्जा, अणुमाय पि सजए।

'सयमी साधक अणुमात्र भी सग्रह न करे।'

गृहस्थ को भी जीवन-यापन के लिए थोडे-से धन की, नियमित आजीविका की एव कुछ साधन-सामग्री की आवश्यकता पडती है। परन्तु धन को ही एकमात्र लक्ष्य मान लिया जाए यह बहुत ही अनुचित है। ऐसी स्थिति में धन साधन न रहकर साध्य बन जाता है। धन की या साधनो की इस तृष्णा के वशीभूत होकर मनुष्य बुरे से बुरे अनीतियुक्त कुकार्य करते रहते हैं। गरीबी नही, तृष्णा ही हिंसा, हत्या, चोरी, डकैती आदि दुष्कर्मो की जननी है। रिश्वतखोरी, बेईमानी और ठगी, तस्करी आदि के जो विशालकाय अनर्थ हो रहे हैं, जो प्राय उच्चवर्ग के लोगो द्वारा सम्पन्न किये जा रहे हैं, उनके मूल मे गरीबी नही, वित्तैषणा होती है। वित्तैषणा के शिकार लोगो का जीवन अशान्ति, बेचैनी, चिन्ता और परेशानी मे व्यतीत होता है। ऐसे लोग वस्तुत अत्यन्त दयनीय हैं। वे बेचारे न तो जीवन का मूल्य समझ सके, न ही उससे लाभ—उत्तम साधना आदि का—प्राप्त कर सके। असन्तोष की आग मे जलने वाले वे वित्तैषणाग्रस्त लोग विशाल अस्पताल के कीमती पलंगो पर पडे हुए वे रोगी हैं, जो आग से झुलसे हुए हैं, जिनके भीतर और बाहर आग एव जलन ही पीडा दे रही। उन अभागो को कीमती इमारत और बहुमूल्य पलग का क्या सुख मिल सकता है?

लोकैषणा और वित्तैषणा के कुचक्र को तोड़ने के उपाय

बन्धुओ!

अर्हतर्षि याज्ञवल्क्य ने लोकैषणा और वित्तैषणा के गठबन्धन को

तोड़ने का भी उपाय बताया है कि साधक को इन दोनों का त्याग करके गोपथ से जाना चाहिए, महापथ से नहीं।

मनुष्य के सामने जीवन जीने के दो पथ हैं। पहला पथ है—अधिक अर्जन करे और अधिक से अधिक खर्च करे। अर्थात्—विलास और वैभव के प्रसाधन अधिकाधिक एकत्रित किये जाएँ, तथा अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अधिकाधिक सम्पत्ति जुटाए।

दूसरा पथ है—सीमित आवश्यकताएँ और सीमित साधन। अर्थात् सयम मर्यादा में रहकर कम से कम साधनो से, अपनी अत्यल्प आवश्यकताओ की पूर्ति करे, और वह भी समाज के प्रति कृतज्ञ और नम्र रहकर! दोनो प्रकार की एषणाएँ आवश्यकताओ को बढाने के मार्ग पर ले जाती हैं।

जैन सस्कृति दोनो प्रकार की एषणाओ से दूर रहकर दूसरे पथ से जाने का निर्देश करती है।

जैन धर्म कहता है—साधु वर्ग एव गृहस्थ वर्ग दोनो अपने-अपने दायरे मे आवश्यकताओ पर अंकुश लगाकर चले श्रावक का परिग्रहपरिमाणव्रत, उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत, अनर्थदण्डविरमणव्रत, दिशापरिमाणव्रत आदि व्रत आवश्यकताओ और आकाक्षाओ मे कटौती करता है, उसमे मितव्ययिता लाता है और कम से कम आवश्यकताओ से अपना जीवन चलाने की प्रेरणा देता है। साथ ही लोकैषणा को शान्त करने के लिए अपने साधनो मे से अतिथि (सुपात्र) के लिए भी विभाग करे। जैन सस्कृति कहती है—जितनी ही आवश्यकताएँ बढे गी, उनकी पूर्ति के लिए उतने ही पाप बढे गे। उतने ही सघर्ष बढे गे, हैरानी, अशान्ति, चिन्ता और बेचैनी बढे गी। ससार मे इच्छाएँ असीम हैं उनका कोई अन्त नही है। कहा भी है—इच्छा हु आगाससमा अणतिया।

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है। जितनी इच्छाएँ हैं, संसार मे उतने साधन नही हैं, वे तो सीमित हैं। शरीर है तो उसके निर्वाह के लिए कुछ न कुछ आवश्यकता तो रहेगी ही। किन्तु वे आवश्यकताएँ अनियन्त्रित न हो। इसके लिए जैन साधक के लिए निर्देश दिया कि वह गोपथ से जाए, महापथ से नहीं।

साधुवर्ग को गोपथ से जाने के निर्देश का रहस्य

इसका भावार्थ यह है कि साधक संयमपथ से या यतनापथ से जाए। यदि उसकी आवश्यकता एक ही वस्त्र से पूर्ण हो जाती है तो वह दूसरे वस्त्र

के लिए प्रयत्न न करे। वह जो भी प्रवृत्ति करे, यतना से करे। जैसा कि दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुजतो भासंतो पावकम्म न बंधइ ॥

साधक यतनापूर्वक चले, यतना से खड़ा हो, यतना से बैठे, यतना से सोए, यतना से भोजन करे, यतना से बोले तो पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

तप, जप, प्रवचन, विहार या अन्य परोपकार के कार्यों को प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का साधन न बनाए। उसके पीछे नामना-कामना से दूर रहे, लोकैषणा के जाल में तप, जप, आचारपालन, महाव्रत, समिति-गुप्ति-पालन आदि को गूथे, तभी इन दोनो एषणाओ से पिण्ड छूट सकता है।

जो भी चर्या करे, उसे कामनारहित, आसक्ति-रहित, फलासक्तिरहित एव प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा से दूर रहकर करे। आसक्ति को त्याग कर यथा-लाभ सन्तोष की नीति अपना कर चले। सुख पाने मे नही, त्याग मे है। सुख, कर्मफल के दीवाने रहने या लालायित रहने मे नही है बल्कि कर्तव्य-शील एवं दायित्व युक्त होकर विचरण करने मे है। श्रमण वर्ग इस स्वर्णसूत्र को अपनाए—

लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निंदा-पससासु तहा माणावमाणओ ॥

लाभ और अलाभ, सुख और दु ख, जीवित और मरण, निन्दा और प्रशसा तथा मान और अपमान सभी द्वन्द्वो मे समभाव रखे।

प्राणिमात्र के प्रति समभाव और आत्मौपम्यभाव रखकर चले। अनिवार्य आवश्यक वस्तु की याचना करने पर यदि प्रासुक, एषणीय एव कल्पनीय वस्तु प्राप्त नही हुई तो वह रोष या द्वेष व्यक्त न करे। उसे परीषह समझ कर समभाव से सहे।

इसके लिए गोपथ से जाने का उपाय बताते हुए अर्हतर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

जहा कवोता य कविजला य गाओ चरंति इह पातरासं।
एवं मुनी गोयरियप्पविट्ठे, णो आलवे, णो वि य संजलेज्जा ॥१॥
पंच वणीमकसुद्ध जो भिक्खं एसणाए एसेज्जा।
तस्स सुलद्धा लाभा, हणाए विप्पमुक्कदोसस्स ॥२॥
पंचाणं रूवसंबद्धं फलावत्ति च चिंतए।
कोहातीणं विवाकं च अप्पणो य परस्स य ॥३॥

जैसे कबूतर, कपिंजल पक्षी और गाय प्रातःकाल का भोजन प्राप्त करने के लिए वन में घूमते हैं, इसी प्रकार गोचरी के लिए प्रविष्ट मुनि गोवत् भिक्षा करे, परन्तु स्वादिष्ट पदार्थ की प्राप्ति के लिए किसी गृहस्थ की प्रशंसा न करे और न ही भिक्षा न मिलने पर वह कुपित हो।

कर्मक्षय करने हेतु भिक्षाजनित दोषो से विमुक्त मुनि पचविध वनीपको (याचक, अतिथि, कृपण दीन, ब्राह्मण, या कुत्ता एवं अन्यतीर्थिक श्रमण) से (अर्थात्—इनको अन्तराय न डालते हुए) शुद्ध (निर्दोष) भिक्षा गवेषणापूर्वक ग्रहण करे।

मुनि अपने रूप (स्वरूप) से सम्बद्ध पथ और फलवृत्ति का चिन्तन करे तथा स्व और पर के क्रोधादि के विपाक का भी विचार करे। भावार्थ यह है कि भिक्षा के लिए जाते समय जिनशासन और मुनि के स्वरूप को सदैव दृष्टिगत रखे। उसी के अनुरूप फल की आवृत्ति चाहे। साथ ही, वह स्व और पर किसी के लिए भी क्रोध का निमित्त न बने।

पहले लोकैषणा और वित्तैषणा का परित्याग करने का निर्देश किया गया था। अब इन तीन गाथाओं में उसी सन्दर्भ में उक्त दोनो एषणाओं का परित्याग करने के लिए साधु वर्ग के लिए शुद्धभिक्षाचरी—गोचरी करने का निर्देश किया गया है। साधुवर्ग जब गोवत् भिक्षाचरी करेगा, उस समय अगर उसमे उक्त दोनो प्रकार की एषणा होगी तो वह ताक-ताक कर सम्पन्न घरो मे आहारादि की प्राप्ति के लिए जाएगा, कही न मिलने या किसी के न देने पर असन्तुष्ट होकर कुपित होगा, उस ग्राम, नगर या घर को कोसेगा, अथवा कही दीनता दिखाएगा, अपनी जाति, कुल, आजीविका आदि का बखान करेगा, या किसी के यहाँ से सरस स्वादिष्ट आहार, सुन्दर वस्त्र, पात्रादि मिलने पर या लेने के लिए उसकी प्रशसा करेगा। इस प्रकार वह साधु लोकैषणा और वित्तैषणा दोनो से लिप्त हो जाएगा।

जिस साधु में वित्तैषणा (पदार्थों के पाने की लालसा) या लोकैषणा नही होगी, वह गाय की तरह क्रम से उच्च-नीच या मध्यम कुलों में तथा सम्पन्न या असम्पन्न सभी घरो में क्रमश गोचरी करेगा, और सहज में प्राप्त कल्पनीय एव एषणीय वस्तु को ग्रहण करके समभाव से उसका उपयोग करेगा। सरस वस्तु की प्राप्ति होने पर उसके मन में गर्व नहीं होगा और नीरस वस्तु मिलने पर उसे दीनता, निराशा या खिन्नता नहीं होगी।

वह लाभ या अलाभ में सम रहेगा। उसके मन में सरस स्वादिष्ट या अभीष्ट वस्तु को पाने या प्रचुर मात्रा मे पाने की एषणा (लोभ) नही

जागेगी, और न ही उसके लिए वह किसी प्रकार का चमत्कार, या यन्त्र-मन्त्रादि या जादू टोने का प्रयोग करेगा, और न ही किसी प्रकार की तिकडम-बाजी करेगा। वह अपनी स्वपर-कल्याण-साधना मे मस्त रहेगा।

कबूतर आदि पक्षी भी जब अपने भोजन की तलाश में निकलते हैं, तब उनके मन मे न तो किसी प्रकार की आकुलता रहती है और न ही दौड-धूप। इसी प्रकार साधु के मन मे भी स्वादिष्ट पदार्थों या अभीष्ट पदार्थो को पाने की आकुलता या सब याचको से पहले प्राप्त करने की दौड-धूप नही होनी चाहिए। वह भिक्षा के समय समचित्त रहे। अगर गृहस्थ के द्वार पर कोइ भी याचक खडा है तो उसे अतिक्रमण करके गृहस्थ के घर मे भिक्षा के लिए प्रवेश न करे। ऐसा करने से दूसरे याचको या दाता के मन मे साधु के प्रति अश्रद्धा पैदा हो सकती है तथा जैन शासन की भी अप्रतिष्ठा हो सकती है। कदाचित् अपने लाभ के प्रति विघ्नकारक समझ कर वे याचक मुनि पर क्रुद्ध होकर सघर्ष कर सकते है, मुनि को भला-बुरा कह सकते है। अत समभाव के उपासक मुनि का कर्त्तव्य है कि वह अपने और दूसरो के दिलो मे क्रोधादि उत्पन्न होने का निमित्त न बने।

भिक्षा लेते समय भी साधु अपने मुनिरूप और शासन की प्रतिष्ठा का विचार करे। दीनता दिखाकर या रौब गाठ कर अथवा दूसरो को अपने चमत्कार दिखाकर प्रभावित करके भिक्षा लेना मुनिरूप और शासन की प्रतिष्ठा को समाप्त करना है।

गृहस्थ के लिए भी यही सिद्धान्त

गृहस्थ को भी उक्त दोनो एषणाओ का परित्याग करने हेतु गोपथ से जाने और महापथ से जाने का सिद्धान्त समझ लेना चाहिए। वह भी आहारादि प्राप्ति के विषय मे अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही होगा, महा-रम्भी, और महा-परिग्रही का पथ अगीकार नही करेगा। कुटुम्ब पालन मे जीवन निर्वाह योग्य धन से एक मकान से, थोडे-से वस्त्रो से तथा सादे-सीधे सात्विक और पोषक भोजन से काम चल जाता है तो वह अधिक को पाने, सग्रह करने या उसके लिए महान् आरम्भ करने का उपक्रम नही करेगा। यही अर्हतर्षि याज्ञवल्क्य की अनुभवमूलक प्रेरणा है। ●

१६

जीवन की सुन्दरता

दो प्रकार के जीवन

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

ससार मे दो प्रकार के व्यक्ति आते हैं। एक—दूसरो को दबा सता कर, सत्ता के जोर से दूसरो को कुचल कर, अन्याय-अत्याचार करके, अथवा शोषण करके फलते-फूलते हैं, आगे बढते हैं। जनता उनके समक्ष नतमस्तक होती है, उनकी जय-जयकार करती है।

दूसरे—ऐसे व्यक्ति आते है, जो न्याय, नीति और धर्मपूर्वक अपना जीवन-यापन करते है। दूसरो के प्रति सहानुभूति, दया, क्षमा, सेवा, समता, करुणा, आत्मोपम्य का भाव रखकर जीते हैं। ऐसे लोग दूसरो के हृदय पर शासन करते हैं, उनके सम्पर्क मे आने वाले लोग उन्हे प्रणाम, वन्दन नमन करते है, उनके गुणगान करते हैं, परन्तु वे किसी मे ऐसी अपेक्षा नही करते। वे प्रशसा करने वालो पर राग और निन्दा करने वालो या उपेक्षा करने वालो के प्रति द्वेषभाव नही रखते। वे अपना जीवन सतोषवृत्ति से सुखपूर्वक बिताते हैं। वे कोई भी ऐसा कार्य नही करते जिससे दूसरो को कष्ट हो, वे अन्याय-अत्याचार या दमन से पीडित हो।

आपसे पूछा जाए कि आप कौन-सा जीवन पसन्द करते हैं ? आप शायद दूसरे प्रकार का जीवन ही पसन्द करेंगे। लेकिन उसके लिए आपको स्वय पुरुषार्थ करना होगा। अपने परिवार और समाज मे वैसा वातावरण, वैसी ही शिक्षा-दीक्षा और सस्कार का माहौल बनाना होगा।

सौन्दर्यपूर्ण जीवन का रहस्य

जैन सस्कृति मे 'जैन' शब्द मे भी विजय का स्वर निहित है, परन्तु किस पर ? वहाँ बाह्य विजय नहीं, जनता के हृदय पर विजय, जनता के

दिलो को जीतना ही वास्तविक विजय है। अर्हतर्षि भयाली ने तेरहवें अध्ययन मे किसी के द्वारा लावण्य सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाने पर इसी आशय का उत्तर दिया है—

प्रश्न—किमत्थ णत्थि लावण्णं ताए ?

उत्तर – मेत्तेज्जेण भयालिणा अरहता इसिणा बुइत ।

> **णोऽहं खलु भो अप्पणो विमोयणट्ठाए पर अभिभविस्सामि ।**
> **माण मा णं से परे अभिभूयमाणे मम चेव अहिताए भविस्सति ।**

प्रश्न – तुम्हारा लावण्य—(जीवन मे सौन्दर्य) क्यो नही है ?

उत्तर—इसके उत्तर मे मैत्रेय भयाली अर्हतर्षि ने कहा—

'मैं अपनी विमुक्ति के लिए दूसरे को पराजित नही करूंगा। नही, नही, वह पराजित व्यक्ति मेरे लिए ही अहितकर्ता बनेगा।"

ऐसा जीवन सौन्दर्यमय नहीं है

अर्हतर्षि के कहने का आशय यह है कि विश्व मे अधिकाश व्यक्ति अपने जीवन को पुष्ट, लावण्यमय, सुखमय एव विजयी बनाने के लिए दूसरो को पराजित करते हैं, सताते-दबाते और कुचलते हैं, पीड़ित करते रहते है। ऐसे व्यक्ति अपने विकास, अपने अभ्युदय और अपने प्रेय के लिए दूसरो का विनाश करते है, दूसरो को गुलाम बनाकर उनके साथ मनमाना कठोर व्यवहार करते हैं। उन मान्धाताओ की मुस्कान दूसरो को परेशान करके टिकती है। ऐसा जीवन सौन्दर्यमय नही है।

इसे समझने के लिए एक ऐतिहासिक घटना लीजिए—

प्रियदर्शी सम्राट् अशोक के जन्मदिवस का महोत्सव था। इस अवसर पर सभी प्रान्तो के शासक आए थे। सम्राट् की ओर से घोषणा की गई—'सर्वश्रेष्ठ शासक को आज पुरस्कार दिया जाएगा।' इस पर उत्तरी सीमा के शासक ने कहा—प्रादेशिक शासन की आय मैंने तीन गुनी बढ़ा दी है।

दक्षिण के प्रान्ताधीश ने कहा—इस वर्ष मेरे प्रान्त की ओर से राज्य कोष मे गतवर्ष से दुगुना सोना अर्पित किया गया है।

पूर्वी प्रान्तो के शासक ने कहा—पूर्वी सीमान्त के उपद्रवियों का मैंने सिर तोड़ दिया है। अब वे कदापि सिर उठाने का साहस नहीं कर सकेंगे।

पश्चिमी प्रदेश के अधिकारी बोले—मैंने सेवकों का वेतन घटा दिया

है, तथा जनता पर कर बढ़ा दिया है, जिससे राज्य की आय अनेक गुनी बढ़ गई है। आय के अन्य कई साधन भी ढूढ़ लिये हैं।"

अन्त मे उठे मगध के प्रान्तीय शासक। वे नम्रतापूर्वक बोले—महाराज! मैं क्या निवेदन करूं? मेरे प्रान्त ने प्रतिवर्ष के आधे से भी कम धन इस वर्ष केन्द्रीय राज्यकोष मे भेजा है। मैंने प्रजा पर कर कम किये है। राज-सेवको को कुछ अधिक सुविधाएँ दी गई हैं। जिसके फल-स्वरूप वे अधिक उत्साह, प्रामाणिकता एव परिश्रम के साथ अपना कर्तव्य अदा कर रहे है। प्रान्त मे सर्वत्र धर्मशालाएँ और कुंए बनवाये गये हैं। नि शुल्क चिकित्सालय खोले गये हैं। प्रत्येक कस्बे और बडे गाँव मे पाठ-शालाएँ खोली गई हैं।

सम्राट् सिंहासन से उठे और घोषणा की—मुझे प्रजा के रक्त से रजित स्वर्णराशि नही चाहिए। प्रजा को सुख-सुविधाएँ मिले, यही मेरी हार्दिक इच्छा है। यह सब कहने के बाद सम्राट् अशोक ने मगध के प्रान्तीय शासक को सर्वश्रेष्ठ घोषित करते हुए कहा—"इस वर्ष का पुरस्कार मगध के शासक को दिया जाय।"

वास्तव मे जो शासक प्रजा पर अधिक कर लगाकर अथवा शासन-सेवको का वेतन घटाकर शोषण और उत्पीडन करता है, अथवा अपनी विजय के लिए दूसरे निर्दोष देश पर हमला करके उसे पराजित करता है, और अपनी राज्य सीमा बढाता है, उस शासक या व्यक्ति का जीवन कभी सौन्दर्ययुक्त (लावण्यमय) नही हो सकता। जीवन का वास्तविक सौन्दर्य अपने से दुर्बलो, अशिक्षितो, पीडितो या निर्धनो को उत्पीडित, शोषित, पददलित या पराजित करने मे नही, वह है—उन्हे ऊपर उठाने, विपत्ति मे उनकी सहायता करने, उनके दुःख मे सहभागी बनकर उनके आँसू पोछने मे। तभी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' या 'मित्ती मे सव्वभूएसु' का सिद्धान्त क्रियान्वित होता है। वही विजयी जीवन लावण्यमय, कान्तिमय हो उठता है।

मध्ययुग मे पश्चिमी देशो में एक सिद्धान्त प्रचलित हुआ था जिसका नारा था—'Survival of the fittest' योग्यतम व्यक्ति ही जीने का अधि-कारी है। योग्यतम का भावार्थ था—जो शक्तिशाली हो, फिर वह चाहे तन से हो, धन से हो, सत्ता से हो या फिर आतक से हो। ऐसे लोग ही उस युग में प्रचलित गुलामी प्रथा (दास-दासी क्रय-विक्रय) के प्रबल सम-र्थक थे।

इसीलिए अर्हतर्षि मयाली के आगे के कथन का तात्पर्य है कि 'मैं अपनी

विजय, अपनी दु:खविमुक्ति, या अपनी समृद्धि के लिए दूसरो को पराजित, पीडित या अभिभूत (दबा-सता) नहीं कर सकता। दूसरे की चिता-भस्म पर अपने लिए महल नही बना सकता, क्योंकि दूसरे के पराभव, पराजय या उत्पीडन मे मेरा ही अहित छिपा हुआ है। दूसरे के आँसू मेरी आत्मा को चैन से नही रहने देंगे। दूसरे के पराजय या उत्पीडन से मेरी विश्वमैत्री का सिद्धान्त चूर-चूर हो जाएगा। ऐसी स्थिति मे अहिसा, करुणा, दया, समता या 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का मेरा सिद्धान्त समाप्त हो जायेगा, जो मेरी आत्मा के लिए इस जन्म के लिए ही नही, जन्म-जन्मान्तर के लिए भी हानिकारक होगा। अत दूसरे के हर्ष मे ही मेरा हर्ष है, दूसरो के सुख मे ही मेरा सुख है। ऐसा विश्वमैत्री एव विश्वबन्धुत्व मे ओतप्रोत आत्मौपम्ययुक्त जीवन ही सौन्दर्यमय—लावण्ययुक्त हो सकता है।

'जिलाकर जीओ' के सिद्धान्त से साधुजीवन सौन्दर्यमय

वास्तव मे साधुजीवन मे तो सौन्दर्यमय जीवन के लिए समस्त प्राणियो के प्रति आत्मौपम्य भाव लेकर चलना पडता है। वहाँ तो "अप्पसम मन्निज्ज छप्पिकाए" अर्थात्—'छह ही काया के जीवो को आत्मतुल्य माने' का सिद्धान्त जीवन मे चरितार्थ करना है। वहाँ एक भी प्राणी को मारना तो दूर रहा, उसे सताना, दबाना, कुचलना, डराना-धमकाना, पीडित करना या बिना ही मतलब के उससे छेडखानी करना, छाया मे धूप मे या धूप से छाया मे रखना अथवा धोखा देना, भटकाना अपमानित करना, अपशब्द कहना आदि हिंसाजनक कार्य करने का निषेध है। यही कारण है कि साधु का जीवन 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त मे ऊपर उठकर दूसरो को जिलाकर जीओ' के सिद्धान्त से ही सुन्दर बन सकता है। जब-जब सघ, समाज और राष्ट्र पर सकट आये हैं, साधुजनो ने स्वय प्राणो पर खेल कर, घोर परीषह सहन करके उस सकट का निवारण किया है, उस कष्ट या दु ख को अपना कष्ट या दु ख समझकर दूसरो को जिला कर जीने के सिद्धान्त को आचरित किया है।

जैन इतिहास मे रक्षाबन्धन पर्व के दिन नमुचि के अत्याचार से साधुओ को मुक्त कराने का विष्णुमुनि का कार्य इसी सिद्धान्त का परिपोषक है।

विष्णु मुनि ने सघ और राष्ट्र पर आये हुए विकट संकट को स्वय की परवाह न करते हुए दूर किया और दूसरो को जिलाकर जीने के सिद्धान्त को चरितार्थ किया। षट्काय के रक्षक साधु संघ की रक्षा के साथ-साथ

उस जनपद की, अन्याय पीडित जनता की तथा नमुचि की नास्तिकता के कारण अन्य उत्पीड़ित मानवेतर प्राणियो की भी रक्षा की।

'जिला कर जीओ' के सिद्धान्त का परिपालक षट्कायरक्षक साधु अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए, अपने अपमान या कष्ट का बदला लेने के लिए दूसरे मानवो की हानि का जरा-सा विचार भी नहीं कर सकता। न ही वह अपने से भिन्न समुदाय, मत, पथ, विचारधारा या आचारधारा के लोगो को हैरान कर सकता है न ही नीचा दिखाने या बदनाम करने का प्रयत्न कर सकता है। वह व्यक्ति, सम्प्रदाय, जाति-कौम, प्रान्त, राष्ट्र एव 'समाज से ऊपर उठकर सारे विश्व के प्रति मैत्री भावना को, सर्वहित चिन्तन, सर्व-जीव रक्षण सर्वोदय को साकार करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह स्वप्न मे भी किसी का अहित, अकल्याण या बुरा चिन्तन नही कर सकता। अपने हित के लिए दूसरो के हित या जोवन के साथ वह खिलवाड नही कर सकता।

अपने जीवन को टिकाने क लिए मूलभूत आवश्यकताओ—आहार-पानी, वस्त्र, मकान आदि को प्राप्त करने मे सयम से चलता है, यतना के साथ सभी प्रवृत्तियाँ करता है, अहिंसा का उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित करता है। इसके लिए वह त्याग, नियम एव मौलिक मर्यादाओ को लेकर चलता है। उसका अपने देह, गेह, वस्त्रादि उपकरणो पर या समुदाय, जाति-कौम, वर्ग या प्रान्तादि पर भी मोह ममत्व नही रहता। ऐसे महाश्रमण की झाकी प्रस्तुत करते हुए एक कवि कहता है—

विश्व के कल्याण हित सर्वस्व को जो त्याग देता।
हार की माला गले में डाल, जय का दाम देता।
जो अकिचन बन स्वय ही बाँट देता मुकुट सारे।
है श्रमण वह, विश्व सारा टिक रहा जिसके सहारे ॥१॥

जो गरल पीकर हृदय में प्रेम की धारा बहाता।
शत्रु को भी ढूढ कर जो जोडता है स्नेह-नाता।
कष्टकाकुल मार्ग में पथत्राण बनकर जो उबारे ॥है श्रमण०॥२॥

जो पराश्रय से निरन्तर दूर रहना जानता है।
मित्र औ अरि आत्म को सम, जो न पर को मानता है।
जागता रहता निरन्तर, जो महाव्रत के उबारे ॥है श्रमण०॥३॥

भेद औ वैषम्य को, जिसने निरा मिथ्यात्व माना।
सब जनों सब प्राणियों में एक आत्मा को पिछाना।
विश्वमैत्री और समता के लगाता नित्य नारे॥ है श्रमण० ॥४॥

यह है सत्य और शिव के साथ सुन्दरम् से अनुप्राणित साधु जीवन।

सौन्दर्यमय गृहस्थ जीवन के मूलमन्त्र

अब जरा गृहस्थ जीवन के विषय मे भी अर्हतर्षि भयाली के विचारो को सुन लीजिए। वे कहते है—

आताणाए उ सव्वेसि गिहिबूहणतारए।
ससार वास-सताण कह मे हतुमिच्छसि ?॥१॥

दूसरा अभिभूत (पराजित) होने वाला व्यक्ति ससार मे रहे हुए गृहस्थ कह जाने वाले तारक—श्रावक से पूछता है— तुम मुझे मारना क्यो चाहते हो ?

गृहस्थ श्रावक साधुओ के जितनी उच्चकोटि की अहिंसा, सत्य आदि का पालन तो नही कर सकता, फिर भी अहिंसा आदि के विषय मे उसकी एक मर्यादा—सीमा है, उसमे रहकर वह चलता है। जैसे श्रावक के लिए स्थूल प्राणातिपात-विरमण व्रत भगवान ने बताया है। इसका मतलब है— वह द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जीवो तक की सकल्पजा हिंसा से सर्वथा विरत होता है, आरम्भजा हिंसा मे भी वह अनर्थक, अनावश्यक, एव अमर्यादित हिंसा से दूर रहेगा। पाँच प्रकार के स्थावर जीवो (एकेन्द्रिय प्राणियो) की वह अनाप शनाप या अमर्यादित हिंसा नही करेगा उसमे भी विवेक एव सयम से काम लेगा।

प्रस्तुत गाथा मे अर्हतर्षि भयाली ने गृहस्थ श्रावको के लिए 'जीओ और जीने दो' का सिद्धान्त सवाद के रूप मे अभिव्यक्त कर दिया है। किसी श्रावक ने अपनी मर्यादा का उल्लघन करके किसी अन्य गृहस्थ को दबाया-सताया, तब वह उक्त श्रावक से जबाब तलब करता है—तुम्हारी मर्यादाओ, श्रावकव्रत के दायरे का अतिक्रमण करके तुम मुझे मारना क्यो चाहते हो ? मारने का अर्थ यहाँ प्राणो से वियुक्त कर देना ही नही है, अपितु दबाना, सताना, पीडित करना, हानि पहुँचाना, हैरान, परेशान करना, दु.ख और सकट मे डालना, चोट पहुचाना, मार-पीट करना, भूखे-प्यासे मारना, श्वास बन्द करना, गुलाम बनाकर कष्ट देना, शोषण करना, सघर्ष करके किसी के विकास को रोक देना, आजीविका (रोजी-रोटी) मे अन्तराय डालना, सतप्त करना, डराना-धमकाना, धक्का-मुक्की करना, अगभंग करना इत्यादि भी है।

हिंसा के इन अर्थों पर बारीकी से ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक भी अपनी मर्यादा मे ये और इस प्रकार की सकल्पी हिंसाएँ नही कर सकता, जिनसे दूसरों का शोषण, उत्पीडन, अनिष्ट, अहित, अग-भग या विनाश हो, अथवा नुकसान हो।

आज अगर देखा जाय तो गृहस्थ समाज मे इस प्रकार की कई पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, साम्प्रदायिक, जातीय या प्रान्तीय आदि हिंसाएँ पनप रही हैं। जिन्हे देखकर रौंगटे खडे हो जाते हैं कि वर्तमान जैन समाज जो अहिंसा का दावा करता है, पानी छानकर पीता है, रात्रि मे भोजन नही करता, मांस मछली और अडो के सेवन परहेज करता है, मद्यपान नही करता, वह व्यावहारिक जीवन मे कितना नीचे उतर आया है? एक तरफ एकेन्द्रिय जीवो का रक्षण करने वाला पचेन्द्रिय जीवो और उसमे भी मनुष्यो की दया मे कितना पिछडा हुआ है। मानव-सेवा, पशु-सेवा के क्षत्र मे उसे आगे आना है।

पारिवारिक जीवन मे भी आज कई प्रकार की मानवीय हिंसाएँ पनप रही है। सगे भाइयो मे परस्पर वैमनस्य इतना बढ जाता है कि एक भाई दूसरे भाई को जान से मारने, सताने और आत्महत्या करने को विवश कर देता है। एक भाई आर्थिक दृष्टि से कमजोर है, यहाँ तक कि उसके घर मे रोटियो के भी लाले पडे हैं, फिर भी दूसरे सम्पन्न भाई को दया नही आती, वह सहानुभूति भी नही बता सकता, सहायता भी नही कर सकता, बल्कि द्वार पर आ जाये तो धक्के देकर निकाल देता है, क्या इस प्रकार का अमानवीय व्यवहार हिंसा नही है।

इसी प्रकार किसी के लडका है, वह दूसरे की लडकी से अपने लडके का रिश्ता तय करता है। उस समय लडकी वाले की हैसियत मुँहमांगा देने की नही होती, फिर भी उस पर दबाव डाला जाता है, अगर वह समय पर उतने रुपये या साधन सामग्री देने की व्यवस्था नही कर पाता तो दहेज के लोभी निर्दय लोग उस सम्बन्ध को तोड डालते हैं। अगर उस लडकी के साथ विवाह हो भी जाता है तो लडकी को बार-बार तग करते है कई दहेज लोभी दानव तो उसे जला डालते हैं, मारते-पीटते हैं, अनेक प्रकार के जुल्म ढहाते हैं, वचन बाणों से बींध डालते हैं। आए दिन समाचार पत्रो मे जैनेतर ही नही, जैन परिवारो मे भी लड़कियो को दहेज की बलि वेदी पर जला कर या गला घोट कर मार डालने के समाचार पढते हैं। इससे मालूम होता है कि जैन समाज अभी अहिंसा के सस्कारो से कितनी दूर है?

मानवता से भी कितना दूर है ? दहेज लोभी अहिंसा धर्म से कितने विमुख है ? इस विषय मे कविरत्न चन्दन मुनिजी का मार्मिक कथन देखिए—

भारत से धर्म देख लो, अब तो रवाना हो गया ।
किसको सुनाएँ भाइयो ! बहरा जमाना हो गया ।।ध्रु०।।

लडके का बाप पूछता, लडकी के साथ दोगे क्या ?
मोटर बिना तो ब्याह का, मुश्किल रचाना हो गया ।।भारत।।१।।

लडकी चाहे गुणवती, चाहे हो सीता सती ।
लडके का लालची पिता धन का दीवाना हो गया ।।भारत।।२।।

कई शोषणकर्त्ता लोग ब्याज आदि के रूप मे आर्थिक दृष्टि से विपन्न व्यक्ति को पीडित कर देते है, वे ब्याज पर ब्याज लगाकर सौ के बदले एक बिंदी और चढाकर हजार करके अपनी प्रामाणिकता, न्याय-नीति और अहिंसा-धर्म का दीवाला निकाल देते है ।

कई लोग श्रमजीवी लोगो से अधिक श्रम लेकर, बदले मे बहुत कम पारिश्रमिक देते है, कई तो बेचारे श्रमजीवी सेवको के, किसी कारणवश जरा-सी देर से आने पर, उसके या उसके परिवार के किसी व्यक्ति की बीमारी आदि होने पर जरा भी सहानुभूति नही बताते उसके वेतन मे मे काट लेते है । इसके कारण मालिक-मजदूर, स्वामी-सेवक आदि मे परस्पर स्वार्थो की टक्कर चलती है । आए दिन हडताल, बद, कार्य मे क्षति, उत्पादन मे कमी आदि अनिष्ट इसी के परिणाम हैं । दोनो ओर रोष, द्वेष, कलह आदि का दौर चलता है, जो भयकर मानसिक हिंसा का कारण है ।

श्रावक को इन और ऐसी पारिवारिक एव सामाजिक हिसाओ से दूर रहना चाहिए । ऐसे ही किसी शोषणजीवी, अर्थलोभी श्रावक से कोई पीडित एव शोषित व्यक्ति प्रश्न पूछ सकता है कि मेरा शोषण करके या मुझे पीडित करके क्यो मार रहे हो ?

अपने कुटुम्ब या जाति मे जो आर्थिक दृष्टि से विपन्न है, या घर मे केवल एक विधवा महिला है, कमाने वाला कोई नही है, फिर भी कई कौटुम्बिक जन या ज्ञातिजन उसे ज्ञाति की अमुक कुरूढि, जैसे—मृतक भोज, प्रीतिभोज आदि करने के लिए विवश एव कायल कर देते हैं । इससे वह कुटुम्ब, ज्ञाति या परिवार पनप नही पाता । अन्दर ही अन्दर ऐसे लोगो के प्रति अर्थ सकटग्रस्त व्यक्ति के अन्तर् से आह निकलती है ।

कई बार कई व्यापारी, जिनमे जैन श्रावक भी है, दूसरे की कमजोर आर्थिक-स्थिति का फायदा उठाने के लिए पहले तो किसी चीज का सौदा कर लेते हैं, फिर उस चीज का भाव गिर जाने पर जब वह घाटे की रकम समय पर चुका नही पाता, तब बडी सख्ती से, निर्दयता से उसके साथ पेश आते हैं, कई तो कुर्की लाकर उसका घर-बार तक नीलाम करा देते है। परन्तु जो सच्चा श्रावक होता है, वह ऐसे समय मे आर्थिक दृष्टि से कमजोर व्यक्ति के साथ सहानुभूति, दया और मानवता का व्यवहार किये बिना नही रह सकता।

खून नहीं पी सकता

श्रीमद् रायचन्द्रजी जैन साधक थे। वे जवाहरात का व्यवसाय करते थे। एक बार उन्होने किसी दूसरे व्यापारी के साथ जवाहरात का सौदा किया, अमुक भाव मे उसे रायचन्द्रजी को अमुक अवधि (मुद्दत) तक मे माल दे देना था। परन्तु भावो मे एकदम तेजी आ गई। श्रीमद् रायचन्द्रजी ने सोचा कि ऐसे समय मे अगर वह व्यापारी मुझे अपने सौदे के अनुसार माल देगा तो बर्बाद हो जायेगा, वह सँभल नही पायेगा, दर दर का मोहताज हो जायेगा। अत मुद्दत से कुछ दिन पहले ही वे उस व्यापारी के यहाँ गये। वह सकपकाया और कहने लगा—मैंने जो सौदा किया है, वह पक्का है, आप घबराइए नही।

परन्तु श्रीमद् रायचन्द्रजी ने कहा वह पुर्जा लाओ, जो हमारा सौदा तय होने पर लिखा गया था। उन्होने उस व्यापारी से पुर्जा लेकर तुरन्त उसे फाड डाला। व्यापारी बोला—"आपने ऐसा क्यो किया ? मैं तो इस सौदे मे घाटे की पाई-पाई चुकाने का प्रयत्न करता।"

रायचन्द्रजी ने कहा—'रायचन्द्र किसी का दूध पी सकता है, खून नही। मैं अपनी मानवता को तिलांजलि देकर ऐसा कार्य नही कर सकता। आपका और हमारा सौदा रद्द है।"

बन्धुओ ! यह है श्रावक के द्वारा होने वाली सामाजिक हिंसा मे सावधानी ! ऐसे तो अनेक प्रसग आते हैं, जिनमे श्रावक को हिंसा-अहिंसा का विवेक करना है। किसी की धरोहर या अमानत वस्तु या सम्पत्ति को हजम कर जाना, किसी के साथ मनमुटाव होने पर उसका घर जला देना, उसकी कार या किसी चीज को फूँक देना, थोडी-सी गलती पर नौकर को सख्त सजा देना, किसी पर झूठा कलक लगाकर या झूठमूठ डाइन घोषित करके उसे कायल कर देना, आदि सब हिंसा काण्ड हैं।

विवाह शादियो में कई बार इतनी रोशनी की जाती है कि उसमें सैकडो जीव आकर मर जाते हैं। दीवाली, होली आदि के दिनो मे फटाके, आतिशबाजी आदि मे हजारो जीव स्वाहा हो जाते हैं। कई बार श्रावक-श्राविका के अविवेक के कारण अनाज मे कीडे पड जाते हैं। तेल, घी आदि के बर्तन खुले रह जाने पर भी कई जीव उनमे पडकर मर जाते हैं। इस प्रकार के अविवेक के कारण हुई त्रसजीवो की हिंसा से बचा जा सकता है।

कई श्रावक रेशमी कपडे पहनते हैं, पर वे यह नही जानते कि एक मीटर रेशमी कपडे बनाने मे कितने शहतूत के कीडे उबाल कर मारे जाते हैं। इसी प्रकार मोती, हाथी दांत आदि का उपयोग करने वालो को उनको प्राप्त करने मे होने वाली हिंसा का ख्याल करना चाहिए।

कॉफ लेदर, क्रूम लेदर आदि चमडे से बनी हुई वस्तुओ का इस्तेमाल करने से पहले उसको प्राप्त करने मे कितने पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा हुई है, इसका विचार करके इन हिंसानिष्पन्न वस्तुओ का त्याग करना आव श्यक है।

आजकल बहुत-से शृ गार-प्रसाधनो मे कई त्रसजीवो की हिंसा होती है। अत इस प्रकार के हिंसानिष्पन्न शृ गार प्रसाधनो का इस्तेमाल कतई नही करना चाहिए। अपने मौज-शौक, अपनी सुख-सुविधा के लिए श्रावक वर्ग को किसी वस्तु का इस्तेमाल करने से पूव उसे मन ही मन प्रश्न करना चाहिए क्या वह जीव मुझ से प्रश्न नही कर सकता कि अपने मौज-शौक, ऐश-आराम एव सुख के लिए मुझ क्यो मारना चाहते हो ?

श्रावक को महाहिंसाजनक महारम्भ और महापरिग्रह के बचना अनिवार्य है, क्योकि ये दोनो नरक मे ले जाने वाले हैं, नाना प्रकार के दुष्कर्म बन्ध कराने वाले है।

देखो, आत्मा का सौन्दर्य कितना और क्यो विकृत है ?

अब एक दूसरे पहलू से आत्मिक सौन्दर्य का वास्तविक परिचय कराने के लिए अर्हतर्षि भयाली दार्शनिक चर्चा छेडते हुए कहते है—

संतस्स करण णत्थि, णासतो करणं भवे ।
बहुधा दिट्ठं इम सुट्ठु, णासतो भव-संकरे ॥२॥
संतमेतं इमं कम्मं, दारेणेतेणोवट्ठिय ।
णिमित्तमेत्त परो एत्थ मज्झ मे तु पुरे कडं ॥३॥

इनका भावार्थ यह है कि 'विद्यमान वस्तु कभी की नहीं जाती, और असत् वस्तु तो कभी की ही नही जाती। अथवा—विद्यमान वस्तु का करण नहीं है क्योंकि अपने करण के द्वारा ही वह कार्य रूप मे आई है, और असत् वस्तु का कोई करण नही होता। बहुधा यह भलीभाँति देखा गया है कि भवसांकर्य (ससार-परम्परा) असत् नही है, क्योंकि वह सहेतुक है, उसके पीछे कर्म वर्गणा है, जो कि भवपरम्परा का मुख्य हेतु है।

यह उपस्थित (विद्यमान) कर्म, भवपरम्परा के द्वार के रूप मे विद्यमान है। दूसरा तो केवल निमित्त-मात्र है। मेरे शुभाशुभ कर्मफल (विपाक) के लिए तो मेरे पूर्वकृत कर्म ही उत्तरदायी है।

दार्शनिक क्षेत्र मे दो सिद्धान्त प्रचलित हैं। एक है– सत्कार्यवाद और दूसरा है—असत्कार्यवाद। साख्य, योग और जैनदर्शन सत्कार्यवादी हैं। इनका कहना है कि विश्व मे विद्यमान वस्तु ही की जाती है, असत् (अविद्यमान) नही। घडा मिट्टी के रूप मे पहले से ही विद्यमान है तभी कुम्भकार के कुशल हाथ उसे मूर्त रूप देकर घडा बनाते है। यदि कुम्भकार यह दावा करे कि मैं असत् (मिट्टी की अविद्यमानता) से घडा बना दूँ तो, वह दावा व्यर्थ है। यदि वह ऐसा दावा करता है तो आकाश से घडा बना दे, परन्तु ऐसा सम्भव नही है। दूसरी ओर बौद्ध और वैशेषिक दर्शन असत्कार्यवादी है। वे कहते है– जिस समय घडा बनता है, उस समय यदि वह मिट्टी मे उपस्थित है तो दिखाई क्यो नही देता ? अत असत् की ही उत्पत्ति होती है। यदि मिट्टी मे घडा पहले से मौजूद है तो फिर कुम्भकार की या उस घडे को खरीदने का क्या आवश्यकता है। परन्तु पिछला सिद्धान्त युक्ति से खण्डित हो जाता है। असत् की कभी उत्पत्ति नही होती, और सत् कभी नष्ट नही होता। अत निष्कर्ष यह निकला कि असत् कभी किया नही जाता और सत् को भी करने की जरूरत नही, क्योंकि वह तो विद्यमान है ही। 'कृतस्य करण नास्ति'' इस न्याय से कृत का करना नही है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे अर्हतर्षि कहना चाहते हैं कि भवपरम्परा असत् नही है, वह सत् (विद्यमान है ही। साथ ही कर्म भी सत् है। इन दोनो को इस प्रकार समझना है। भवपरम्परा कार्य है, और कर्म उसका कारण है। मनुष्य विपत्ति या सकट आने पर अपने उपादानरूप आत्मा का सौन्दर्य नही देखता कि वह विविध कर्मों के कारण कितना विकृत है ? तथा उन्ही स्वकृत कर्मों के फलस्वरूप आत्मा को अनेक भवो में भटकना पड़ता है।

परन्तु अधिकांश भ्रान्त मानव आत्मा के सौन्दर्य को न देखकर केवल शरीर के सौन्दर्य को ही अपना सौन्दर्य मान लेते हैं, जिसके कारण वे शरीर

से सम्बन्धित निमित्तो – सगे-सम्बन्धियो वस्तुओ या ऋतुओ को कोसते रहते हैं। अथवा शरीर से सम्बन्धित शारीरिक सौष्ठव सौन्दर्य, वस्त्र, धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब आदि शुभनिमित्तों के देखकर गर्व करते रहते हैं। इन दोनों ही परिस्थितियो मे निमित्तो को देखने के कारण मनुष्य नाना प्रकार के कर्मबन्धन करता रहता है और वह भविष्य मे अनेक भवों तक भटकाते रहते हैं।

इसके विपरीत जो सम्यग्दृष्टि मानव आत्मा के सौन्दर्य को देखता है। वह आत्मा को शाश्वत, नित्य, अविनाशी तथा स्वकृत कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता और क्षयकर्त्ता मानता है।

बन्धुओ !

शरीर से सम्बन्धित शुभाशुभ निमित्तो को देखने की आज होड लग रही है, परन्तु आत्मा पर लगे हुए दाग—कर्मो के मैल को देखने और उनको मिटाने की ओर बहुत ही कम ध्यान है। कर्मों के कारण जो आत्मा की कुरूपता क्षण-क्षण मे बढ रही है, इसका विचार करने वाले ही वास्तव मे आत्मिक सौन्दर्य के द्रष्टा है। वे ही आत्मिक सौन्दर्य को नष्ट करने के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले नाना दु खो के लिए स्वकृत कर्मों को ही उत्तरदायी मानने हैं। आत्मा की वास्तविक सुन्दरता सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र एव तप मे है। ज्ञानादि-सम्पन्न आत्मा विपत्ति के दु खद क्षणो मे निमित्तो पर रोष-द्वेष नही करती और न ही विषय सुख सम्पन्नता के क्षणो मे निमित्तो पर राग या मोह करती है। वह आत्म सौन्दर्य का ज्ञाता-द्रष्टा मानव जानता है कि दु ख और सुख स्वकृतकर्मों का ही फल है। अत आत्मिक सौन्दर्य बढाना हो तो मुझे इन कर्मो को क्षय करने के लिए कृत-निश्चयी होना चाहिए।

आत्म-सौन्दर्यनाशक कर्म का क्षय कैसे और किस प्रकार ?

यदि आत्मिक सौन्दर्य को नष्ट या फीका करने वाले कर्मों तथा उनके फलस्वरूप होने वाली भवपरम्परा को समाप्त करना हो तो क्या करना चाहिए ? इसके लिए अर्हतर्षि भयाली कहते हैं—

मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलघाते हत फल।
फलत्थी सिचति मूल, फलघाती ण सिचती ॥४॥
लुप्पती जस्स ज अत्थि, णासत किंचि लुप्पती।
ससाती लुप्पती किंचि, णासत किंचि लुप्पती ॥५॥

अर्थात्—'मूल को सींचने से फल की उत्पत्ति होती है। मूल को नष्ट कर दिये जाने पर फल नष्ट हो जाता है। फलार्थी मूल का सिंचन करता रहता है, जबकि फल को नष्ट करने वाला उसका सिंचन नही करता।'

जिसका जो कर्म (उदयरूप मे सत्—विद्यमान) है, वही लुप्त हो सकता है, किन्तु असत् (वर्तमान मे उदयरूप मे अविद्यमान) का लोप नहीं हो सकता। विद्यमान (सत्) मे किंचित् लोप हो सकता है, किन्तु असत् (अविद्यमान) मे से किंचित् भी लोप नही हो सकता।'

वास्तव मे भवपरम्परारूप फल की प्राप्ति उसके कर्मरूप मूल को सीचने से होती है। अगर भव परम्परारूप फल को समाप्त करना हो तो उसके कर्म रूप मूल को नष्ट करना चाहिए। जो भवाभिनन्दी होता है, भव-भ्रमण करने मे ही जो अपने आपको सुखी मानता है, वह फलार्थी आलस्य-वश या प्रमाद के वश भवभ्रमण को समाप्त करने का पुरुषार्थ नही करता। किन्तु जो भवभीरू होता है, भवभ्रमण से जिसे विरक्ति हो चुकी है वह चार बातो पर अपना लक्ष्य केन्द्रित करता है।

(१) भव-स्वरूप का चिन्तन, (२) कर्म-विपाक का विचार, (३) आत्मा के शुद्धस्वरूप और उस की अनन्तशक्ति का भान, और (४) वीतराग परमात्मा की आज्ञा के प्रति बहुमान।

यह चारो बाते हृदय मे जम या रम गई तो समझ लो भववैराग्य पक्का हो गया। भववैराग्य परिपक्व होते ही भवपरम्परा को समाप्त करने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है, अर्थात्—स्वकृतकर्मों को निर्जरा द्वारा क्षय करने तथा नये आते हुए कर्मो को सवर द्वारा रोकने का पुरुषार्थ शुरू हो जाता है।

परन्तु अर्हतर्षि भयाली कहते हैं, कि आत्मा पहले के स्वकृत सभी कर्मो का क्षय एक साथ करना चाहे तो वह तभी कर सकता है, यदि वे कर्म उदयावलिका मे प्रविष्ट हो, अर्थात्—वर्तमान मे जो कर्म उदय मे आ गये हो। परन्तु कर्म सिद्धान्तानुसार उदय मे आये हुए सभी कर्मों का क्षय, वही आत्मा कर सकता है, जो उदित कर्मों को शान्त भाव से भोगता है। जो आत्मा कर्मोदय के फलो मे अशान्त हो उठता है, वह उदित कर्मों का भी सर्वथा क्षय नही कर पाता। यद्यपि उदय मे आए हुए कर्मों को उसे बरबस भोगना पडता है, उससे अकाम निर्जरावश कर्म क्षय तो होते हैं, किन्तु साथ ही अशान्तभाव से हाय-हाय करके, या प्रशसा या गर्व से रागभावपूर्वक भोगने से और नये कर्मों का बन्ध हो जाता है, जो कि पूर्व कर्मों के अनुपात मे कई गुना अधिक होते है। अत उदय में आए हुए कर्मों को शान्तभाव से भोगने से पुराने कर्म क्षय हो जाते हैं और नये कर्म नही बंधते।

सारांश यह है कि कर्मों का क्षय दो प्रकार से होता है—(१) विपाकोदय से और (२) उदीरणा से। कर्म जब सहज रूप मे विपाककाल समाप्त होने पर उदय मे आकर क्षय हो जाता है, उसे विपाकोदय कहते हैं। किन्तु देर से उदय में आने वाले कर्मों को आत्मा जिस प्रक्रिया द्वारा शीघ्र उदय मे ले आता है, उसे उदीरणा कहते हैं। उदीरणा के भी दो रूप हैं। पहला रूप है—शान्त उदीरणा और दूसरा रूप है – अशान्त उदीरणा। शान्त उदीरणा में आत्मा कर्मों का क्षय करता है। जबकि अशान्त उदीरणा मे वह कर्मों का अधिक बन्ध कर लेता है।

दान कर्मक्षय का साधन, कब और कब नहीं?

आत्मा के सौन्दर्य को नष्ट या मन्द करने वाले कर्मों को क्षय करने मे 'दान' भी एक महत्त्वपूर्ण साधन है। किन्तु दान देते समय मनुष्य की भावना और विवेकदृष्टि पर ही विशेष दारोमदार है। इसी दृष्टि से अर्हतर्षि भयाली इस अन्तिम गाथा मे दान देने वालो की भावनाओ के प्रकार बताते हुए कहते है—

'अत्थि मे' तेण देति, 'नत्थि मे' तेण देइ मे।
जइ से होज्ज, ण मे देज्जा, णत्थि से तेण देइ मे ॥६॥

अर्थात्—एक व्यक्ति मेरे पास कुछ है इसलिए कुछ देता है, दूसरा व्यक्ति—'मेरे पास नही है' ऐसा जानकर भी कुछ न कुछ दे देता है। तीसरा व्यक्ति ऐसा है, जिसके पास कुछ है, फिर भी देने से इन्कार करता है, चौथा व्यक्ति कहता है—'मेरा तो कुछ भी नहीं है,' इस प्रकार वस्तु पर अपना अधिकार नही मान कर देता है।

वस्तुतः यहाँ दान के पीछे चार प्रकार की वृत्तियो का उल्लेख परोक्षरूप से किया गया है—

(१) एक व्यक्ति के पास देने को बहुत है, परन्तु वह देता है—पद, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि या हजार देकर दस हजार गुना सम्मान पाने की आशा से। यह दान नही, एक प्रकार की सौदेबाजी है, विज्ञापनवृत्ति है जो दान की पवित्रता को समाप्त करती है।

(२) दूसरा व्यक्ति कुछ नही है, यह कहकर देता है, किन्तु देता है—स्वर्गप्राप्ति के लोभ से। उसकी धारणा यह है कि जो कुछ यहाँ दिया जाएगा उसका हजार गुना होकर स्वर्ग में मिलेगा।

(३) तीसरा व्यक्ति कुछ इसलिए देता है कि समाज में फैली हुई विषमता नष्ट हो।

(४) चौथे व्यक्ति की धारणा यह है कि 'सम्पत्ति मेरी थी ही कब ? ससार मे आया जब कुछ नही था, जाऊँगा तब कुछ भी साथ नही आएगा, फिर मैं अपना अधिकार क्यो मानू ! तेरा तुझको देने मे मेरा लगता ही क्या है ?'

इन चारो मे पहले दो लोभी हैं—एक है कीर्ति का और दूसरा है स्वर्ग का। तीसरा भी देता है, पर सम्पत्ति पर अपना स्वामित्व या अधिकार नही छोडता, किन्तु चौथा सम्पत्ति पर अपना अधिकार भी नही मानता।

बन्धुओ ! कर्मक्षय करने के लिए दान के पीछे चौथी वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए। भाग्य से आपके पास जो कुछ है, उस पर भी ममत्व मत रखिए, और दान देना है तो यह सोचकर दीजिए—मेरा तो इसमे कुछ भी नही है, जो है वह समाज का है।

"तेरा तुझको सौंपते क्या जायेगा मेरा।"

समाज का धन, राष्ट्र की सपत्ति यदि उसी को सौप रहा हू तो इसमे मेरा क्या महत्व है ? इतनी उदार और निष्काम वृत्ति से देना ही वास्तविक दान है।

इस प्रकार कर्मक्षय कर लेने पर भवपरम्परा समाप्त होगी। आत्मा के स्वाभाविक गुण प्रकट होगे, जिनसे उसका सौन्दर्य चमक उठेगा।

□

१७

शुद्ध-अशुद्ध क्रिया का मापदण्ड

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

आज मैं ऐसे पवित्र और प्रामाणिक जीवन के विषय मे चर्चा करूगा, जिसमे शुभ क्रिया के साथ शुभ निष्ठा होनी अनिवार्य है।

साधना या धर्मक्रिया के पीछे शुभनिष्ठा हो

कई लोग कहा करते हैं, हमे कार्य सिद्ध करने से मतलब है, उस कार्य के पीछे चाहे हमारे विचार कैसे भी हो। परन्तु जैनदर्शन इस बात से स्पष्ट इन्कार करता है कि आपका साध्य—कार्य तो शुभ हो, किन्तु उसके पीछे विचार भले ही अशुभ हो। सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, तप, जप, भक्ति, नियम, त्याग-प्रत्याख्यान, व्रताचरण आदि किसी भी साधना के पीछे यदि निष्ठा या विचार शुभ नही है, तो भगवान् ने उस साधना को यथार्थ नही माना है। उदाहरण के तौर पर—सामायिक को ही ले लीजिए। आप जब सामायिक करते हैं, तब आपको द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव शुद्धि का विचार करना अनिवार्य है। साथ ही सामायिक के ३२ दोषो से (१० मन के, १० वचन के और १२ काया के दोषो से) बचना भी अनिवार्य बताया है। सामायिक व्रत के पाच अतिचारो (दोषो) मे भी आता है—

'सामाइयस्स सइ - अकरणयाए।
सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणयाए ।।

अर्थात्—'मैंने सामायिक ठीक ढग से स्मृति रखकर न की हो। सामायिक अव्यवस्थित चित्त से की हो।'

इसी प्रकार पौषधव्रत की साधना के विषय मे सावधान किया गया है—

पोसहस्स सम्म अणणुपालणया।

पौषधव्रत का सम्यक् रूप से पालन न किया हो।

इसी प्रकार तपश्चर्या के सम्बन्ध मे भी दशवैकालिकसूत्र मे स्पष्ट कहा गया है —

न इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
न परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा॥
न कित्ति-वण्ण-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा॥

इहलौकिक फलाकाक्षावश तपश्चर्या न करे। न ही पारलौकिक फलाकाक्षापूर्वक तप करे और न कीर्ति, प्रशसा, प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि आदि की दृष्टि से तप करे, किन्तु एकान्त निर्जरा (कर्मक्षय करके आत्मशुद्धि) के लिए ही तपश्चर्या करे।

जो बात तपस्या के लिए कही गई है, वही बात ज्ञानाचार आदि पाच प्रकार के आचार (धर्माचरण) के लिए कही गई है।

'नन्नत्थ आरहतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा'

आचार का पालन भी एकमात्र अर्हतरूप (वीतरागता) की प्राप्ति के उद्देश्य मे करना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि क्या साधु की और क्या श्रावक सभी की साधनाओ या अनुष्ठानो के पीछे उद्देश्य, विचार, निष्ठा, दृष्टि या श्रद्धा का शुद्ध होना आवश्यक है।

नन्दीसूत्र मे जहाँ, मिथ्याश्रुत और सम्यक्श्रुत के कतिपय नामो का उल्लेख किया है, वहाँ बताया गया है कि जैसी दृष्टि होगी, तदनुसार वह श्रुत (शास्त्र) भी उसके लिए वैसा ही माना जाएगा। जैसे कि वहाँ मिथ्या-श्रुत की परिगणना के बाद कहा गया है—

एयाइ चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्त परिग्गहियाइ सम्मसुय।

ये ही मिथ्याश्रुत (जिनके नाम ऊपर गिना आए है) सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक्रूप मे ग्रहण करने के कारण सम्यक्श्रुत है। साथ ही वहाँ आचाराग आदि सम्यक्श्रुतो की परिगणना के बाद कहा गया है—

एआइ मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइ मिच्छासुय

ये ही (आचाराग, भगवती आदि सम्यक्श्रुत) मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्या (विपरीत) रूप में ग्रहण करने के कारण मिथ्याश्रुत हैं।

इसी दृष्टि से इस चौदहवे अध्ययन मे बाहुक अर्हतर्षि ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

जुत्त अजुत्त जोग ण पमाणमिति बाहुकेण अरहता इसिणा बुइतं ।

'युक्त (यथार्थ) बात भी अयुक्त योग (मन, वचन और काया) के साथ है तो वह प्रमाणरूप नही है, इस प्रकार श्री बाहुक अर्हतर्षि ने कहा ।'

वस्तुत प्रत्येक साधना के पीछे निष्ठा, दृष्टि, उद्देश्य, विचार या श्रद्धा अथवा वर्तमान युग की भाषा मे कहे तो इरादे (Intention) का महत्त्व है, केवल क्रिया का नही ।

क्रिया कब शुद्ध कब अशुद्ध ?

कोई क्रिया शुभ है, किन्तु उसके पीछे अशुभ निष्ठा काम कर रही है तो वह क्रिया अपवित्र हो जाएगी । एक वैद्य है, वह किसी रुग्ण बहन का हाथ नब्ज देखने के लिए पकडता है, एक गुण्डा भी किसी स्त्री का हाथ कामवासना मे प्रेरित होकर पकडता है । इन दोनो की क्रिया दीखने मे समान है, किन्तु भाव या दृष्टि मे बहुत बडा अन्तर है । इसीलिए दोनो के परिणाम (फल) मे अन्तर है ।

बिल्ली उन्ही दातो से अपने बच्चे को पकडती है और उन्ही दातो से एक चूहे को पकडती है, परन्तु पकडने की क्रिया एक होते हुए भी दोनो के पीछे भावो मे अन्तर है । अपने बच्चे को वह वात्सल्यपूर्वक पकडती है जबकि चूहे को जब पकडती है, तब वह अपने दात तीखे काटे की तरह गडा देती है ।

एक कैदी जेल में भूखा रहता है, क्योंकि उसे बरबस भूखा रखा गया है, जबकि एक तपस्वी स्वेच्छा से उपवास करके भूखा रहता है । भूखे रहने की क्रिया मे समानता होने पर भी दोनो के भावो मे अन्तर होने से फल मे अन्तर हो जाता है । एक डॉक्टर भी ऑपरेशन करते समय छुरी से रोगी के अग की चीर-फाड करता है और एक हत्यारा भी किसी किसी के अग मे छुरी घुसेडकर उस अग को चीर या फाड डालता है । छुरी अग मे घुसेड कर उसे चीरने-फाडने की क्रिया एक सरीखी होते हुए भी दोनो के दृष्टिकोण मे अन्तर होने से दोनो के फल मे रात-दिन का अन्तर है ।

मान लो, तीन बहने रसोई बनाने की क्रिया कर रही हैं । एक बहन चाहती है कि मैं ऐसी रसोई बनाऊँ जिससे घर के तथा पडौसी मुझे चतुर और सुघड नारी कहे, मेरी प्रशसा करे । इस बहन का प्रशसा-प्राप्ति का दृष्टिकोण है ।

दूसरी बहन रसोई बनाती है—बेगार समझकर। उस पर रसोई बनाने का काम आ पड़ा। इसलिए जैसी-तैसी रसोई बनाकर छुट्टी पाना चाहती है। इस बहन का दृष्टिकोण रसोई की क्रिया को बोझरूप समझकर करने का है।

तीसरी बहन रसोई इस दृष्टिकोण से बनाती है कि इस भोजन को पाकर मेरे समस्त कुटुम्बीजन स्वस्थ और सशक्त रहे, साथ ही इस भोजन मे से अतिथि, अभ्यागत एव साधु-साध्वी को भी देने का लाभ प्राप्त हो।

रसोई की क्रिया तीनो बहनो की एक होते हुए भी तीनो के दृष्टिकोण मे स्पष्ट अन्तर होने मे इनके फल मे भी अन्तर आना स्पष्ट है। पहली दो बहनो की रसोई की क्रिया की अपेक्षा तीसरी बहन की रसोई बनाने की क्रिया मे आरम्भ होते हुए भी पुण्यलाभ या धर्मलाभ का पलड़ा भारी है।

निष्कर्ष यह है कि क्रिया शुद्ध होने पर भी अगर उसके पीछे विचार-धारा अशुद्ध है तो सारी क्रिया अशुद्ध हो जाएगी।

त्याग और प्रत्याख्यान की क्रिया शुद्ध होते हुए भी अगर उस त्याग या प्रत्याख्यान के पीछे अशुद्ध उद्देश्य है तो वह त्याग दुस्त्याग और वह प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान समझा जाता है। भगवान् महावीर ने गौतम गण-धर से इस विषय मे स्पष्ट कहा है। भगवतीसूत्र इस बात का साक्षी है। उदाहरण के रूप मे एक व्यक्ति क्रोध के आवेश मे या गृहकलह मे तग आकर आमरण आहार का प्रत्याख्यान करने को तत्पर होता है। दूसरा साधक शरीर से धर्मपालन करने मे बिल्कुल अशक्त, दुर्बल और असमर्थ होने पर समाधिभाव से स्वेच्छा से आजीवन आहार का प्रत्याख्यान करने को तत्पर होता है। भगवान् कहते है कि पहले व्यक्ति का प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है और दूसरे व्यक्ति का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है।

पक्षियो को दाना डालना करुणा-प्रेरित कार्य माना जाता है। एक बहेलिया (शिकारी) भी दाने बिखेरता है, किन्तु उसके पीछे उसकी भावना अशुद्ध है, पक्षियो को जाल मे फसाने की है। अत अन्नदान की शुभ क्रिया भी पुण्यजनक न होकर पापजनक (पापकर्म-बन्धक) हो जाती है।

इस बात को दृष्टिगत रखकर अर्हतर्षि बाहुक कहते हैं शुद्ध (युक्त) क्रिया भी अनुचित भाव के साथ है, तो वह यथार्थ एव प्रामाणिक नही है।

क्रिया एक स्थितिभेदवश परिणाम अनेक

इसी बात को दूसरे पहलू से अर्हतर्षि बाहुक कहते हैं—

अप्पाणिया खलु भो अप्पाण समुक्कसिया ण भवति बद्धचिंधे णरवती।
अप्पणिया खलु भो य अप्पाण समुक्कसिय भवति बद्धचिंधे सेट्ठी।

अर्थात्– अपने आपको स्वय द्वारा कसकर राजा बद्धचिह्न (फटा हुआ अथवा बन्द लगा हुआ वस्त्र) नही कहलाता, जबकि एक सेठ अपने आपको स्वय द्वारा कसने पर बद्धचिन्ह कहलाता है।

इसका आशय यह है कि एक सम्राट् यदि फटा हुआ वस्त्र पहनता है, तो भी फटेहाल नही कहलाता, बल्कि इस कार्य के लिए उसकी सादगी का बखान और आदर किया जाता है, जबकि एक सामान्य गृहस्थ फटा हुआ वस्त्र पहने तो वह फटेहाल कहा जाता है। दूसरी ओर, एक लक्षाधिपति यदि अधिक बोलता है तो वह वाचाल नही, किन्तु सम्भाषण मे उदार समझा जाता है, जबकि एक निर्धन किसी उचित बात को भी स्पष्ट करने के लिए अधिक बोलता है तो वाचाल या बातूनी समझा जाता है। वस्तुत क्रिया एक होने पर भी परिस्थिति-भेद या पात्रभेद के कारण उसके परिणाम मे अथवा लोकबोध मे अन्तर आ जाता है। दूसरे शब्दो मे कहे तो—एक व्यक्ति एक कार्य करता है, तो उसका परिणाम ठीक आता है, जबकि दूसरा व्यक्ति वही काम करता है तो उसका परिणाम विपरीत आता है। जैसे कि लोक मे एक कहावत है—

गृहस्थ के पास पैसा न हो तो वह कौडी का है,
साधु के पास पैसा हो तो वह भी कौडी का है।

यहाँ पात्रभेद से क्रिया का परिणाम विपरीत है। एक क्षत्रिय योद्धा है, उसके हाथ मे शस्त्र हो तो वह वीर समझा जाता है, जबकि वे ही शस्त्र साधु के हाथ मे हो तो वह कायर और असाधु समझा जाता है। इसी प्रकार किसी योग्य व्यक्ति के पास उसके लिए उपयुक्त चिह्न या आभूषण न हो तो भी वह योग्य समझा जाता है, जबकि किसी अयोग्य को वे ही चिह्न या आभूषण पहना दिए जाएँ तो वह योग्य नही समझा जाता है। जैसे– एक राजा राजचिन्हो से युक्त न हो तो भी पहचानने वाले उसे राजा ही कहते– समझते हैं, जबकि राजा के नौकर को राजा का वेश पहना कर राजचिन्ह धारण करा दिये जाएँ तो भी लोग उसे राजा नही समझते। एक सेठ, भले ही सर्वमान्य हो, परन्तु वह अपने वेश मे ही उचित है, अगर उसे राजा या फकीर का वेश पहना दिया जाए तो वह राजा या फकीर नही माना जा सकता। अत सेठ को स्ववेश मे ही अपने आपको श्रेष्ठ सिद्ध करने की आवश्यकता है।

सौराष्ट्र के एक कस्बे में देवचन्द भाई नाम का एक व्यापारी रहता था। वह उस कस्बे का महाजन (सेठ) कहलाता था। उस कस्बे के सभी लोगो का वह माननीय और आदरणीय व्यक्ति था। आधी रात को भी किसी पर कोई सकट आता या पैसे की या किसी आवश्यक वस्तु की जरूरत होती तो देवचन्दभाई उसे मदद करता था। देवचन्दभाई महाजन पद की बहुत बडी जिम्मेवारी समझता था।

एक बार उस गाँव के बाहर एक कुँए से पानी भरने के लिए एक हरिजन महिला गई। पानी भरते समय अकस्मात् उसका पैर फिसल गया और वह कुँए मे गिर गई। कुँए पर कुछ युवक खडे थे, वे तैराक भी थे। कुछ लोगो ने उनसे कहा भी कि 'यह बाई कुँए मे गिर पडी है, तुम तैर सकते हो, तो इसमे कूद कर इसे बाहर निकाल दो न!' परन्तु वहाँ खडे हुए सभी युवको ने नाक-भौ सिकोडते हुए कहा —'हे हें! हम कैसे निकाले इस महिला को? यह अछूत है, इसे छूने से हमारा धर्म भ्रष्ट हो जायेगा। हम इस कार्य को नही कर सकते।' इतने मे किसी ने उस हरिजन महिला के पति को खबर दी कि तुम्हारी पत्नी कुए मे गिर गई है। वह बेचारा दौडा-दौडा आया। उसे तैरना नही आता था। इसलिए उसने कुँए पर खडे उन युवको से कहा तो उन्होने इन्कार के रूप मे वही उत्तर दिया। तब उस हरिजन महिला का पति घबराया हुआ-सा भागा-भागा देवचन्दभाई महाजन के पास गया और गिडगिडा कर कहने लगा —'देवाभा! मेरी पत्नी कुँए मे गिर गई है। किसी तरह आप उसे निकाल द, बडी कृपा होगी।'

देवचन्दभाई के सामने अपने महाजन-पद की जिम्मेवारी का तथा मानवता का प्रश्न था। इसलिए उन्होने इन्कार न करके तुरन्त आश्वासन देते हुए हरिजन से कहा—"घबरा मत। मैं तुरन्त आता हूँ।" सेठ जिन कपडो मे था, उन्ही साधारण कपडो मे कुँए पर आया। साथ मे एक बडा मजबूत रस्सा ले आया। पहले तो सेठ ने अपनी कमर के चारो ओर रस्सा बाँधा और फिर उसका सिरा मजबूती से थामने को अपने कुछ लोगो से कहा। सेठ जब कुए मे उतरने को तैयार हुआ तो वहाँ जो युवक पहले उपेक्षा करके खडे थे, उनके हृदय मे राम जागा। उन्होने महाजन को कुँए मे उतरने से इन्कार करते हुए कहा—'सेठजी, रहने दीजिए। हम तुरन्त उस बाई को बाहर निकाल कर ले आते हैं।' एक साथ तीन-चार युवक कुए मे कूदे और बहुत फुर्ती से उस बाई को कुए से बाहर निकाल लाये। वह काफी पानी पी गई थी, इसलिए उसके शरीर से पानी निकाल कर

होश मे लाए। सेठ ने कुछ आवश्यक दवाइयाँ दी, जिससे वह थोडी ही देर में स्वस्थ हो गई। सभी लोगो के चेहरे प्रसन्नता से खिल उठे। वह हरिजन पति तो देवचन्दभाई का बहुत आभार मान कर उसके चरणो मे गिर पडा। इतने मे कुछ सभ्रान्त व्यक्ति भी वहा आ गये। उन्होने देवचन्दभाई की कर्त्तव्यपरायणता और मानवता की प्रशसा करते हुए पूछा—"सेठ ! आप स्वय तैरना तो जानते नही थे, फिर इस कुए मे कूदकर बाई को कैसे बचाते ?"

देवचन्दभाई ने बहुत ही नम्र शब्दो में उत्तर दिया— भाइयो ! यद्यपि मैं तैरना नही जानता था, परन्तु अपने महाजन पद के अनुरूप एक सकट-ग्रस्त व्यक्ति का सकट दूर करना मेरा उत्तरदायित्व एव मानवता के नाते कर्त्तव्य हो जाता है। मैं बारहो महीने महाजन की मोटी पगडी बाँधे फिरू, इसमे मेरे पद की सार्थकता क्या है ? अतएव मैने तैरना न जानते हुए भी अपनी कमर से बडा रस्सा बाँधकर बाई को बाहर निकालने का बीडा उठा लिया था। इन युवको ने मुझे रोक दिया। वरना मैं तो अपने कर्त्तव्य का पूर्णतया पालन करता। फिर भी मुझे सन्तोष है, अपने पद के दायित्व को निभाने का।

यह है— वेश और पद के अनुरूप कर्त्तव्य-पालन करके अपनी उत्कृष्टता सिद्ध करने का ज्वलन्त उदाहरण ! देवचन्द सेठ के सिर पर उस समय पगडी या अन्य वेष नही था, फिर भी वे अपने दायित्व एव कर्त्तव्य का पालन करने के कारण लोगो के और अधिक सम्माननीय एव आदरणीय बन गये।

स्थानविशेष के कारण योग्य क्रिया भी अयोग्य

कभी-कभी ऐसा देखा भी जाता है कि जो क्रिया एक स्थान मे योग्य रहती है, वही क्रिया किसी अन्य स्थान पर अयोग्य भी हो जाती है। जैसे—एक जैन श्रावक है। वह सुबह-सुबह ग्वाले के यहाँ से लोटे मे दूध लेकर आ रहा है। तभी वहाँ के नामी कलवार (मद्य विक्रेता) ने उक्त श्रावक को आवश्यक परामर्श के लिए दूकान पर बिठा लिया। सेठ ने कहा—'मुझे धारोष्ण दूध पीना है। देर हो जाने से दूध खराब हो जायेगा। मै यही अभी दूध पी लेता हू, फिर तुमसे बात करूँगा।" यो कहकर उक्त श्रावक ने वही दूध पी लिया। जिस समय श्रावक दूध पी रहा था, उस समय उसके कुछ परिचित श्रावको ने उसे देख लिया। कलवार के यहाँ बैठकर दूध पीने के कारण भी लोगो के मन मे शका बैठ गई कि यह श्रावक शराब पीता है। अभी-अभी हमने देखा है। लोग श्रावक की निन्दा और भर्त्सना करने लगे।

श्रावक के द्वारा स्पष्टीकरण करने पर भी लोगो के दिमाग से वह बात निकली नही। इसीलिए अर्हतर्षि बाहुक ने कहा - युक्त क्रिया भी अयोग्य स्थान मे होती है तो वह यथार्थ प्रमाणभूत नही मानी जाती।

साधना कब पवित्र · कब अपवित्र

अब एक अन्य पहलू से इसी तथ्य (अनुयोग) को समझाते हुए कहते है—

' **भो समणा माहणा ! गामे अदुवा रण्णे, अदुवा गामेणोऽवि रण्णे, अभिणिस्सिए इम लोग, परलोग पणिस्सए, दुहओ वि लोगे अपतिट्ठते।**"

अर्थात् ग्राम मे या अरण्य मे अथवा ग्राम और अरण्य के मध्य में रहते हुए श्रमण और ब्राह्मण इस लोक के लिए अभिनिसृत हैं और परलोक मे प्रनिसृत हैं, तो वे दोनो लोको मे अप्रतिष्ठित होते हैं, (क्योकि दोनो ही लोक अशाश्वत हैं।)

इसका भावार्थ यह है कि श्रमण और ब्राह्मण कभी गाँव मे रहते है, तो कभी वन मे जाकर साधना करते हैं और कभी इच्छा हुई तो गाँव और वन के बीच मे भी साधना करते है। साधक कही भी रहे, उसका लक्ष्य साध्य मे रहना चाहिए। साध्य मे लक्ष्य रखेगा, तो वह स्वय (साधक) भी शुद्ध होगा, साधन भी शुद्ध होगा, तभी वह साधना (क्रिया) लक्ष्यमुखी एव शुद्ध (पवित्र) रहेगी। अगर साधक इहलोक सम्बन्धी या परलोक सम्बन्धी नामना कामनाओ या वासनाओ के आश्रित होकर साधना करता है तो साधना पवित्र होते हुए भी अशाश्वत उभयलौकिक भौतिक कामनाओ—भोगवाछाओ से दूषित एव अपवित्र हो जाती है, अतएव उसका परिणाम भी अच्छा और आत्ममुक्तिपरक नही आता। साधक की वह पवित्र साधना भी कामनामूलक दूषित साधन के कारण अशुद्ध, निरुद्देश्य और लक्ष्यभ्रष्ट हो जाती है।

भगवान् महावीर ने भी दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—

न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा।
न परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा।
न कित्तिवण्ण सद्द सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा।
नन्नत्थ आरहतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा॥

"कोई भी साधक इहलौकिक कामनावश होकर आचार-पालन न करे, न ही वह परलोक की वासना को लक्ष्य मे रखकर आचार-पालन करे,

और न कीर्ति, प्रशसा, प्रसिद्धि या प्रशस्ति आदि कामनाओ के वश आचार-पालन करे, किन्तु आर्हता (वीतरागता)—प्राप्ति के उद्देश्य से ही आचार-पालन करे।"

अकाम और निष्काम साधना से फल मे अन्तर

नामना-कामनायुक्त योग युक्तयोगियो का अयुक्तयोग है। इस तथ्य को अर्हतर्षि बाहुक अपने ही उदाहरण द्वारा सिद्ध करते है—

"अकामए बाहुए मतेति अकामए चरए तव अकामए कालगए नरय पत्ते। अकामए पव्वइए, अकामते चरते तव, अकामते कालगते सिद्धि पत्ते अकामए।"

अर्थात्—पहले कामनारहित (अकामक) बाहुक ने अकाम तप किया। अकाम-मरण से मर कर पूर्व कर्मवश) नरक मे गया। (वहाँ का आयुष्य पूण करके मनुष्य लोक मे जन्म लेकर) निष्काम (अकाम) दीक्षा ग्रहण की। फिर निष्काम तपश्चरण किया। इस प्रकार सर्वत्र निष्काम साधना करके कालधर्म प्राप्त होने पर (जन्मजरामृत्युरहित) निष्काम सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करेगा।

शब्द एक भावनाभेद से अर्थ मे अन्तर

प्रस्तुत अर्हतर्षि बाहुक के आत्म कथन मे 'अकाम' साधना शब्द एक ही है, किन्तु उसी को एक स्थान पर नरक-प्राप्ति का हेतु बताया गया है, दूसरे स्थान पर उसी अकाम-साधना को मुक्ति का कारण बतलाया गया है। इस अन्तर के पीछे मुख्य कारण है—भावना, दृष्टि अथवा उद्देश्य का अन्तर।

जिस आत्मा को विवेक-दृष्टि प्राप्त नही हुई है, जिसे अपने साध्य का बोध नही ह, जहाँ आत्मा अन्त प्रेरणा के बिना किसी बाहरी दबाव-विशेष से प्रेरित होकर निरुद्देश्य तप आदि साधना करता है, उसे जैन परिभाषा मे 'अकाम निर्जरा' कहा गया है। ऐसी अकाम साधना आत्मा को लक्ष्य पर नही पहुचा सकती। जैसे कि भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन मे कहा था।

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोपमा।
कामेव पत्थमाणा, अकामा जति दोग्गइ॥

काम भोग शल्य हैं, ये विष हैं तथा आशीविष सर्प के समान हैं। जो काम भोगो की अभिलाषा करते हैं, वे अकाम-मृत्यु से मर कर दुर्गति मे जाते है।

लक्ष्यहीन साधना, अकाम-निर्जरा की हेतु है वह कभी नरक का हेतु भी हो सकती है। 'अकाम' का दूसरा अर्थ होता है—निष्काम = कामना रहित, फलासक्तिरहित निष्काम साधना। जिसमे न इहलौकिक कामना-वासना हो और न पारलौकिक कामना-वासना हो। अथवा जिस साधना के पीछे न तो स्वर्ग के रंगीन सुख की कामना हो और न ही नरक की आग मे बचने की आकाक्षा हो। ऐसा निष्काम तपश्चरण मोक्ष का हेतु होता है। अकाम का पहला रूप जैन-परम्परा मे अधिक प्रचलित है, जबकि दूसरा रूप भगवद् गीता मे निष्काम कर्मयोग के रूप मे प्रचलित है।

सकाम शब्द भी दो अर्थों में

जैन दृष्टि मे निष्काम के बदले सकाम शब्द अधिक व्यवहृत हुआ है। अत अर्हतर्षि बाहुक 'सकाम' साधना का माहात्म्य और द्विविध परिणाम बताते हुए कहते है

"सकामए पव्वइए सकामए चरते तव, सकामए कालगते णरग पत्ते। सकामए चरते तव, सकामए कालगते सिद्धि पत्ते सकामए।"

जो साधक कामनाओ के साथ प्रव्रजित हुआ है, और कामनायुक्त तपश्चरण करता है, वह सकाम– कामनायुक्त मृत्यु प्राप्त करके नरक को जाता है। दूसरी ओर, सकाम (स्वकाम—स्वेच्छा से) तपश्चरण करता है, सकाम (इच्छित अन्तिम समाधि) मरण प्राप्त करके आत्मा सकामक (अभीष्ट) सिद्धि स्थिति को प्राप्त करता है।

'अकाम' शब्द की तरह 'सकाम' शब्द का भी दो अर्थों मे प्रयोग किया गया है। पहले प्रयुक्त 'सकाम' का भावार्थ है—जिस साधक के मन मे विविध इहलौकिक-पारलौकिक कामनाओ का जाल बिछा हुआ है। उन्ही कामनाओ और सुखभोग की सामग्री को सहस्रगुणित रूप मे पाने के लिए जो साधना करता है, उसकी वह वासना की ज्वाला कभी नरक की ज्वाला के रूप मे भी परिणत हो सकती है।

सकाम तप का दूसरा अर्थ है—स्वेच्छा से, सदुद्देश्य से, लक्ष्य प्राप्ति के लिए किया गया तप, जिसमे बाहरी दबाव, नरक का भय या स्वर्ग का प्रलोभन आदि न हो। परिस्थिति से या पराधीनता से विवश होकर भूखा

रहना सकाम तप नही, जैन दृष्टि से अकाम तप है। किन्तु जिस तप आदि साधना के पीछे विवेक की मशाल जल रही है, साधक के रग-रग मे तप की प्रेरणा है, ऐसा तप स्वेच्छाकृत आत्मसाधना का, अन्तिम लक्ष्य प्राप्ति का या साध्यसिद्धि का कारण बन सकता है।

निष्कर्ष यह है कि सकाम और अकाम दोनो ही साधनाएँ मोक्षहेतुक हो सकती है, बशर्ते कि उनके पीछे सदुद्देश्य हो, अन्यथा दोनो ही नरकहेतु हैं। अत क्रिया का बाह्य रूप अन्त शुद्धि का मापदण्ड नही हो सकता। शुद्ध अन्तर्भावना ही शुद्ध क्रिया का मापदण्ड है।

❑

१८

दुःखदायी सुखों से सावधान

संसार मे प्राय सभी लोग दु खी हैं। जो सुखी दिखाई देते है, वे अन्दर से दु खी हैं, अथवा सुख मे पागल होकर भविष्य के लिए दु:ख के बीज बो रहे हैं, अथवा जो दु खी हैं वे अज्ञानवश दुष्कर्मफल समभाव से न सहन कर सकने के कारण पुन -पुन दु.ख के बीजरूप दुष्कर्मबन्ध कर रहे है। इस प्रकार ससार मे जहाँ देखो वहीं दु ख की घटमाल चल रही है। इस दु ख की परम्परा को कभी समाप्त भी किया जा सकता है अथवा नही ? यदि समाप्त किया जा सकता है तो कैसे ? इस प्रकार जीवन के ज्वलन्त प्रश्नो को उठाते हुए पन्द्रहवें अध्ययन मे मधुराज अर्हतर्षि कहते है। प्रश्नोत्तर का भावार्थ इस प्रकार है –

प्रश्न—शात (साता) दु ख से अभिभूत आत्मा दु.ख की उदीरणा करती है या अशात (असाता) दु ख से अभिभूत दु खी आत्मा दु ख की उदीरणा करती है ?

उत्तर—शातदु ख और अशातदु ख से अभिभूत आत्मा दु ख की उदीरणा नहीं करती, किन्तु शातदु ख से अभिभूत आत्माएँ दु ख की उदीरणा करती हैं तथा अशातदु ख से अभिभूत दु खी आत्माएँ दु ख की उदीरणा करती हैं।

शातदु ख और अशातदु ख से तात्पर्य

प्रश्न होता है कि शात-दु ख और अशात-दु.ख का क्या अर्थ है ? ये दु ख किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ? शात या सात शब्द सुख के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। जैनजगत मे साता' शब्द बहुत ही प्रचलित है— सुख के अर्थ मे। सातावेदनीय और असातावेदनीय नामक वेदनीय कर्म के दो भेद हैं। उनका अर्थ भी क्रमश सुख और दु.ख है। शात या सात (सुख) से उत्पन्न दु ख तब पैदा होता है, जब व्यक्ति अत्यधिक सुख-सामग्री या वैभव या वैषयिक सुख के उन्माद मे पागल होता है वह विषय-सुखों मे इतना आसक्त एव

मुग्ध हो जाता है कि उसे अगर कोई उन सुखो को छोडने को कहे तो उसे बडा दुःख होता है। अथवा विषय-सुख जब बरबस छूटने लगते हैं, तब मनुष्य दुःखी होकर रोता-कलपता है झूरने लगता है, हाय-तौबा मचाने लगता है, विलाप करता है। इस प्रकार के सब सुख 'दुःख-बीज' सुख है। ये सुख तो हैं, परन्तु प्राप्त होने पर भी इनके रक्षण की चिन्ता मे मनुष्य दुःखी होता है, पहले तो इनके उपार्जन के लिए मनुष्य व्याकुल, दुःखी और सतप्त होता है। दूसरो को सुखी देखकर स्वय ईर्ष्या के मारे जलता है, कुढता है, दूसरे का सुख उससे देखा नही जाता। उसे तथाकथित सुख प्राप्त होने पर भी वह अपने से अधिक सुखी को देखकर मन ही मन बेचैन होता रहता है, अधिक सुख पाने के लिए। प्राप्त सुख पर उसकी इतनी अधिक आसक्ति हो जाती है कि उस सुख मे जरा सी कमी आ जाती है तो वह उदास हो जाता है, खिन्न-चित्त होकर चिल्लाता है।

जिस प्रकार अफीम का नशेबाज आदमी किसी दिन अफीम न मिलने पर या कम मिलने पर बेचैन हो जाता है, अपने पारिवारिकजनो या सेवको पर क्रुद्ध होता है, उन्हे कोसता है, तडपता है, आखिरकार उतनी मात्रा मे अफीम मिलने पर ही शान्त होता है, उसी प्रकार सुख का नशेबाज भी स्वकल्पित सुख सामग्री न मिलने पर अपने सम्बन्धियो या नौकरो आदि पर बरस पडता है, उन्हे भला-बुरा कहता है। अथवा बुढापा, बीमारी अशक्ति या अंगविकलता, इन्द्रिय-विकलता पागलपन, बुद्धिमन्दता आदि आने पर जब मनुष्य तथाकथित सुख का उपभोग नही कर पाता, तब मन ही मन अत्यन्त दुःखी होता है, मन मसोस कर रह जाता है अथवा उस कल्पित सुखवर्द्धक सजीव या अजीव पदार्थ का वियोग होने पर व्यय हो जाने पर या उसके कही दूर हो जाने या चले जाने पर मनुष्य विलाप करने लगता है। शोक और सताप मे अभिभूत होकर वह गहरे दुःखसागर मे डूब जाता है। सुख पर आसक्ति के कारण नाना अशुभकर्मो – मोहकर्मों का बन्धन होता है, जो भविष्य मे घोर दुःख के जनक है। ये और इस प्रकार सभी सुख दुःखोत्पादक हैं। ये दुःखबीज सुख हैं।

रावण और दुर्योधन आदि के पास प्रचुर वैषयिक सुख थे। वे रात-दिन उन सुखो मे पागल थे, आसक्त थे और उन सुखो के अर्जित करने में, अर्जित होने पर, अर्जित की रक्षा करने मे, उनके व्यय या वियोग होने पर

अत्यन्त दु खी थे। यही कारण है कि सुख की समस्त सामग्री होते हुए भी वे अन्तर् से दु खी थे। उनके सुख ही दु खो को साथ मे चिपकाए हुए थे।

आठ प्रकार के सुख

इसमे पूर्व हम उन सुखो का ही विश्लेषण कर ले तो ठीक रहेगा, जो पदार्थ-जनित हैं या कामनाजनित हैं, अथवा विषयजनित हैं। ऐसे सुख आठ प्रकार के होते हैं।

(१) ज्ञानानन्द, (२) प्रेमानन्द, (३) जीवनानन्द, (४) विनोदानन्द, (५) स्वतन्त्रतानन्द, (६) विषयानन्द, (७) महत्त्वानन्द और (८) रौद्रानन्द।

ज्ञानानन्द—वैसे तो सम्यक्दृष्टि के लिए ज्ञान जीवन का प्रमुख आनन्द है। परन्तु मिथ्यादृष्टि या अज्ञानो वैसा ज्ञान प्राप्त करने मे आनन्द मानता है, जिसे पाकर दूसरो को ठग सके दूसरो पर जबरन शासन करके उन्हे डरा-सता सके दूसरो पर कहर बरसा सके अथवा मन्त्र तन्त्र, जादू-टोना आदि का ज्ञान करके दूसरो को प्रभावित करके उनसे धन खीच सके। ऐसा ज्ञानानन्द सुख रूप होते हुए भी दु ख के बीज बोने वाला है।

दूसरा **प्रेमानन्द** है। मनुष्य को जब माता-पिता या गुरुजनो आदि का प्रेम मिलता है, तो मन मे सुख की अनुभूति होती है, किन्तु यही सुखानुभूति तब दु ख रूप हो जाती है जब प्रेम सकुचित स्वार्थ, धोखादेही, वचना या कलह का रूप ले लेता है, या वह प्रेमपात्र से मिलना बन्द हो जाता है। अथवा वह प्रेम विकृत रूप लेकर किसी पतिव्रता, परस्त्री या युवती को अपने मोह जाल मे फँसाने का कारण बनता है, तब दु खरूप हो जाता है। कभी-कभी इस प्रकार के कामुक प्रेम मे पागल व्यक्तियो को भारी सकट उठाना पडता है, प्राणो से भी हाथ धोना पडता है। ऐसा प्रम कल्पित सुखरूप होते हुए भी अनेक दु खो को लेकर आता है।

तीसरा **जीवनानन्द** है, जो जीवन के लिए उपभोग्य वस्तुओ के मिलने से प्राप्त होता है। परन्तु यह सुख भी तब दु खरूप हो जाता है, जब इसमे अन्य सम्बन्धित लोगो के प्रति अनुदारता, सकीर्ण स्वार्थवृत्ति, ईर्ष्या, छल-कपट, अन्तरायवृत्ति आ जाती है। तब परस्पर सघर्ष, तूतू-मैंमैं और कलह होता है। कई बार वर्षो तक वैर-विरोध चलता है। ऐसी स्थिति मे वह जीवनानन्द भी दु:खरूप बन जाता है।

चौथा **विनोदानन्द** मनोरजन, प्रसन्नता, खेलकूद, विनोद, हास-प्रहास, नाटक, सिनेमा आदि का प्रेक्षण वगैरह से जो आनन्द होता है, उसे विनोदा-

नन्द कहते हैं। परन्तु वह विनोदानन्द भी तब दुःखरूप हो जाता है, जब हँसी-मजाक लड़ाई और द्वेष का रूप धारण कर लेती है अथवा किसी प्रिय वस्तु या व्यक्ति का वियोग हो जाता है, अथवा जुए आदि के खेल मे अत्यधिक हार होकर धनहानि हो जाती है, अथवा शिकार आदि करके अपने जरा से सुख के लिए या मनोरजन के लिए अनेक निर्दोष प्राणियो को मौत के घाट उतार दिया जाता है। ये और ऐसे सभी विनोदानन्द दु ख के बीज बोने वाले हैं।

पाँचवाँ स्वतन्त्रतानन्द है। किसी बन्धन से, परतन्त्रता से, अथवा किसी के नियंत्रण से छूटना स्वतन्त्रता है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता से मनुष्य को जो सुख मिलता है, वह स्वतन्त्रतानन्द है। परन्तु कई बार मनुष्य स्वतत्रता के बदले स्वच्छन्दता को अपना कर अपना पतन कर लेता है, किसी के नैतिक नियत्रण मे रहना पसन्द नही करता, समाज के नियमो के विरुद्ध चलता है, शराब, मासाहार, परस्त्रीगमन आदि व्यसनो का शिकार बन जाता है, तब उसका वह सुख परिवार, समाज, एव राज्य के कठोर दण्ड से, बेइज्जती, बदनामी आदि के कारण दु खरूप बन जाता है। समाज एव परिवार के असहयोग का दु ख भी उठाना पडता है। स्वच्छन्दता के कारण चोरी, हत्या, डकैती गुण्डागर्दी आदि के कारण समाज एव राष्ट्र के लिए वह काटा बन जाता है, उसे उखाडने का प्रयत्न होता है, तब उसकी तथाकथित स्वतंत्रता अनेक दु खो को न्यौता देने वाली बन जाती है।

छठा है—विषयानन्द; यह भी इन्द्रियविषयो के अतिभोग के कारण इष्ट विषयो के वियोग और अनिष्ट विषयो के सयोग के कारण रोग, शोक, दैन्य आदि दु खो को आमत्रण देने वाला बन जाता है।

सातवाँ महत्त्वानन्द है, मनुष्य के मन मे उठने वाले सम्मान, प्रतिष्ठा, पद, अधिकार, यशकीर्ति आदि की भूख शान्त होने पर जो सुखानुभव होता है, उसे महत्त्वानन्द कहते हैं। परन्तु यह महत्त्वानन्द पद-प्रतिष्ठा आदि के छिन जाने, अपमान, अपयश आदि होने पर दु खरूप बन जाता है।

आठवाँ रौद्रानन्द है, हत्या, हिंसा, बलि, आगजनी, लूटपाट, डकैती चोरी आदि क्रूर एव रौद्र (भयकर) कुकृत्य करने मे जो सुख मिलता है, उसे रौद्रानन्द कहते हैं। रौद्रानन्द को दूसरे शब्दो में क्रूरानन्द या पापानन्द कह सकते है। निरपराध व्यक्तियो को, निरीह मानवो, पशु-पक्षियो पर बरसाई जाने वाली क्रूरता या निर्दयतापूर्वक मारे पीटे जाने को देखकर मन मे जो आनन्दानुभव होता है, वह रौद्रानन्द है। जानवरो को लडाना, उनकी बलि

देना, मनुष्य को क्रूरतापूर्वक मरवाना, घोर कर्मबन्ध का कारण होने से भविष्य मे अनेक दु:खो को निमत्रण देने वाला है। जैसे--रोम जब जल रहा था, तब 'नीरो' फीडल बजाकर खुशी मे पागल हो रहा था।

ये आठो ही प्रकार के आनन्द दु:खरूप भी हो जाते हैं, इसलिए ये प्राय: दु:खबीज सुख है।

प्रश्न का तात्पर्य और विश्लेषण

अर्हतर्षि मधुराज सर्वप्रथम यही प्रश्न उठाते हैं कि सात-दु:ख (दु:ख-बीज सुख) से अभिभूत (पीडित) आत्मा दु:ख की उदीरणा करता है या नही ? इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि सुख से उत्पन्न होने वाले दु:ख से दु:खी आत्मा दूसरे दु:ख को निमत्रण देती है या नही ? पहले बताये हुए आठो ही प्रकार के सुख दु:ख से घुले-मिले हो जाते हैं, ऐसे एक नही अनेक व्यक्ति नाना दु:खो को निमत्रण देते है। अर्हतर्षि ने बहुवचन में इस प्रश्न का उत्तर दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से आप समझ गये होगे कि सुख मे आसक्त, प्रमत्त एव उन्मत्त व्यक्ति अपने लिए कितने कितने दु:खो के बीज बो देते हैं, जिनको भोगना भी अत्यन्त कठिन हो जाता है। ऐसे लोग परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के लिए भी दु:खदायी बन जाते है।

अब दूसरा प्रश्न है—असात-दु:ख से अभिभूत आत्मा दु:ख की उदीरणा करता है ? वस्तुत असातारूप दु:ख का उदय होने पर व्यक्ति धैर्य खो बैठता है, वह उस समय अपनी आत्मालोचना, आत्मनिन्दना (पश्चात्ताप) गर्हणा, प्रतिक्रमण आदि नही करता। प्राय अज्ञानी व्यक्ति ऐसे समय मे निमित्तो पर आक्रोश करने लगता है। अतएव वह अकेला ही नही, अनेको लोग उस दु:ख के साथ दूसरे अनेक दु:खो को निमत्रण देते है। दु:खग्रस्त व्यक्ति अपने दु:ख से तो दु:खी होते ही है, वे और लोगो को, खासकर अपने परिवार, समाज एव राष्ट्र को भी दु:खी कर देते हैं।

एक बार एक व्यक्ति जिस सरकारी महकमे मे क्लर्क था, वहाँ उसकी गलती पर उसके ऑफीसर ने डाँटा, तथा नौकरी से खारिज कर देने की धमकी भी दी। इस प्रकार के भयकर अपमान के दु:ख से उसके मन को भयकर आघात लगा। घर आया। वहाँ पत्नी ने चाय बनाने मे जरा-सी देर कर दी, इस पर उसे पीट डाला और भन्नाता हुआ घर से बाहर निकल गया। इधर उसकी पत्नी का भी दिमाग गर्म हो गया था। वह भी पति के द्वारा जरा-सी बात पर मार-पीट के कारण दु:खी थी। शाम को

जब दोनो लडके स्कूल से घर पर देर से आये तो वह उन पर बरस पडी। दोनो बच्चो के एक-एक चपत लगा दी। बच्चे भी माँ के द्वारा पीटे जाने से दु खी हुए। घर मे रोना-चीखना और अशान्ति छा गई।

बन्धुओ ! इस प्रकार एक व्यक्ति का दु ख अनेको व्यक्तियो को दु ख देने का कारण बन जाता है।

दु ख-आगमन के तीन द्वार

दु ख भी तीन प्रकार का होता है- १ स्वकृत २ परकृत और ३ प्राकृतिक। स्वकृत दु ख वे है, जो अपने अज्ञान, मूर्खता, मूढता मोह, आसक्ति, तृष्णा, ईर्ष्या, घमड, क्रोध, घृणा, छल आदि के कारण होते हैं।

दूसरे परकृत दु ख है, जो दूसरे प्राणियो द्वारा मनुष्य को दिये जाते है। दूसरे मनुष्यो के द्वारा चोरी, व्यभिचार, विश्वासघात, कृतघ्नता, हिंसा, झूठ, ठगी, बेईमानी, स्वार्थपरता आदि के द्वारा जो दु ख व्यक्ति या व्यक्तियो को मिलता है, वे परकृत दु ख की कोटि मे है। निर्बल पर सबलो द्वारा अन्याय, अत्याचार, युद्ध, कलह बदनामी आदि से नाना दु ख मिलते है, वे भी परकृत है। ये दु ख कभी परिवार द्वारा, कभी समाज और कभी राष्ट्र द्वारा भी दिये जाते है।

प्राकृतिक दु ख वे हैं, जो सर्दी, गर्मी, वर्षा, धूप, भूकम्प, विद्युत्पात आदि प्रकृति प्रदत्त होते है। मनुष्य किसी हद तक इनका प्रतीकार कर सकता है। दु ख के आगमन के ये तीन द्वार है।

ये सब दु ख स्वकृतकर्म-फल है

परन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो ये दु ख मनुष्य के अपने ही पूर्वकृत कर्मों के फल हैं। परकृत या प्रकृतिप्रदत्त दु ख भी मनुष्य के अपने ही कृतकर्मो के फलस्वरूप आते है। अत अगर मनुष्य सावधान, जागरूक और अप्रमत्त रहे, तो इन दु खो से छुटकारा पा सकता है। समभावपूर्वक इन दु खो को सहने से दु ख के हेतुभूतकर्म भी नष्ट हो सकते है, व्यक्ति भविष्य मे सुखी हो सकता है। वर्तमान मे भी वह उन दु खो को समभाव से सहे तो दु खवेदन अल्प हो सकता है।

उदीरणा शान्त-दु ख की या अशान्त-दु ख की ?

अब मधुराज अर्हतर्षि दूसरे पहलू से इन्ही प्रश्नो को उठाकर समाधान करते हैं। उनके कथन का भावार्थ यह है—

प्रश्न—दु खी व्यक्ति शान्त दु ख की उदीरणा करता है, अथवा अशान्त दु ख की ?

उत्तर—दु खी व्यक्ति शान्त दु ख की ही उदीरणा करता है, (क्योंकि उदीरित की उदीरणा निरर्थक है।) शान्त दु खों से ही अभिभूत व्यक्ति के कर्मों की उदीरणा होती है। अशान्त दु खी दु ख की उदीरणा नहीं करता, क्योंकि कर्मों की उदीरणा से वह दु खी हुआ है। इसलिए फिर से उदीरणा का कोई प्रश्न नहीं उठता।

शान्त दु ख से तात्पर्य

कर्मप्रदेश आत्मा के साथ बधे हुए होते है। वे कुछ काल तक निश्चल पडे रहते है। उन्हे शान्तकर्म कहते हैं। शान्त दु ख और कोई नही, शान्त कर्म ही है। यहाँ अर्हतर्षि मधुराज के कथन का तात्पर्य यह है कि जिन के कर्म शान्त और निश्चल अवस्था मे पडे हुए हैं, ऐसा आत्मा भी भविष्य की अपेक्षा से दु खो है। वह शान्त दु ख (कर्म) की ही उदीरणा करता है अशान्त दु ख की नही, क्योंकि निश्चल कर्मों की उदीरणा होती है। जो कर्म चलित हो चुके हैं, उदीरणा मे आ चुके है, उनकी उदीरणा ही क्या होगी ?

दु.खो से अविमुक्त आत्मा की दशा कैसी, क्यो और किस कारण से ?

इसके आगे मधुराजऋषि नौवे अध्ययन मे उक्त कथन की तरह यहाँ पुनः कथन करते है—

"जो आत्मा दु ख से मुक्त नही है, उन्हे विविध गतियो और योनियो मे जन्म-मरण करना पडता है, वहाँ उन्हे हस्तछेदन, पाद-छेदन आदि के रूप मे नाना प्रकार के दु ख बार-बार मिलते हैं।

कर्मयुक्त जीव को अवश्य ही बार बार जन्म लेना पडता है, और जब जन्म होता है तो उससे सम्बद्ध नाना दु ख मिलते है। ससार के समस्त देहधारियो के अनिर्वाण—भवभ्रमण का मूल पाप है। समस्त दु,खो की जड पाप है। ये जन्म मरण भी पापमूलक है ॥१॥

ससार मे प्राप्त होने वाले नाना दु खो का मूल भी पूर्वकृत पापकर्म हैं। अत· भिक्षु को चाहिए कि उन पापकर्मों के निरोध के लिए वह सम्यक् पुरुषार्थ करे ॥२॥

वृक्ष के स्कन्ध का सद्भाव होने पर लता उस पर अवश्य चढेगी। बीज के विकसित होने पर अकुरो की सम्पदा अवश्य आएगी ॥३॥

पाप का सद्भाव होने पर निश्चय ही उनसे दु ख उत्पन्न होगे। मृत्पिण्ड के अभाव मे घट आदि की रचना सभव नही है। मृत्पिण्ड है इसीलिए घटादि उत्पन्न हो सकते हैं। इसी प्रकार पाप है, इसीलिए दु.ख की उत्पत्ति है ॥४॥

जैसे कन्द के सद्भाव मे ही लता उत्पन्न होती है और बीज से ही अकुर फूटते हैं, उसी प्रकार पापरूप लता से दुख अंकुरित होते हैं ॥५॥

जैसे फूल को नष्ट कर देने पर फल स्वतः नष्ट हो जाता है इसी प्रकार पाप को नष्ट कर देने से दुख भी समाप्त हो जाता है। सूई के द्वारा ताड के ऊर्ध्वभाग को बीध देने पर फिर ताडवृक्ष का विनाश निश्चित है ॥६॥

"मूल के सीचने पर फल प्राप्त होता है और मूल को नष्ट कर देने से फल तो स्वत ही नष्ट हो जाता है। फलार्थी मूल को सीचता है, परन्तु फल को नष्ट करने वाला मूल को नही सीचता ॥७॥

दुख का वेदन (अनुभव) करते हुए दुखाभिभूत देहधारी दुख का नाश चाहते है, किन्तु एक दुख का प्रतीकार करने के साथ ही साथ वे दूसरे दुख का बन्ध कर लेते हे ॥८॥

ससारी जीव पहले दु.ख का बीज बोता है, कि-तु जब दुख पाता है, तब शोक करता है। पहले कर्ज लिया है तो उसे चुकाये बिना वह मुक्त (दुखमुक्त) नही हो सकता ॥९॥

जिस प्रकार भूखा बालक आग और सर्प को (भोजन समझ कर) पकड लेता है, वह सकट को ही न्यौता देता है। इसी प्रकार सुखार्थी (अज्ञानी आत्मा) अन्य नया पाप करता है ॥१०॥

पाव परस्स कुव्वतो हसती मोहमोहितो।
मच्छोगल गसतो वा विणिघात स पस्सती ॥११॥

पच्चुपण्णरसे गिद्धो मोहमल्लपणोल्लितो।
दित्त पावति उक्कठ, वारिमज्झे व वारणा ॥१२॥

परोवघात-तल्लिच्छो, दप्प मोह-मल्लुद्धुरो।
सीहो जरो दुपाणे वा गुणदोस न विदती ॥१३॥

अर्थात्—जब मोहमूढ आत्मा दूसरे को हानि के लिए पाप करता है, तब आनन्द का अनुभव करता है। जैसे मछली आटे को गोली निगलती हुई आनन्द पाती है, मगर (उसके पीछे छिपे हुए) अपने विनाश को नही देखती ॥११॥

मोहमल्ल से प्रेरित आत्मा वर्तमान कामभोग मे लुब्ध होता है। पानी की मझधार मे रहे हुए हाथी की भाति वह मोहमूढ़ जीव दीप्त उत्कण्ठा अथवा उत्कट उत्तेजना प्राप्त करता है ॥१२॥

दर्परूप मोहमल्ल से उद्धत बना हुआ व्यक्ति दूसरो के घात से प्रसन्न

होता है। जैसे वृद्ध सिंह उन्मत्त होकर विवेक खो बैठता है और निर्बल प्राणियो की हिंसा करता है। उसी प्रकार मोहोन्मत्त व्यक्ति गुण-दोष का विवेक भूल जाता है, और दूसरो के घात के लिए उतारू हो जाता है ॥१३॥

मोह विवेक की ज्योति को बुझा देता है। मोह ऐसा मद्य है कि जो इसे पीता है, वह झूठे सुख मे—वर्तमानकालिक क्षणिक सुख मे पागल हो जाता है, अहकार से उसका मन उन्मत्त हो जाता है। वह अहकार के वशीभूत होकर दूसरे को सदैव दुर्बल मानकर उस पर विपत्ति का वज्र प्रहार करता है।

भोला मानव उस भूखी मछली की तरह है जो आटे की गोली के मोह मे पडकर उसे निगलने मे सुख मानती है, पर वह उस काटे को नहीं देखती, जो भविष्य मे उसका सर्वनाश कर देता है। इसी प्रकार मोहप्रेरित आत्मा वर्तमान भोग के सुख मे लब्ध होकर अपना सर्वनाश कर लेता है।

मधुराज-ऋषि आगे यह भी बताते है कि वर्तमान सुख मे लुब्ध मनुष्य कैसे-कैसे पाप कर लेता है? फिर फलभोग के समय किस प्रकार दु ख पाता है, और नये-नये पाप कर्म बाँधता है? देखिये उनके ही शब्दो मे—

> सवसो पाव पुरो किच्चा, दु ख वेदेति दुम्मती।
> आसत्तकठपावो (सो) वा, मुक्कधारो दुहट्ठिओ ॥१४॥
>
> पाव जे उपकुव्वति, जीवा सातणुगामिणो।
> वड्ढती पावक तेसिं अणग्गाहिस्स वा अण ॥१५॥
>
> अणुबद्धमपस्सता पच्चुप्पण्ण-गवेसका।
> ते पच्छा दुक्खमच्छति, गलुच्छिन्ना झसा जहा ॥१६॥

अर्थात्—पूर्वकृत पाप के वशीभूत होकर दुर्बुद्धि आत्मा दु ख का अनुभव करता है। आकण्ठ पाप मे डूबा रहने वाला व्यक्ति कष्टो और विपदाओ की धारा में अपने आपको खुला छोड देता है। सुखार्थी जीव सुख के लिए पाप करते हैं, किन्तु जैसे ऋण लेने वाले पर ऋण चढता ही जाता है, वैसे ही उन सुखार्थी जीवो का पाप बढता ही जाता है।

जो केवल वर्तमान सुख को ही खोजते हैं, किन्तु उससे अनुबद्ध (दु खरूप) फल को नही देखते, वे बाद मे उसी प्रकार दु:ख पाते हैं, जिस प्रकार गला बींधी हुई मछली।

जीव अनादिकाल से सुख के लिए परिश्रम करता है। उस स्वार्थान्ध सुख प्राप्ति के लिए जघन्य से जघन्य कुकृत्य भी करता है। अत उसकी

पापपरम्परा सुरसा के मुँह की भाँति बढ़ती ही जाती है, वह एक ऐसा कर्ज-दार है, जो कर्ज तो लेता ही जाता है, परन्तु चुकाता उसका दशांश भी नही है, कर्ज पुन पुन बढता ही जाता है, ऐसी स्थिति मे वह ऋणमुक्त कैसे हो सकता है ?

वर्तमान सुख पर ही प्राय उसकी दृष्टि होती है, परन्तु उस सुख के साथ बधी हुई दु ख की परम्परा को नही देखते। उनकी दशा वैसी ही हो जाती है, जैसे सिर्फ आटे की गोली को निगलने वाली मछली गला बीधने के कष्ट को नही देख पाती।

परन्तु दूसरो के लिए किये जाने वाले पाप कर्म को दूसरा नही भोग कर स्वय को ही भोगना पडता है, ईश्वर या कोई शक्ति उसमे रियायत नही कर सकती, न ही उसके बदले दूसरा कोई उस पाप कर्म का फल भोग सकता है। इसी सिद्धान्त को मधुराज ऋषि के शब्दो मे देखिये—

आताकडाण कम्माणं, आता भुजति ज फल ।
तम्हा आतस्स अट्ठाए, पावमादाय वज्जए ।।१७।।

अर्थात्—अपने द्वारा किये हुए कर्मों का फल स्वय (आत्मा) ही मनुष्य भोगता है। अत साधक आत्मा के अभ्युदय के लिए पापकर्मों को छोड दे।

आत्मा ही स्वय कर्मों का कर्ता है, स्वय ही कर्मबन्ध करता है और उसका फल भी स्वय ही (आत्मा) भोगता है। विश्व की कोई भी शक्ति दूसरे को उसके कर्म से मुक्त नही कर सकती और न ही एक के बदले मे दूसरी आत्मा कर्मबन्ध कर सकती है।

जन्म समाप्त होते ही कर्मफलरूप दु ख समाप्त

अब मधुराज ऋषि जन्म के साथ नाना दु खो का सम्बन्ध बताते हुए कहते हैं—

सते जम्मे पसूयति वाहि—सोग—जरादओ ।
नासते डहते वण्ही, तरुच्छेत्ता ण छिंदति ।।१८।।
दुक्ख जरा य मच्चू य, सोगो माणावमाणणा ।
जम्मघाते हता होंति, पुप्फघाते जहा फल ।।१९।।

जन्म के सद्भाव मे (होने पर) व्याधि, शोक और बुढ़ापा आदि उपाधियाँ पैदा होती है। जन्म का अभाव होने पर समस्त उपाधियाँ नष्ट हो जाती है। आग मे जलाने योग्य वस्तु का अभाव हो तो आग किसे जलाएगी ? अथवा आग का अभाव है तो वह ईंधन को कैसे जलाएगी ? यदि

वृक्ष काटने वाले का अभाव है, तो अकेली कुल्हाडी वृक्ष को नही काट सकेगी।

तात्पर्य यह है कि यदि जन्म-जन्य उपाधियो से बचना है तो जन्म से ही बचना होगा। आदमी जन्म को तो खुशी से अपनाता है, किन्तु मौत से डरता है। यदि मौत से बचना है तो जन्म से ही बचना होगा। जहाँ जन्म है, वहाँ मृत्यु अवश्यम्भावी है।

निष्कर्ष यह है कि अगर आत्मा सरागवृत्ति से हट जाए और वीत-रागदशा प्राप्त कर ले तो जन्म भी समाप्त हो जाएगा, और जन्म से होने वाली व्याधि, जरा, मृत्यु आदि उपाधियाँ भी समाप्त हो जायेंगी। क्योकि मृत्यु, जरा, व्याधि, मानापमान, दरिद्रता, अगविकलता, बुद्धिमन्दता आदि सब दु ख जन्म के पैर मे बँधे हुए है। 'न रहेगा बास, न बजेगी बासुरी' इस कहावत के अनुसार जन्म ही नही रहेगा तो ये सब दु ख भी नही रहेगे।

दु ख आने पर अन्य दु खो को उत्पन्न करने वाले

मधुराज-ऋषि उन अज्ञानी आत्माओ की मनोदशा का वर्णन करते है, जो दु ख आ पडने पर अन्य नाना दु खो को आमन्त्रण देते है—

पत्थरेणाहतो कीवो खिप्प डसइ पत्थर।
मिगारी ऊसर पप्प, सरूपत्ति च मग्गति ॥२०॥
तहा बालो दुही वत्यु बाहिर णिदती भिस।
दुक्खुप्पत्ति-विणास तु, मिगारि व्व ण पप्पति ॥२१॥
वण वण्हि कसाए य अण ज वावि दुट्ठित।
आमग च उव्वहता, दुक्ख पावति पीवर ॥२२॥
वण्ही अणस्स कम्मस्स, आमकस्स वणस्स य।
णिस्सेस घायिण सेयो, छिण्णो वि रुहती दुमो ॥२३॥
भासच्छण्णो जहा वण्ही, गूढकोहो जहा रिपू।
पावकम्म तहा लीण, दुक्खसताण-सकड ॥२४॥
पलिघणस्स वण्हिस्स, उद्दामस्स विसस्स य।
मिच्छत्ते यावि कम्मस्स, दित्ता वुड्ढी दुहावहा ॥२५॥
धूमहीणो य जो वण्ही, छिण्णादाण च ज अण।
मताहत विस ज ति, धुव त खयमिच्छती ॥२६॥
छिण्णादाण धुव कम्म, झिज्जते त तहाहत।
आदित्त रस्सि-तत्त व छिण्णादाण जहा जल ॥२७॥
तम्हा उ सव्वदुक्खाण, कुज्जा मूलविणासण।
वालग्गाहि व्व सप्पस्स, विसदोस-विणासण ॥२८॥

अर्थात्—पत्थर की चोट खाया हुआ कुत्ता पत्थर को ही काटने दौडता है, किन्तु जब सिह को बाण लगता है, तो वह बाण को छोडकर बाण के उत्पत्ति (छूटे हुए) स्थल पर झपटता है। इसी प्रकार अज्ञानी आत्मा दु:ख आने पर बाहरी वस्तु (निमित्त) पर आक्रोश करता है, किन्तु सिंह के समान दु खोत्पत्ति के मूल को नष्ट करने का प्रयास नही करता। २०-२१।

व्रण, अग्नि और कषाय तथा अन्यान्य दुष्कर्मो को करके बीमारियो को ढोते हुए व्यक्ति प्रचुर दु ख पाते है। २२।

अग्नि चार प्रकार की है—ऋण की आग, कर्म की आग, रोग की आग और वन की आग। (ये चारो ही दु ख देने वाली है, अत इन चारो ही) दु खो की जड को पूर्णरूप से नष्ट कर देनी चाहिए। क्योकि ऊपर से काट डालने पर वृक्ष फिर से उग आता है। (इसलिए चारो दु खो को जड मूल से उखाड फेकना चाहिए।) ।२३।

राख से ढकी हुई अग्नि और निगूढ क्रोधी शत्रु जैसे छिपकर घात करता है, उसी प्रकार पापकर्म मे दु ख की परम्परा और सकट छिपे रहते हैं ।२४।

अग्नि को प्रचुर ईधन प्राप्त हो जाता है, विष जब उत्कट (उद्दाम) हो जाता है, और कर्म जब मिथ्यात्व मे प्रवेश करता है, तो ये तीनो प्रचण्ड और उद्दीप्त हो जाते है। इस अभिवृद्धि का परिणाम आत्मा के लिए दु ख-रूप ही होता है ।२५।

जैसे धूमहीन अग्नि, नया लेना बद कर दिया हो, ऐसा ऋण और मत्राहत विष निश्चित ही समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार, कर्म का आदान (ग्रहण या आस्रव) जब समाप्त हो जाता है, तब कम भी निर्जरित (क्षय) हो जाता है। जैसे सूर्य की प्रखर किरणो से पानी गर्म हो जाता है, किन्तु सूर्य किरणो का साहचर्य (सयोग) छूटते ही वह प्रकृतिस्थ होकर स्वाभाविक रूप से शीतल हो जाता है। इसी प्रकार कर्म के सयोग से आत्मा विभावदशा मे आकुल होकर परिभ्रमण करता है। किन्तु कर्म का साहचर्य छूटते ही वह स्वभाव मे स्थित होकर सहज रूप को प्राप्त कर लेता है ।२६-२७।

अत साधक सभी दु खो के जडमूल को उसी प्रकार विनष्ट करे, जिस प्रकार सपेरा सप के विष-दोष को नष्ट कर देता है ।२८।

निष्कर्ष

बन्धुओ !

निष्कर्ष यह है कि आत्मा भोग-वासनाजन्य दु.खबीज सुख को एकात सुखरूप समझकर अपनाता है, उससे भयकर पापकर्म का बन्धन होता है, फिर जन्म परम्परा दीर्घकाल तक चलती है। अत जन्म और कर्म की परम्परा को समाप्त करना है, तो इन्हे जडमूल से समाप्त करने चाहिए। जब तक आत्मा के साथ कर्म का साहचर्य रहेगा, तब तक आत्मा विभावदशा मे भटकता रहेगा, कर्म का साहचर्य—कर्मों का ग्रहण, बन्द करते ही वह स्वभाव मे स्थित हो जायेगा। अत दु खो से सर्वथा मुक्त होने के लिए उनके मूल—कर्मो को सर्वथा समाप्त करना चाहिए। यही मधुराज ऋषि का तात्पर्य है।

□

१६

महानता का मूल : इन्द्रिय-विजय

इन्द्रियविजेता ही उत्तमपुरुष

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

क्या आप बता सकते है कि महान् मानव कौन है ? कई लोग कह देते है कि जिसके पास सत्ता है, जिसकी हुकूमत चलती है, अथवा जिसके यहाँ धन का अम्बार लग रहा है, वैभव की झकार है, या जो रात-दिन रागरग और भोग-विलास मे मस्त रहता है सुन्दरियो के पायल की झकार जिसकी अट्टालिकाओ मे गूँजती है, वही महान् और उत्तम मनुष्य है। परन्तु अगर आपने भारतीय सस्कृति का अध्ययन किया होगा तो आप इस बात से सर्वथा इन्कार कर देगे। भारतीय सस्कृति मे भोग की महत्ता को कतई स्वीकार नही किया है, यहाँ त्याग की महत्ता सदा-सदा से रही है। यहाँ बडे-बडे सत्ताधारी, चक्रवर्ती, विशाल भूमि के अधिपति अथवा धनाधीशो या वैभव और भोग-विलास मे रत व्यक्तियो ने त्यागियो के चरणो मे मस्तक झुकाया है।

इसी दृष्टि से प्रस्तुत सोलहवे अध्ययन मे सोरियायन अर्हतर्षि ने इन्द्रिय-विजेता को ही उत्तम पुरुष बताते हुए कहा है—

जस्स खलु भो विसयायारा ण य परिस्सवति इदिया य दवेहि से खलु उत्तमे पुरिसे त्ति सोरियायणेण अरहता इसिणा बुइत।

अर्थात्—'जिसके इन्द्रियो का वेग द्रवित (पतली) वस्तु की तरह विषयाचार की ओर नही दौडता, वही मनुष्य उत्तम है', इस प्रकार सोरियायन अर्हतर्षि ने कहा।

महर्षि का तात्पर्य यह है कि महान् या उत्तम पुरुष वह नही है, जो दुनिया पर तो शासन करता है, किन्तु अपने मन और इन्द्रियो का गुलाम है। शूरवीर वह नही है जो सग्राम मे लाखो योद्धाओ को जीत लेता है,

किन्तु स्वयं इन्द्रियों के अधीन है, इन्द्रियों का दास है। 'एक रूपक कथा के द्वारा इसका रहस्य समझा दूँ—

एक बार राजमार्ग पर पिता और पुत्र जा रहे थे। उसी समय राजा की सवारी वहाँ से निकली। राजा के साथ छह सिपाही थे। जिज्ञासावश पुत्र ने पिता से पूछा—"पिताजी ! यह कौन जा रहा है ?"

पिता बोले—"राजा जा रहे है, बेटा !"

थोडी ही देर बाद एक चोर को पकड कर राज्य के ६ सिपाही लिये जा रहे थे। पुत्र ने पिता से पूछा—"पिताजी ! यह कौन है ?"

पिता ने कहा—"यह चोर है बेटा !"

यह सुनकर पुत्र को आश्चर्य हुआ। उसने पिता से पूछा—"पहले भी एक आदमी जा रहा था, उसके साथ भी ६ सिपाही थे और इसके साथ भी ६ सिपाही है। किन्तु आपने पहले जाने वाले को राजा, और पीछे जाने वाले को चोर कहा, ऐसा क्यो ? कुछ समझ मे नही आया।"

पिता ने कहा—"बेटा ! इन दोनो मे बहुत अन्तर है।"

पुत्र बोला—'किस बात का ? ठाट-बाट का, कपडो का या और कुछ अन्तर है ?'

पिता ने कहा— 'ऐसा कोई फर्क महत्व का नही है। यहाँ फर्क दूसरा ही है। पहले जिस आदमी के साथ ६ सिपाही थे वे उसके अधीन थे। जबकि पीछे वाला ६ सिपाहियो के अधीन था। पहले वाला शासनकर्त्ता था, जबकि पीछे वाला शासित-गुलाम था।"

इसे आध्यात्मिक दृष्टि से यो घटित किया जा सकता है। ६ सिपाहियो के समान ६ इन्द्रियाँ है—श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच इन्द्रियाँ और छठा नो-इन्द्रिय मन। इन्द्रियो पर शासन करने वाला जितेन्द्रिय पुरुष, इन ६ इन्द्रियो पर शासन करता है, इन्हे जीत लेता है। जैसा कि मनुस्मृति (२/९८) मे कहा है –

> श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
> न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥

जिस मनुष्य को निन्दा स्तुति सुनकर, सुखद-दुखद स्पर्श को छूकर, सुरूप-कुरूप को देखकर, सरस-नीरस वस्तु को खाकर एवं सुगन्ध-दुर्गन्ध को सूँघकर भी हर्ष-विषाद नही होता, जो मन को शान्त-प्रशान्त रखता है, उसे जितेन्द्रिय समझना चाहिये।

इसके विपरीत जो इन छहो इन्द्रियो का गुलाम—दास है, वह इनके विषयो के प्रति राग-द्वेषवश हर्ष-शोक करता है, वह इन ६ के अधीन है।

इन्द्रियविजेता ही विश्वविजेता

जो इन इन्द्रियो का गुलाम है, वह दुनिया का गुलाम है, जो इन इन्द्रियो का विजेता है वही विश्वविजेता है। क्योकि बाह्य शत्रुओ को शस्त्रास्त्र द्वारा युद्ध कौशल से जीतना आसान है, मगर (उत्पथगामी) इन्द्रिय-शत्रुओ को जीतना अत्यन्त कठिन है। किरातार्जुनीयम् (सर्ग ११/३२ श्लोक) मे कहा गया है—

> जीयन्ता दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादय ।
> जितेषु ननु लोकोऽय, तेषु कृत्स्नस्त्वया जित ॥

'अपने शरीर मे रही हुई चक्षु आदि इन्द्रिया दुर्जय शत्रु है। इन्हे सर्वप्रथम जीतना चाहिए। इन्हे जीत लेने पर समझो कि तुमने सारा ससार जीत लिया।'

जगत को सैन्यबल या शस्त्रो के द्वारा जीतना सुगम है। जगत् पर पशुबल मे साम्राज्य चलाना भी सरल है, परन्तु इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना अथवा इन्द्रियो पर आत्मा का साम्राज्य स्थापित करना कठिन ही नही, अति कठिन है।

इन्द्रियाँ जिसके काबू मे नही है, जो इन्द्रियो को विषयो की ओर दौडने मे रोक नही सकता, उसे विजयी कैसे कहा जा सकता है? अध्यात्म-शास्त्र की दृष्टि से वह पराजित है, परतन्त्र है।

आज स्वाधीनता के नाम की रट लगाने वाले व्यक्ति तो बहुत हैं। पर वे नही जानते कि स्वाधीनता किस चिडिया का नाम है। जिनको अपने आप पर जरा भी सयम या शासन नही है, केवल स्वाधीनता की बाते करते है वे स्वाधीनता का मर्म नही जानते। जिस मनुष्य की आँखे अपवित्र रूप और सौन्दर्य की प्यासी बनी हुई है, जीभ भक्ष्याभक्ष्य का विचार किये बिना भिन्न-भिन्न स्वादिष्ट वस्तुओ का स्वाद चखने के लिए तरसती है। कान नही सुनने योग्य बातो और निन्दा-चुगली को सुनने के लिए तैयार रहते हो, स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) अपवित्र और गुदगुदाते कोमल स्पर्शो की लिप्सु हो, मन दूसरो का बुरा चिन्तन करने मे रचा-पचा रहता हो, नाक सुन्दर सुवास के लिए हजारो पुष्पो का उपमर्दन करके तैयार किये हुए इत्र या सुगन्धित पदार्थ को सूँघने मे तत्पर रहती हो तथा दुर्गन्ध या बदबू-दार कहकर ग्रामीण गरीबो, तथा सच्चे सेवको से दूर भागती हो, ऐसी

स्थिति में कैसे माना जाय कि इस मनुष्य ने इन्द्रियों पर विजय पाई है, वह स्वाधीन बना है।

बर्नार्ड शॉ ने भगवान् महावीर के निर्वाण कल्याणक के अवसर पर भाषण देते हुए महाकवि शेक्सपीयर के एक वाक्य को उद्धृत करते हुए कहा था—

'Give me that man who is not passions' slave and I will wear him in my heart's core'

"मुझे ऐसा मनुष्य दो, जो इन्द्रिय-विषयो का गुलाम न हो, अर्थात् जिसने इन्द्रिया पर विजय पा ली हो, उसे मै अपने हृदय के गहरे से गहरे कोने मे विराजमान करूँगा।"

बर्नार्ड शॉ के उद्‌गार कितने प्रेरक है ? मै आप से ही पूछता हू कि आप अपने दिल के दीवानखाने मे किसकी छवि विराजमान करते हैं ? किसी बादशाह (शासक) की या महात्मा आत्मानुशासक की ?

विश्वविजेता कौन ? इन्द्रियविजयी या इन्द्रियदास

सिकन्दर जब विश्वविजेता बनने के अहकार से फूल रहा था और जब उसने दिग्विजय करने के लिए भारत की ओर कूच किया, तब उसके गुरु अरिस्टोटल (अरस्तू) ने उसे सच्चे विश्वविजेता के दर्शन कराने और उसके गर्व को खण्डित करने हेतु भारत से स्वदेश लौटते समय एक जैन साधु को ले आने को कहा।

अत जब सिकदर युद्ध करके पजाब मे वापस लौट रहा था, तब अपने सैनिको को भेज कर एक जैन साधु को तलाश करके लाने का आदेश दिया। सैनिको को बहुत खोज के पश्चात नदी के तट पर आत्मसमाधि मे बैठे हुए एक मस्त जैन साधु मिल गये। उन्होंने कहा—'चलिये महाराज ! विश्व-विजेता सिकदर आपको याद करते है।"

जैन सत ने धीर गम्भीर वाणी मे कहा—"सिकदर कौन है ? यह मैं नही जानता। तुम कहते हो कि विश्वविजयी हैं, तो होगा। परन्तु उस विश्वविजयी से मेरा एक विनम्र प्रश्न पूछना—आपने विश्वविजय तो किया, पर इन्द्रिय-विजय किया या नही ? अगर आपने इन्द्रियो पर विजय कर लिया हो तो मैं तुम्हारे पास आने के लिए तैयार हू। परन्तु केवल जगत् को ही जीता हो तो मुझे वहाँ जाने की जरूरत नही।"

भौतिकता और भोगविलास के रग मे रगे हुए सिकदर को यह प्रश्न बिल्कुल नया लगा। उसे आत्मा, परमात्मा और इन्द्रिय-विजय आदि पर कोई रुचि भी नही थी। जिसके सामने बड़े-बडे वीर, राजा-महाराजा कांपते थे,

उसे इस प्रकार ललकारने वाला यह कौन पैदा हुआ है ? इस प्रकार आश्चर्य-चकित और प्रभावित सिकंदर स्वय ही जैन साधु से मिलने के लिए पहुंचा। जैन मुनि की सौम्य एव प्रसन्नमुद्रा देखकर तथा धर्मलाभ की प्रेरणात्मक वाणी सुनकर सिकन्दर भावविभोर हो गया। उसने कहा--"ओ महान् सन्त ! आप मेरे साथ पधारिये। मै अत्यन्त सम्मानपूर्वक आपको अपने देश मे ले जाऊँगा। विजय यात्रा के लिए प्रस्थान करते समय मेरे गुरु अरिस्टोटल ने एक जैन साधु को ले आने की माँग की थी। अत आप पधारिये। सुन्दर वाहन, भव्य महल, सुरम्य उपवन, हीरा माणक-मोती आदि कीमती से कीमती वस्तु आपकी सेवा मे हाजिर कर दूंगा। परन्तु आप मेरे साथ पधारिये।"

सिकन्दर समझता था कि शायद प्रलोभन देने से सत पिघल जाएगा। परन्तु जिसकी इन्द्रियो और मन का वेग विषयों की ओर जरा भी नही दौडता, ऐसा जितेन्द्रिय मुनि भला सिकन्दर के इस प्रलोभन के वश मे कैसे हो सकता था ? उसने सिकन्दर को मुनिधर्म का मर्म समझाया तथा धन, वाहन, वैभव वनिता आदि का त्याग तथा मौलिक मर्यादाएँ बताई और अपने धर्मक्षेत्र एव कार्यक्षेत्र को छोडकर वहाँ न जाने का अपना दृढनिश्चय भी प्रगट किया।

परन्तु सत्ता के गर्व मे चूर सिकदर ने भय बताया, धमकियाँ दी, मारने के लिए तलवार भी उठाई। परन्तु सत की निर्भीक आत्मा की अमरता की सन्देशवाहक वाणी सुनकर वह स्वय स्तब्ध हो गया। वह पराजित होकर सत के चरणो मे झुक गया।

यह थी इन्द्रियविजेता की तथाकथित विश्वविजेता के हृदय पर विजय।

जिसने इन्द्रियविषयो को जीतकर आत्मस्वरूप मे रमणता प्राप्त कर ली है, वह मृत्यु से या किसी भी प्रकार के भय से जरा भी कपित नही होता। इसलिए सिकन्दर को कहना पडा—

जगत् को जीतने वाले की अपेक्षा इन्द्रियो को जीतने वाला महान् है, शूरवीर है, धीर है, मृत्युञ्जयी है।

इसीलिए एक विचारक ने कहा है—

'न रणे विजयाच्छूरो ... इन्द्रियाणा जये शूर ।

रण मे विजय प्राप्त कर लेने से शूरवीर नही कहलाता, अपितु जो इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर लेता है, वही शूरवीर है। एक कवि ने कहा

है—"न पण्डितो य करणैरखण्डित" पण्डित वही है, जिसकी इन्द्रियाँ विषयो को देखकर खण्डित—विचलित न हुई हो।'

श्रमण इन्द्रियों के विषय-प्रवाह में न बहे

जिस प्रकार पानी का स्वभाव ढलाव की ओर बहने का है, उसी प्रकार इन्द्रियो का स्वभाव अपने अपने विषय की ओर लुढकने का—विषय-प्रवाह मे बह जाने का है। जिस समय कोई भी इन्द्रिय अपने विषय की ओर बहने लगे उस समय यदि सयमी पुरुष भी उनसे प्राप्त होने वाले तथाकथित क्षणिक विषय-सुखो के प्रलोभन मे आकर राग-द्वेष करने लगता है तो वह ज्ञान, ध्यान, तप, चरित्र आदि सबको भूल जाता है। यही कारण है कि बाह्य जीवन (शरीरादि की) की नश्वरता को स्वीकार करते हुए भी उस समय आत्मा के उद्धार की बात भी धरी रह जाती है। इन्द्रियाँ अत्यन्त उत्तेजित होकर कई बार ऐसे गाफिल साधक के मन को बलात् खीच ले जाती है। इसीलिए गीता मे कहा गया है—

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मन ।

इन्द्रियाँ अपने पूर्वसस्कार एव अभ्यासवश अच्छे से अच्छे साधक को बलात् अपने-अपने विषयो की ओर आकर्षित करके ले जाती है।

इसीलिए सोरियायन ऋषि साधको को इन्द्रियो के विषय-प्रवाह मे बहने मे सावधान करते हुए कहते है। उनके कथन का भावार्थ यह है—

प्रश्न—इन्द्रियो का परिस्रवण (बहाव) विषयों की ओर जाते से कैसे रोका जा सकता है और कैसे उक्त प्रवाह मे साधक बह जाता है ?'

उत्तर—'श्रोत्रेन्द्रिय-विषय-प्राप्त मनोज्ञ शब्दों मे साधक आसक्त न हो, अनुरक्त न हो, न ही उन मधुर शब्दो में गृद्ध हो । उन कर्णप्रिय शब्दों के द्वारा साधक अपनी स्वाभाविक स्थिति के व्याघात का अनुभव न करे। श्रोत्र-विषय-प्राप्त शब्दों मे आसक्ति अनुरक्ति, और गृद्धि करता हुआ तथा सुमना (सुन्दर मन वाला) श्रमण मन से उनकी आसेवना करता हुआ, उनके माधुर्य-रस-प्रवाह मे बहता हुआ पापकर्मों का ग्रहण (बन्ध) कर लेता है। इसलिए साधक श्रोत्र विषय-प्राप्त मनोज्ञ शब्दों में कतई आसक्त, अनुरक्त एव गृद्ध न हो। इसी प्रकार सुमना श्रमण मनोज्ञ रूप, गन्ध, रस और स्पर्शों में आसक्त, अनुरक्त एव गृद्ध न हो, अर्थात् राग न करे। और इसके विपरीत अमनोज्ञ रूप-गन्ध-रस-स्पर्शों पर द्वेष न करे।'

इन्द्रियो को विषयों की ओर दौड़ाने से महाहानि

कई लोग अथवा नास्तिक या भोगवादी दार्शनिक कहते हैं कि इन्द्रियो को विषयो मे खुली छोड़ दें, तो क्या हर्ज है ? वे तो अपने आप मे

जड हैं, उन्हे तो आत्मा या मन जिधर मोडेंगे उधर ही मुडे गी, फिर इन्द्रियो को वश मे करने पर इतना जोर क्यो दिया जाता है ? इन्द्रिय-विषयों का (राग-द्वेषपूर्वक) सेवन करने से क्या हानि है ? मनुष्य जन्म मे पाँचो इन्द्रियाँ मिली हैं तो उनसे आनन्द क्यो न प्राप्त किया जाये ?

ये ऐसे प्रश्न हैं, जो वर्तमान मे भोगपरायण पाश्चात्य-देशो एव एव पौर्वात्य देशो के नास्तिक या भोगवादी लोगो के द्वारा उठाये जाते हैं। परन्तु यह तो निश्चित है कि इन्द्रियो को बार-बार विषयो की ओर दौडाने से उन उन इन्द्रियो की शक्ति, तेजस्विता एव तीव्रता समाप्त होती है। आँख के द्वारा तेज रोशनी, सिनेमा आदि के अत्यधिक देखने से आँखों की रोशनी तो क्षीण होती ही है, मानसिक कामविकार के कारण ब्रह्मचर्य भी स्खलित होता है एव बौद्धिक मदता आदि भी बढती है।

हमे एक शहर मे एक लडका मिला। जो प्रतिदिन सिनेमा देखता था। उसके पिता ने बताया कि यह लडका प्रतिदिन सिनेमा देखता है, इस कारण दिन भर सुस्ती मे पडा रहता है, कमजोर भी हो रहा है। फिर आँखे अदर धसी हुई हैं, गाल पिचके हुए है, टाँगे पतली है, लडखडाता हुआ चलता है।

यह तो हुआ शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक नुकसान। इन्द्रियो के अत्यधिक उपयोग से शारीरिक हानि ही नही, प्राणो से भी हाथ धोना पडता है। शब्द, रस, गध और स्पर्श के भी अत्यधिक के उपभोग से कम हानि नही है।

शब्द मे आसक्ति के कारण मृग शिकारियो द्वारा मार डाला जाता है।

रूप मे आसक्त जीव भी अपने प्राणो तक से हाथ धो बैठते है। पारस्परिक कलह, वैमनस्य, बेइज्जती, कारागार, कठोर दण्ड आदि शारीरिक हानिया भी उठानी पडती है।

गध मे आसक्त होकर भौरा कमलकोष मे बद हो जाता है। मछली आटे की गोली के स्वाद मे पडकर अपने प्राणो से हाथ धो बैठती है। स्पर्शेन्द्रिय के वश होकर हाथी जैसा शक्तिशाली प्राणी भी बन्धन मे बाँध लिया जाता है।

इसी प्रकार मनुष्य भी इन इन्द्रियो का दुरुपयोग या अधिक विषयोपभोग करके अपने स्वास्थ्य, सत्त्व, प्राणशक्ति, मन.शक्ति, शारीरिक शक्ति, बौद्धिक क्षमता आदि को खो बैठता है।

अत्यधिक विलासिता मे इन्द्रियो का उपयोग करने वाले व्यक्ति असमय मे ही बूढे और अशक्त हो जाते हैं और कई तो असमय मे ही मौत के मुंह मे चले जाते हैं या आत्महत्या करके अपने जीवन का नाश करने पर उतारू हो जाते हैं।

मैने एक कहानी पढी थी कि अमेरिका के एक धनाढ्य पुरुष ने अपनी इन्द्रियो से विषय-वासना का पर्याप्त खेल खेला। अपार धन खर्च करके विषय सुख लूटने के लिए हर प्रकार की विलास-सामग्री का खुलकर उपयोग किया। इसका नतीजा यह हुआ कि उसका शरीर जर्जर हो गया। सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई। उनकी शक्ति क्षीण हो गई। अत उसने जिदगी मे ऊबकर आत्महत्या करने का विचार किया। परतु उसके एक हितैषी मित्र को इस कुविचार का पता लगा। उसने उसे सलाह दी कि तुम मेरे कहने से कुछ अर्से तक जगल मे रहकर प्राकृतिक जीवन बिताओ। व्यायाम और प्राणायाम द्वारा, यौगिक आसनादि द्वारा एव फलाहारादि द्वारा प्रकृति की ओर लौटो। भगवान की प्रार्थना, कीर्तन एव गुणगान करो। देखो, तुम्हारा जीवन कितना सुन्दर और कलापूर्ण बन जाता है।

उसने इसी प्रकार किया, लगभग ६ महीने मे उसका काया पलट हो गया।

आध्यात्मिक हानि

यह तो हुई इन्द्रियविषयो मे अत्यधिक उपभोग से भौतिक हानि की बात। आध्यात्मिक हानि भी कम नही है। प्रस्तुत मे सोरियायन ऋषि ने इन्द्रियो की विषयो मे आसक्ति एव द्वेष मे पापकर्मबधन का ही सकेत किया है। किंतु दीर्घ दृष्टि से विचार किया जाए तो पापकर्म के फलस्वरूप नरक या तिर्यञ्चगति प्राप्त होती है, क्योकि विषयो मे आसक्त आत्मा सभी पापो मे रग जाता है। विषयो की चाह ही अनेक दु खो को आमत्रित करती है। जो जीव बेरोकटोक स्वच्छद होकर इन्द्रिय-विषयो का सेवन करते हैं, वे इन्द्रियो के वशीभूत होकर उनके अस्तित्व को निरतर बने रहने की इच्छा करते हैं, उनके अभाव मे दु:खी होते है, अत्यत आतुर होकर विषयो मे लीन रहते हैं, वे चिकने कर्मों का बध करते है, जिनके फलस्वरूप अनेक भवो मे भ्रमण करना पडता है।

इसीलिए ज्ञानसार मे कहा है—

> **बिभेषि यदि ससारात् मोक्ष-प्राप्तिं च कांक्षसि।**
> **तदेन्द्रियजय कर्तुं स्फोरय स्फार-पौरुषम्॥**

हे साधक! यदि तू ससार-परिभ्रमण से घबराता है, और मुक्ति की

महा-समाधि चाहता है तो अपनी इन्द्रियो को जीतने का पूर्ण पराक्रम भरे पौरुष का उपयोग कर।

इन्द्रिय अनिग्रह के तीन स्तर

इस अध्ययन मे सोरियायन महर्षि ने आत्मार्थी साधक को इन्द्रियो के विषय-प्रवाह मे न बहने का सकेत किया है। साधक तीन प्रकार मे विषय प्रवाह मे बहता है—

(१) विषयो के न होने पर भी उनकी आसक्ति से।

(२) इन्द्रियाँ चपल हो जाने से विषयो मे बाह्यरूप मे प्रवृत्त होने से।

(३ विषयो के प्रति राग अथवा द्वेष होने से।

दूसरे शब्दो मे इन्हे विषयासक्ति, विषय-प्रवृत्ति और विषय विकृति कह सकते है। ये तीनो स्तर इन्द्रिय-अनिग्रह के है।

इन्द्रिय-निग्रह के चार प्रकार

इन्द्रिय-निरोध के चार प्रकार है—(१) सिर्फ विषयो मे आसक्ति का त्याग, (२) विषयो मे प्रवृत्त न होना (अर्थात्—सिर्फ दूर रहना), (३) विषयो मे प्रवृत्त होती हुई इन्द्रियो को वहाँ मे हटा देना, और (४) विषय-प्रवृत्ति मे होती राग-द्वेषरूप विकृति को उदित न होने देना, उदित विकृति को रोकना।

इन्द्रिय-विजय का वास्तविक अर्थ

इन्द्रिय-विजय का अर्थ इन्द्रियो को बद करके या गठडी बाँधकर रख देना नही है अपितु इन्द्रियो पर सयम और सावधानी रखना है। इन्द्रियाँ जब भी विषयो की ओर दौडे, तब उन्हे सावधानी मे सँभाला जाए, देख-भाल रखी जाए।

इन्द्रियनिग्रह मे सावधानी

अनियन्त्रित इन्द्रियाँ प्रबल अन्धड के समान है, वे ज्ञान-विज्ञान के दीपक को बुझा न दे, इसका पूरा ध्यान रखना है। विषयो के प्रति राग-द्वेष मे स्वच्छन्द विचरण करती हुई इन्द्रियाँ विचार एव विवेक से थोडी-सी देर के लिए नियत्रण मे रखी जा सकती है। इतना करने से ही यह नही कहा जा सकता कि इन्द्रियाँ आपके वश मे हो गईं। अनुकूल परिस्थिति या सयोग मिलते ही उनमे पुन प्रबल उत्तेजना उठे बिना नही रहती। ऐसी स्थिति मे विचार शक्ति कुण्ठित हो जाती है। विद्वान् कहे जाने वाले लोग भी बलात् उन दुर्विषयो से जनित दुष्कर्मों की ओर खिच जाते है। अतः विचार, विवेक, प्रबल इच्छाशक्ति, दृढवैराग्य, दीर्घकालीन अभ्यास, इन्द्रिय-विजय के प्रति पूर्ण श्रद्धा, जितेन्द्रिय का आदर्श आदि निरन्तर समक्ष न हो, तब तक यह खतरा उपस्थित हो सकता है।

विषयासक्ति निवारण : दृढ़ विरक्ति से

पाचो इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने के लिए विषयासक्ति का निवारण करना अनिवार्य है। विषयासक्ति से दृढ़विरक्ति ही उससे निवारण का प्रमुख उपाय है। विषयो के प्रति अरुचि, उनकी दु खरूपता, असारता, अतृप्ति और पुनरावृत्ति-भावना के चिन्तन मे विरक्ति दृढ हो जाती है।

विषयो के प्रति अरुचि उनके दोषो के दर्शन चिन्तन मनन से होती है। विषयरुचि का प्रधान कारण कांक्षामोह का उदय है। अत सर्वप्रथम विषयो के प्रति अरुचि या घृणा होनी चाहिए। एक दृष्टान्त द्वारा मैं अपनी बात स्पष्ट कर देता हू—

एक भक्त राजा ने एक जितेन्द्रिय महात्मा से अपने महलो मे पधारने की प्रार्थना की। परन्तु महात्मा ने यह कहकर उसकी प्रार्थना टाल दी कि मुझे तुम्हारे महलो मे दुर्गन्ध आती है, इसलिए मै वहाँ नही आ सकता।

राजा ने कहा —"महाराज ! महलो मे तो इत्र-फुलेल छिडका रहता है, वहाँ दुर्गन्ध का क्या काम ? महात्मन् ! आपकी बात समझ मे नही आई।"

महात्मा एक दिन राजा को साथ लेकर चमारो की बस्ती मे जा पहुचे। वहाँ एक पीपल की छाया मे दोनो खडे रहे। चमारो के घरो मे कही चमडा कमाया जा रहा था, कही वह सूख रहा था तो कही ताजा चमडा तैयार किया जा रहा था। उसमे से बडी दुर्गन्ध आ रही थी। दुर्गन्ध के मारे राजा की नाक फटने लगी। उसने महात्मा से कहा—"महात्माजी ! जल्दी चलिये यहा से। दुर्गन्ध के मारे यहाँ खडा नही रहा जाता।"

महात्माजी बोले—"राजन् ! तुम्हे ही दुर्गन्ध आती है, इन चमारो के स्त्री-पुरुषो का तो देखो। ये सब काम कर रहे है, खा-पी रहे है। इनको तो बिल्कुल दुर्गन्ध नही आती।"

राजा ने कहा—"भगवन् ! चमडा कमाते-कमाते और चमडे मे रहते-रहते इनका ऐसा अभ्यास हो गया है कि इन्हे चमडे की दुर्गन्ध नही आती। पर मैं तो इसका अभ्यासी नहीं हूँ।"

महात्मा ने हसकर कहा—"राजन् ! यही हाल तुम्हारे राजमहल का है। तुम्हे विषयभोगो मे रहते-रहते उनकी दुर्गन्ध नही आती, तुम्हारा अभ्यास हो गया है, पर मुझे तो विषय को देखते ही उसकी दुर्गन्ध के मारे उलटी-सी आती है। इसी कारण मैंने तुम्हारे महल में आने से इन्कार किया था।" राजा ने रहस्य समझ लिया।

बन्धुओ ! उक्त महात्मा की तरह जब साधक को विषयो से अरुचि हो जाएगी, तब उसकी सच्ची विरक्ति समझी जाएगी।

विषयो मे दोष प्रतीति के लिए इन पाच भावनाओ का भी चिन्तन करना आवश्यक है।

(१) **दु खत्वभावना**—हे आत्मन् ! विषयो मे सुख नही है। विषय दु खरूप ही है। उनमे सुखानुभव भ्रान्ति है क्योकि विषयो के सेवन से पूर्व, सेवन करते समय और सेवन के बाद आकुलता बनी रहती है, जो दु खरूप ही है। विषय सेवन से कई शारीरिक-मानसिक दु ख उत्पन्न होते है। एक-एक विषय के सेवन से मृग, पतगा, भुजग, मत्स्य और हाथी दु खी हो जाते है, मर जाते हैं। विषयसेवन हिंसादि कई पापो की खान है।

(२) **उच्छिष्टता-भावना**—हे आत्मन् ! तू जिन विषयो का सेवन कर रहा है, यह अनन्त जीवो की जूठन है, तेरी अपनी भी जूठन है। अनन्त ऐश्वर्य का स्वामी होकर तू जूठन के सेवन मे सुख मान रहा है। पराई जूठन खाना निन्द्यकर्म है।

(३) **असारता भावना**—हे आत्मन् ! ये विषयसुख असार है, क्षणिक है, विकृति के भण्डार है। एक क्षण पहले जो विषय आकर्षक लगते है वे ही क्षणभर बाद घृणित हो जाते है। इनका आकर्षण भी भ्रान्त है।

(४) **अतृप्ति भावना**—हे जीव ! विषयो से जीव को कभी तृप्ति नही होती। इन्द्रियो की प्यास विषयो के सेवन से अधिकाधिक भडकती है। ज्यो ज्यो विषयो का सेवन, त्यो-त्यो तृष्णा की तीव्रता, अतृप्ति की आकुलता जीव को विक्षिप्त बना देती है।

(५) **पुनरावृत्ति-भावना**—हे जीव ! एक ही बात की बार बार आवृत्ति मनुष्य को उबा देती है, तब विषयो की बार-बार आवृत्ति तुम्हे क्यो नही उबाती ? कौन-सा ऐसा भव है, जिसमे तुमने विषयो का बार-बार सेवन नही किया ? इसी भव मे उन्ही-उन्ही विषयो का बार-बार सेवन किया है। अब इस भव मे तो समझदारीपूर्वक इन्हे छोड !

इसी प्रकार विषयो की अनित्यता, आस्रवरूपता, अशुचिता आदि भावनाओ का चिन्तन भी विरक्ति को सुदृढ बनाता है।

इन्द्रियविजय के अन्य उपाय

इन्द्रियविजय के कुछ उपाय मैं बता चुका हू। उनके अतिरिक्त कुछ उपाय और भी है। पहला उपाय है—**जिनाज्ञा चिन्तन और आत्मा को आदेश-प्रदान**—इन्द्रियो को विषयो मे रमण अनुकूल लगता है, अत जब साधक देखे कि इन्द्रियां विषयो मे उच्छृ खल हो रही हैं, तब तत्काल उन्हे वहाँ से खीच ले। ऐसा करने के लिए आत्मा मे एकाग्र बनना और प्रत्येक प्रवृत्ति में जिन-

आज्ञा का चिन्तन करना चाहिए कि रागद्वेष-विजेता जिन भगवान् का इस विषय मे क्या आदेश है ? मैं रागादि के जय के लिए चला हू तो मुझे उनकी आज्ञा माननी चाहिए । जिनाज्ञा-चिन्तन से स्वच्छन्दता मिटेगी । साथ ही बार-बार विषयो का सेवन न करने का सकल्प करना चाहिए, ताकि साधना पक्की हो जाए ।

दूसरा उपाय है—**एकत्वानुभूति को तोड़ना**—विषयसुखो के साथ होने वाली आत्मा की एकत्वानुभूति—स्मृति को तोड डालना चाहिए, क्योकि विषय जड हैं, वे चैतन्य के साथ एकरूप हो नही सकते । यह एकत्वानुभूति भ्रान्ति है ।

तीसरा उपाय है—**चार शरणों का ग्रहण**—यह भी इन्द्रियजय के लिए अमोघ उपाय है ।

चौथा उपाय है—**आलोचना-निन्दना-गर्हणा**—असावधानी से यदि इन्द्रियाँ विषयो मे प्रवृत्त हो गई हो तो मिथ्यादुष्कृत, आलोचना, आत्म-निन्दा, गर्हा आदि के अभ्यास से उन्हें वापस हटाना, आत्मा की सेवा मे लगाना । दोष परिहार और शुद्ध चेतना का स्वीकार ।

पाँचवाँ उपाय है—**इन्द्रियविजेता महात्माओ के सुकृत की अनुमोदना करना ।**

छठा उपाय है—**प्रेक्षासाधना**—एक आसन पर स्थिर होकर बैठ जाना और इन्द्रियाँ (इन्द्रिय-प्रेरित मन) को देखते रहना कि वे कहाँ-कहाँ जाती है ? उन्हे विषयो से अलग न करके केवल उपयोग को मोडकर अन्त-र्मुख करना । ऐसा करने से इन्द्रियाँ स्वय थककर विषयो से स्वत निवृत्त हो जाती है । पदार्थ को देखना और जानना मात्र कर्मबन्धन का हेतु नही है । चूँकि आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है । ज्ञान-दर्शन बन्ध का हेतु नही होता । किन्तु जानने देखने के साथ ही यह विकल्प करना कि यह सुन्दर है, यह असुन्दर है यही राग और द्वेष का अनुभव करना कर्मबध का कारण है । प्रेक्षासाधना मे केवल ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहना है । परन्तु अपने उपयोग का मन और इन्द्रियो से अलग करने मे सावधानी अपेक्षित है ।

सातवाँ उपाय है—**आत्मा को शयन और प्रमाद से दूर रखना**—स्वामी सोया रहे तो नौकर स्वच्छन्द हो जाते हैं । इसी तरह आत्मा सोया रहेगा तो इन्द्रियो का जोर चलेगा, वे उच्छृखल हो जायेगी । अत आत्मा को जागृत और इन्द्रियों को सुलाये रखना अभीष्ट है । इन्द्रियो का शयन है—विषयो मे रसहीन होना और स्वामी (आत्मा) के अधीन होना । आत्मा को

अशमात्र असावधानी (गफलत) से इन्द्रियाँ चचल होकर साधना को चौपट कर सकती हैं। जैसे—तप-सयम मे शूर श्रेणिकपुत्र नदीषेण असावधानी से गणिका के रूप मे मुग्ध हो गये थे, तरुणी की देह सौरभ से आकृष्ट होकर बालमुनि गधविषय के प्रवाह मे बह गये थे। गुरुभक्त तपोलीन लब्धिमान आषाढभूति मुनि को जिह्वारसविषय ने जरा-से प्रमाद के कारण भ्रष्ट कर दिया। सयमी एव घोरतपस्वी सम्भूतमुनि चक्रवर्ती की रानी के कोमल केशपाश के जरा मे स्पर्श-विषय को पाकर साधना से स्खलित हो गये थे। सगीत स्वर के मधुर आकर्षण ने ज्योति साध्वी को सयम मे पतित कर दिया था। ये सब उदाहरण साधक जीवन मे जरा-सी आत्मजागृति के अभाव के सूचक है।

इन्द्रियनिग्रह का आठवाँ उपाय है—**आहार-सयम तथा तपश्चर्या**—उत्तेजक, रसीले, नशीले एव शक्तिवर्द्धक खाद्य-पेय पदार्थों का त्याग, अत्यधिक आहार सेवन-त्याग, अभक्ष्य अपेय पदार्थों का त्याग, ऊनोदरी, वृत्ति-सक्षेप और रसपरित्याग तप, ये उपाय भी इन्द्रियनिग्रह के लिए जरूरी है।

नौवाँ उपाय—**सुकुमारता एव सुखशीलता का त्याग**—सौकुमार्य एव सुखाभ्यास, ये दोनो विकारजनक है, अत इनके निवारण के लिए विविध शय्याशन, उग्रविहार, एव आतापना, स्थिर आसनो का अभ्यास आदि कायक्लेश तप आवश्यक है। इनसे साधक इन्द्रिय-विषयो के सयोग मे दूर हो जाता है।

दसवाँ उपाय है—**प्रतिसलीनता-साधना**—प्रत्येक पदार्थ को दो प्रकार से देखा जाता है। उसका एक रूप मधुर और दूसरा कटु प्रतिभासित होता है। मन की स्थिति ऐसी है कि वह मधुर रूप पर झट आकर्षित होकर इन्द्रिया को उसमे प्रवृत्त कर देता है। साधक उस समय उन इन्द्रियो को वहाँ मे तुरन्त नही हटाता है, उन विषयो के मधुर रूप पर राग और कटु-रूप पर द्वेषभाव करने मे मन को जोड देता है तो उससे पापकर्म का बध होता है। साधक को उस समय जागृत रहकर तुरन्त प्रतिसलीनता अपनानी चाहिए, जिसका अर्हतर्षि सोरियायन निर्देश कर रहे है—

दुद्दन्ते इन्दिए पच, राग-दोसपरगमे।
कुम्मोविव स-अगाइ, सए देहम्मि साहरे ॥२॥

राग और द्वेष मे प्रवृत्त पाँचो इन्द्रियाँ दुर्दान्त बन जाती है। अत: साधक राग और द्वेष या अप्रशस्त पथ मे से किसी के आघात की आशका

होते ही जैसे कछुआ अपने अगो को सिकोड लेता है, वैसे साधक भी आस्रव की ओर प्रवृत्त इन्द्रियो का सवरण कर ले, आत्मस्थ कर ले।

यही प्रतिसलीनता-तप है। इसमे अशुभ प्रवृत्ति मे प्रविष्ट होती हुई इन्द्रियो को तुरन्त वहाँ से हटाकर आत्मस्थ करना होता है। इसके लिए स्वाध्याय, सुध्यान, कायोत्सर्ग आदि तप भी उपयोगी हो सकते है।

कई लोग विषयो के ऊर्ध्वीकरण को भी इन्द्रिय जय का मार्ग बताते है। परन्तु सभी विषयो का ऊर्ध्वीकरण सम्भव नही है। प्रशस्त उद्देश्य मे इन्द्रियो की प्रवृत्ति इन्द्रियो को अधोगामी होने से बचाकर ऊर्ध्वगामी बनाती है, परन्तु इसमे सहज सयम के नाम से इन्द्रियसयम की लगाम ढीली हो जाती है। फिर श्रोत्रेन्द्रिय का शुभविषय—आगम-श्रवण, भगवद्गुणगान-श्रवण आदि तथा चक्षुरिन्द्रिय का शुभविषय—पठन-पाठन करना-कराना, तथा जीवो की दया करना, देखकर यतना से चलना आदि द्वारा ऊर्ध्वीकरण हो सकता है, किन्तु गध, रस और स्पर्श का इन्द्रियो से सम्बन्ध और उनमे प्रवृत्त हुए बिना भोग नही हो सकता और भोगो का शुभविकल्प कोई नही है। अत इन तीनो इन्द्रियो का ऊर्ध्वीकरण सम्भव नही है।

कोई हठयोग के साधक यह कहते है कि जो भी इन्द्रिय असयम-अप्रशस्त मार्ग पर जाए, उसे वही तोड-फोड देना चाहिए, जिससे 'न रहेगा बास न बजेगी बासुरी'। परन्तु जैनदर्शन इसमे सम्मत नही है। द्रव्येन्द्रिय को मारने से इन्द्रिय सयम कैसे हो जाएगा? जबकि विषयो के प्रति राग-द्वेष का सम्बन्ध (मन) भाव के द्वारा होना है। इसलिए भावेन्द्रिय को साधना चाहिए। इन्द्रिय अश्व है। अश्व को मारकर उसका कचूमर निकाल देना कुशल चालक का काम नही, अपितु विपथ से मोडकर सुपथ पर चलाना है। इसी प्रकार कुशल साधक विपथगामी इन्द्रियो को मारता नही, किन्तु प्रशस्त पथ पर मोडता है। बहिर्मुखी इन्द्रियो को अतर्मुखी करना ही इन्द्रिय विजय की साधना का प्राण है।

ये ही ससार की हेतु, ये ही मोक्ष की हेतु

जिन इन्द्रियो को आम लोग आत्मविकास मे विघ्नकारक मानते हैं, यथार्थ मे आत्मकल्याण एव आत्मविकास मे कारण भी वे ही बनती हैं। जब तक इनका उपयोग मनुष्य बाह्य जीवन के सुखोपभोग मे आसक्त होकर करता है, तभी तक वे शत्रु हैं, किन्तु ज्यो ही इन्हे आत्मकल्याण की ओर मोड देते हैं, अन्तर्मुखी बना देते हैं, त्यो ही ये साधक के सयम मे पूर्ण सहायक भी बनती हैं।

इसी तथ्य का समर्थन करते हुए अर्हतर्षि सोरियायन कहते है—

दुदन्ता इंदिया पंच, संसाराए सरीरिणं।
ते चेव णियमिया संता, णिज्जाणाए भवंति हि ॥१॥

देहधारियो की दुर्दान्त बनी हुई जो पाँचो इन्द्रियाँ ससार की हेतु बनती है वे ही सवृत—नियन्त्रित होने पर मोक्ष की हेतु बन जाती है।

वस्तुत. देखा जाए तो इन्द्रियाँ अपने आप मे जड है, वे न तो ससार की हेतु है, और न ही मोक्ष की हेतु। उनके पीछे रही हुई शुभ-अशुभ भावना, या सयम-असयम की वृत्ति-प्रवृत्ति ही मोक्ष और ससार की हेतु होती है। जैसा कि भगवद्गीता (३।३४) मे कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक इन्द्रिय और उसके अर्थ (विषय) मे जो राग और द्वेष निहित है, उन दोनो के वशीभूत न हो, क्योकि ये दोनो ही आत्मविकास के मार्ग मे विघ्न करने वाले प्रबल शत्रु है।

निष्कर्ष यह है कि जब आत्मा इन्द्रियो पर शासन करता है, तब वे मोक्षहेतुक बनती है और जब इन्द्रियाँ आत्मा पर शासन करती है, तब वे ससारहेतुक बनती है। अपनी आन्तरिक निर्मलता—रागद्वेष से निर्लिप्तता बनाये रखने से इन्द्रियाँ स्वत सयमित होने लगती है। इस व्यवस्था का आधार है इन्द्रियो को सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग मे लगाये रखना।

इन्द्रियो को यथास्थान जोडना ही अभीष्ट

अत इन्द्रियाँ हमारी शत्रु नही, सेवक है, साध्य प्राप्ति के लिए सहायक साधन है। ये साधना के मार्ग पर चलने मे सहायक एव सेवक है, बशर्ते कि इन्हे यथास्थान इनके अनुरूप कार्य मे जोड दे। आत्मा पदार्थो के विषय मे परोक्षज्ञान इन्द्रियो के माध्यम से ही करता है। अगर इन्द्रियाँ न हो तो शब्द, रूप, रस, गध एव स्पर्श का ज्ञान कैसे होगा? जितना भी परोक्ष ज्ञान है वह सब इन्द्रियो एव मनो-इन्द्रिय के सहयोग से आत्मा को मिलता है। इसी तथ्य को उजागर करते हुए महर्षि कहते है—

वण्ही सरीरमाहारं जहा जोएण जुंजती।
इन्दियाणि य जोए य, तहा जोगे वियाणसु ॥३॥

जिस प्रकार अग्नि आहार और शरीर को यथास्थान जोडती है, वैसे ही इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों को आत्मा के साथ जोडती है और योग को सक्रिय बनाती है।

बन्धुओ !

जिस प्रकार अग्नि आहार पकाती है, अगर उसे अधिक जलाया जाए तो वह रोटी आदि को जला देगी, अत्यन्त कम जलाया जाए तो रोटी को कच्ची रख देगी अत. मात्रा मे प्रज्वलित किया जाए तो वह आहार को ठीक ढग से पका कर शरीर के लिए उपयोगी बना देती है, अथवा जठराग्नि खाये हुए भोजन का पाचन करके शरीर के विभिन्न अवयवो को शक्ति प्रदान करती है, वैसे ही इन्द्रियाँ और योगत्रय (मन-वचन-काया) पदार्थों को आत्मा तक पहुचाते हैं। अत इन्द्रियो का जहाँ-जहाँ जिस-जिस रूप मे सयोजन किया जाए तो वे भी आत्मविकास और आत्मकल्याण मे उपयोगी हो मकती है, लक्ष्य तक पहुचा सकती है, रत्नत्रय की साधना को शुद्ध रख सकती है। अत आप भी इन्द्रियो का यथायोग्य उपयोग करके इन पर नियत्रण रखकर इन्द्रियजयी बने, यही महानता का मूल है।

□□

२०

आत्मविद्या से कर्मविमुक्ति

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

आज हम जीवन के उस पहलू पर विचार कर रहे हैं, जिससे साधक जीवन मे प्रकाश पाकर अपने आपको मुक्त कर सके। जैसे प्रकाश और अन्धकार दोनो पास-पास ही रहते है, इसी प्रकार मानव जीवन मे वे दोनो पास-पास ही रहती है, इसी कारण उसे पहचानने मे आम आदमी भूल कर बैठता है। अत उन्हे हम दो नामो से पुकारेंगे। एक का नाम है विद्या और दूसरी का नाम है अविद्या। अविद्या का अर्थ अज्ञान नही, किन्तु मिथ्याज्ञान है। ज्ञान तो चेतना का लक्षण है, वह सभी मे रहता है, किन्तु किसी का ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है तो किसी का मिथ्याज्ञान। इसका कारण है अन्तर् मे रही हुई कषाय आदि वृत्तियाँ।

विद्या का महत्व और विद्यावान का जीवन

विद्या और अविद्या की पहचान न कर पाने के कारण अधिकाश लोग दीर्घकाल तक ससार परिभ्रमण करते रहते हैं। अत इस सतरहवे अध्ययन मे अर्हतर्षि विदु विद्या की महत्ता, उसका लक्षण आदि बताकर प्रत्येक साधक को उक्त अध्यात्मविद्या को अपनाने का निर्देश कर रहे है—

इमा विज्जा महाविज्जा सव्वविज्जाण उत्तमा।
ज विज्ज साहइत्ताणं सव्वदुक्खाण मुच्चति ॥१॥

वह विद्या महाविद्या है, और समस्त विद्याओ मे श्रेष्ठ है, जिस विद्या की साधना कर मनुष्य सब दु खो मे मुक्त हो जाता है।

विद्या का महत्व सभी आस्तिक धर्मों और दर्शनो ने एक स्वर से स्वीकार किया है। इसका कारण है कि विद्यावान् व्यक्ति हर एक वस्तु के वस्तुस्वरूप को यथार्थरूप से जान-देख पाता है। विद्यावान् व्यक्ति कैसी

भी सकटापन्न परिस्थिति मे घबराता नही, वह विद्या के बल से युग की नब्ज परख लेता है। वह यह जान लेता है कि युग की माँग क्या है ? विश्व की गतिविधि को वह बखूबी जान लेता है। विद्यावान् बहुत शीघ्र जान लेता है कि कौन-सा कार्य या विचार हेय है, कौन-सा उपादेय है और कौन-सा ज्ञेय है ? कौन-सा कृत्य धर्म है, कौन-सा अधर्म है ? अपना कर्तव्य या दायित्व क्या है ? इस बात को विद्यावान् जान लेता है। जीवन मे आने वाली विपत्ति और सम्पत्ति के क्षणो मे विषाद और हर्षावेश से युक्त नही होता। नीतिकार कहते हैं—

> परिच्छेदो हि पाण्डित्य यदाऽपन्ना विपत्तय ।
> अपरिच्छेद-कर्तृ ण विपद स्यु पदे-पदे ॥

जब विपत्तियाँ आती हैं, तब उनके साधक-बाधको का विश्लेषण करना ही पाडित्य— विद्यावत्ता है, किन्तु जो ऐसे समय मे विवेक करना नही जानते, उनके पद-पद पर विपत्तियाँ आती है।

विद्यावान् व्यक्ति धर्म के सम्बन्ध मे कदाचित् उलझन आ जाय तो शान्त चित्त होकर चिन्तन करता है, उसमे से निकलने का रास्ता निकाल लेता है जबकि अविद्यावान् धर्म की बात को सुनता ही नही, कदाचित् सुन ले तो उस पर अमल नही करता। अविद्यावान् व्यक्ति हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य, धर्माधर्म आदि का विवेक नही कर पाता। वह न तो हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक कर पाता है और न अपने आत्मिक लाभ-अलाभ की सोचता है। वह सुन्दर और मनोज्ञ प्रतीत होने वाले, किन्तु परिणाम मे घोर दु खदायी विषय-भोगो को सुखकारक मानता है किन्तु उन्ही विषय-भोगो मे फँसकर वह इस जन्म मे ही नही, जन्म-जन्मान्तर मे विषय-भोगो का दास बनकर दु ख पाता है। खूबी यह है कि अविद्या से ओतप्रोत जन सुख के वेष मे आये हुए दु ख को सुखरूप समझते है। वे हेय ज्ञेयादि विवेक से रहित होने के कारण हर वस्तु को प्राय विपरीत रूप मे ग्रहण करके दु ख पाते हैं। यही कारण है कि इष्ट वस्तु या विषय के सयोग के समय वे हर्षावेश मे आ जाते है, तथा अनिष्ट के सयोग मे झुँझला उठते हैं, सहनशीलता नही रख पाते। अपने अज्ञान के कारण अविद्यावान् पुरुष पद-पद पर दु खी होता रहता है। वह इष्ट वस्तु की प्राप्ति, रक्षा, वियोग इन सभी मे जान-बूझकर दु खी होता है। दु ख आता नही, वह उसे जानकर न्यौता देता है। भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन मे कहा था—

जावन्तऽविज्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्खसभवा।
लुम्पंति बहुसो मूढा ससारम्मि अणतए ॥

जितने भी अविद्यावान पुरुष हैं, वे सब अपने लिए दु ख उत्पन्न करते हैं। ऐसे हिताहित अविवेकी मूढ प्राय अनन्त संसार मे बार-बार मरते है।

परन्तु विद्यावान् आत्मा उस विद्या की साधना करके सर्वदु खो से मुक्त हो जाती है।

दक्षिण भारत के मत तिरुवल्लुवर इसी प्रकार के विद्यावान् पुरुष थे। वह गृहस्थजीवन मे रहते हुए सत का सा जीवन जीते थे। वे व्यापारी थे परन्तु अत्यन्त प्रामाणिक, सत्यवादी और क्रोध से रहित थे। वे फेरी करके कपडा बेचते थे। ग्राहक के साथ वे कभी ठगी, धोखेबाजी या नाप मे गडबड नही करते थे। सदैव शान्ति से बात करते थे।

एक बार वे साडियाँ बेचने के लिए बाजार मे आए। एक धनिकपुत्र अपने मित्र के साथ वहाँ आया। उसे तिरुवल्लुवर की जीवन सौरभ ज्ञात थी। उसने अपने धनिक मित्र के समक्ष तिरुवल्लुवर की प्रशसा की। अत कुतूहलवश उस धनिकपुत्र ने उनकी प्रामाणिकता और शान्ति की परीक्षा के लिए पूछा—'सेठ! इस साडी की कितनी कीमत है?'

तिरुवल्लुवर बोला—'साडी का मूल्य सिर्फ दो रुपये है?'

धनिकपुत्र—'बस, दो ही रुपये?'

"हाँ, सिर्फ दो रुपये। इसमे रुई, उसकी कताई, पिंजाई रगाई, बुनाई एव मजदूरी और उस पर रुपये पर मेरा पाँच पैसा मुनाफा मिलाकर मैं सिर्फ दो रुपये मे इसे बेचता हू।"

धनिकपुत्र ने कहा— 'देखूँ तो कैसी है यह साडी? ठीक देख-परख लूँ।" यों कहकर धनिकपुत्र ने साडी को खोलने के बहाने जोर से झटका देकर उस साडी को फाड दी और फिर कहा - "लो, इस फटी साडी का अब क्या करू? मेरे किस काम की है यह साडी। इसे तुम ही रख लो।"

शान्त वाणी से तिरुवल्लुवर ने कहा—"ठीक बात है। अब यह साडी तुम्हारे काम की नही रही। लाओ मैं इसे वापस रख लेता हू।"

इस पर आश्चर्यमूढ बनकर धनिकपुत्र ने कहा—"सेठ! आपको कितना नुकसान हुआ? आपकी साडी फट गई, फिर भी आपको मेरे पर गुस्सा नही आता?"

तिरुवल्लुवर—"ना भाई ! गुस्सा किस पर करूँ ? एक जड वस्तु के लिए मैं अपनी आत्मा की अमूल्य शक्ति खर्च करूँ ? प्रकृति ने कपास का पौधा बनाया। धरती का अमृतपान करके वह बडा हुआ। उसमे अनेक कपासिये लगे, जिन्होने मिलकर साडी के परिमाण मे कपास दिया। कपास लोढने वाले ने कपास लोढकर उनमे से कपासिये अलग किये। पीजने वाले ने कपास को पीजा, पूनी बनाने वाले ने पूनियाँ बनाई। कई हाथो ने चर्खे पर उसे काता और सूत तैयार किया, रगरेज ने उनको अनेक पक्के रगो मे रगा। बुनकर ने विविध रगी सूत यथास्थान जोडकर सुन्दर साडी बनाई। अब वह साडी फट गई तो मैं किस पर गुस्सा करूँ ? साडी के निर्माण मे इतने हिस्सेदारो मे से किसकी मेहनत व्यर्थ गई ? भाई ! तुम ही कहो, क्रोध करने का कोई स्थान रहा है ?"

वह धनिकपुत्र तो यह सुनकर सिसक-सिसक कर रोने लगा। उसने तिरुवल्लुवर के चरणो मे गिरकर कहा—'महात्मन् ! मुझे क्षमा करें। धनवानी के नशे मे आकर मैंने ऐसा किया है। आपने मेरी आँख खोल दी।'

जो काम साडी देने से नही हुआ, वह काम साडी वापस लेने से हो गया। एक धनिकपुत्र का जीवन बदल गया। तिरुवल्लुवर ने उससे कहा—"साडी की इतनी कीमत नही है, जितनी जीवन की है ? साडी बिगडी, उसकी मुझे इतनी चिन्ता नही है, परन्तु कीमती जीवन बिगडे, इसकी मुझे चिन्ता थी। अत भाई ! तुम्हारा कीमती जीवन न बिगडे, इसका ध्यान रखना।"

यह हे एक विद्यावान् का जीवन !

विद्यावान् का अर्थ साक्षर नही, आधुनिक पैसा कमाने वालो विद्याएँ पढा हुआ शिक्षित भी नही, न ही बी ए, एम ए पढ़ा हुआ ग्रेज्युएट या पोस्ट-ग्रेज्युएट होने से होता है। जिसमे बौद्धिक प्रतिभा नही होती, या सात्त्विक व्यवसायात्मिका बुद्धि भी नही होती, न ही आध्यात्मिक जिज्ञासा होती है, उसे विद्यावान् नही कहा जा सकता। किसी को विद्यावान् तभी कहा जा सकता है, जब उसमे बौद्धिक प्रतिभा, व्यावहारिक एव सात्त्विक धर्मयुक्त बुद्धि, सिद्धान्तनिष्ठा एव तत्वश्रद्धा हो, भले ही वह लौकिक विद्याओ से सम्पन्न न हो।

आजकल सफेदपोश और छैल-छबीले वेश मे अनेक अविद्यामूर्ति फिरते दिखाई देते है। परन्तु उनकी बातचीत, चाल-ढाल, गुणावगुण या व्यवहार पर से ही प्राय विद्यावान् और अविद्यावान् की परख की जा सकती है। वैसे तो सभी अपने आपको विद्यवान् कहलाना पसंद करते हैं। अतः

विद्यावान् और अविद्यावान् के यथार्थ अर्थ समझने के लिए हमे सबसे पहले विद्या और अविद्या का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

विद्या का स्वरूप

यो तो विद्या शब्द मत्रशास्त्र मे भी प्रसिद्ध है। विशिष्ट मत्रो द्वारा चमत्कारी शक्तियो (देविया) की आराधना और सिद्धि को भी विद्या कहा गया है। भौतिक ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखा भी विद्याएँ कहलाती है। लौकिक व्यवहार मे भाषाविज्ञान, अकगणित, ज्यामिति, बीजगणित, समाज-विज्ञान, अर्थशास्त्र, विधिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, कामविज्ञान (सेक्स-साइकोलोजी), शिक्षामनोविज्ञान, बाल-मनोविज्ञान, इतिहास, भूगोल खगोल, भौतिकविज्ञान आदि विविध ज्ञान-विज्ञान बहुविध कला एव शिल्प को विद्या कहते है।

वैसे तो व्याकरण के अनुसार विद्या का अर्थ होता है—जिससे जाना जाय। परन्तु धर्मशास्त्रो और ग्रन्थो मे विद्या शब्द कई विशिष्ट अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है।

जैन-विद्या-विशारदो ने लौकिक और लोकोत्तर यो दो भेद विद्या के बताए है। लौकिक विद्या के १४ भेद उन्होने माने है—चार वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। इन चार वेदो के भी छह अग है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इसके अतिरिक्त (११) इतिहास पुराण, (१२) मीमासा, (१३) न्याय और (१४) धर्मशास्त्र, ये चार मिलकर कुल १४ विद्याएँ है।

वैदिक विद्वानो ने लौकिक विद्या को अपराविद्या भी कहा है।

ज्ञानी पुरुषो की दृष्टि मे सच्ची विद्या है—

सा विद्या या विमुक्तये

वही वास्तव मे विद्या है, जो जीवो को बन्धनो से मुक्त कर दे। सच्ची विद्या शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक बन्धन को काटने तथा स्वातन्त्र्य प्राप्त करने का ज्ञान करा देती है। वह मनुष्य को स्वावलम्बी, सदाचारी, आत्मपरायण बनाती है, विषयभोगो से छुटकारा दिला देती है, आत्मसयम की कला सिखाती है। धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि लौकिक विद्याओ के साथ यदि अध्यात्म, सद्धर्म और नीति का सम्पुट हो तो ये विद्याएँ भी कथचित् उपादेय हो सकती है। किन्तु समग्र रूपेण उपादेय तो

अध्यात्मविद्या या लोकोत्तर विद्या है । वैदिक धर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ गीता (१०।३२) मे भी समस्त विद्याओ मे इसी विद्या की महत्ता बताते हुए कहा है—

'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'

—विद्याओ मे अध्यात्मविद्या ही श्रेष्ठ है ।

अर्हतर्षि विदु भी इसी अध्यात्मविद्या की परिभाषा इस प्रकार बताते है—

जेण बध च मोक्ख च जीवाण गतिरागति ।
आयाभाव च जाणति, सा विज्जा दुक्खमोयणी ।।२।।

—जिसके द्वारा आत्मा के बन्ध और मोक्ष, तथा जीवो की गति-आगति का ज्ञान होता है, एव जिसके द्वारा आत्मभाव का अवबोध होता है, वही विद्या दु खो से विमुक्त करने मे सक्षम है ।

वास्तव मे इसी विद्या को महाविद्या कहा गया है, जिसे वैदिक विद्वानो ने पराविद्या कहा है । शकराचार्य ने अपनी प्रश्नोत्तरी मे इसी विद्या की ओर सकेत किया है—

'विद्याहि का ? 'ब्रह्मगतिप्रदा या ।'

विद्या क्या है ? जो ब्रह्मगति (आत्मज्ञान या परमात्मज्ञान) प्रदान करने वाली हो । अथवा-परमात्मा की गति-मुक्ति को प्राप्त कराने वाली हो ।

समूचे ससार का ज्ञान प्राप्त करके भी यदि अपने आपका ज्ञान प्राप्त नही किया तो वह विद्या क्या काम की ।

एक मन्त्रवादी था । झाड-फूक कर लोगो के भूत-प्रेत निकालता था । उसका घर बहुत टूटा फूटा था । बरसात आती तो सारी झौपडी चूने लगती । रातभर पानी टपकता रहता । पत्नी कहती—तुम कुछ फुर्सत निकालकर अपना घर तो बाध लो । दुनिया भरके भूत-प्रेत भगाते हो और अपना घर भूतो का सा घर बना हुआ है । इसे ठीक ठाक कर लो ।

पर मन्त्रवादी पत्नी की बात नही मानता ।

एक दिन वह झाडा दे रहा था । मन्त्र बोलने लगा— आकाश बाधू, पाताल बाधू, सात समुद्र बाधू, भूत बाधू, प्रेत बाधू

पत्नी ने यह सुना । उसे बडी चिढ आई । हाथ मे झाडू लेकर उठी और उसकी पीठ पर दो चार झाड मारकर बोली—

'आकाश-पाताल बाधने की गप्पे मारते हो, और अपनी झोपडी तो बाध ही नही सकते झूठे गपोडशख कही के…… ''

लोग भी देखते रह गये।

तो जो आकाश-पाताल-समुद्र बाधने की बात करे और अपना झोपडा भी न बाधे तो क्या कहेगे उसे ?

इसी प्रकार दुनिया भर का ज्ञान बघारने वाला यदि खुद को भी नही जाने तो उसका ज्ञान क्या काम का है ?

वस्तुत सच्ची महाविद्या वह है जो मानव को अन्धकार से प्रकाश की ओर या बन्धन से मुक्ति की ओर ले जाए। जो क्रिया शारीरिक ममत्व, आवेगो के प्रवाह, कषायो और राग-द्वेष-मोह, तथा विषयासक्ति मे बधने की शिक्षा देती है। चोरी, ठगी, बेईमानी, तस्करी आदि को कला सिखाती है, वह विद्या के नाम पर कुविद्या है, वह भयकर कर्मबन्धन मे डालकर मनुष्य को दुर्गति का मेहमान बना देती है। अध्यात्म रामायण मे 'विद्या और अविद्या का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाऽहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति कथ्यते॥

—मै शरीर हूँ इस प्रकार की जो बुद्धि है, वही अविद्या कहलाती है। किन्तु मै शरीर नही, सच्चिदानन्दघनस्वरूप आत्मा हू इस प्रकार की बुद्धि को 'विद्या' कहा जाता है।

सक्षेप मे, जो आत्मा की शान्ति-पिपासा बुझा सके, दुखपरम्परा को समाप्त करने की शिक्षा दे तथा आत्मा को अपनी पहचान करा दे, वही विद्या है। जो आत्मा के अहता और ममता के क्षुद्र घेरो को तोडकर मानव-मन को विराट् बनाती है।

आत्मभाव का परिज्ञाता जब अपनी शुद्ध स्थिति का अभाव पाता है, तब वह स्वय को बन्धनबद्ध महसूस करता है, फिर उसकी जिज्ञासा बन्धन-मुक्ति की होती है। बन्धनमुक्ति के लिए पुरुषार्थ बन्धन के कारणो को दूर करने और उपाय को क्रियान्वित करने के लिए कटिबद्ध करता है। इस प्रकार यह लोकोत्तर विद्या सर्व दुखो से मानव को विमुक्त करती है।

इसके विपरीत जो विद्या व्यक्ति को स्वावलम्बी नही बनाती, माता-पिता के आश्रित बनाती है, आत्मिक दीनता से पिण्ड नही छुडा सकती, वह विद्या विद्या के रूप में एक प्रकार की अविद्या है।

प्राचीनकाल मे शिशु को बाल्यकाल से ही आत्मविद्या का सिंचन मिलता था। मदालसा का आख्यान इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। मदालसा अपने बालकों को बचपन मे पालने मे झुलाती हुई उन्हे आत्मा की अनन्त शक्तियो का बोध कराती थी। वह गाती थी—

शुद्धो (सिद्धो)ऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि।
ससार — माया — परिवर्जितोऽसि।
ससार—स्वप्न त्यज मोहनिद्राम्।
मदालसा पुत्रमुवाच वाक्यम्॥

मदालसा अपने पुत्र को इस प्रकार कहती थी—हे वत्स ! तू शुद्ध है, कषायो तथा राग-द्वेष-मोहादि के विकारो से रहित निर्मल आत्मा है। अथवा तू सिद्ध है, तेरे मे अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य की सिद्धियाँ हैं, तु बुद्ध है—जागृत है, प्रकर्ष प्रज्ञा तेरे मे हैं। तू निरजन है, तुझे कोई भी व्यक्ति वासना के रग मे रग नही सकता। तू मुक्त है—अर्थात्—ससार परिभ्रमण कराने वाली माया—कर्म प्रकृति से तू रहित है, तुझे बाँधने वाली कोई भी शक्ति ससार मे नही है। ससार एक स्वप्न है, इसमे क्षणिक सुखाभास को सुख मत मान। इसके मोह मे मत फँस। मोहनिद्रा को छोड।

इस प्रकार जिस शिशु को पालने मे ही ऐसा मुक्ति गीत—आत्मसगीत सुनने को मिले, वह युवावस्था मे तेजस्वी, त्यागी और प्रतापी क्यो नही हो सकता ? आत्मा की अनन्त शक्तियो को जिसने जान लिया, जिसने उन्हे मन मे केन्द्रित कर लिया, उन पर अपना प्रभुत्व जमा लिया, वह शिशु युवावस्था आते ही सासारिक प्रपचो से विरक्त और आत्मभाव मे रत क्यो नही होगा ? यही हुआ। सती मदालसा ने अपने सातो पुत्रो को ऐसी आत्मविद्या दी, जिससे वे बाल्यावस्था मे ही विरक्त और त्यागी बन गए।

परन्तु आज बचपन से ही माता-पिता की ओर से आत्मविद्या नही, शरीर की विद्या सिखाई जाती है, शरीर की रक्षा के लिए कैसे धन, धान्य, मकान आदि प्राप्त करने आदि की प्राय शिक्षा-विद्या मिलती है। धन और वैभव की चकाचौध मे मनुष्य अपनी सन्तान को आत्म-विद्या से बहुत दूर रखता है, शुद्ध धर्म और नीति के तथा धर्ममय सस्कृति के विचार उसमे आएँ तो कैसे आएँ ?

वर्तमान युग मे इसी आत्मविद्या के अभाव में देश के नौनिहालो का भरण-पोषण विलासिता के वातावरण मे होता है, इस कारण वह पुरुषार्थहीन, निर्वीर्य, डरपोक और कायर बनाता है। विद्या मन्दिरो मे भी सयम,

पवित्रता और सादगी का वातावरण लुप्त हो रहा है। आज के विद्यार्थियो मे अशिष्टता, असभ्यता और अविनयवृत्ति दिखाई देती है। **ज्ञानस्य फल विरत्ति** ' 'ज्ञान का फल दुर्वृत्तियो से विरति है' के बजाय दुवृत्तियो मे प्रवृत्ति है। कटु शब्दो मे कहूँ तो आज का विद्यार्थी ऐसी विद्या पढता है, जिससे चोरी छिपाई जा सके, असत्य को सत्य बनाया जा सके। इस प्रकार का कौटिल्य शास्त्र वह पढता है।

एक विद्यार्थी से पूछा गया कि तुम्हारी विद्या प्राप्ति का ध्येय क्या है ? तो उसने तपाक से उत्तर दिया—"मेरा ध्येय है वकील बनने का। आजकल कायदे-कानून बहुत बढ गये है। अगर वकालत न पढे तो इन कायदा-कानूनो के चगुल से छूटने का उपाय कैसे मिल सकता है ? इस युग मे वकीलो के सहारे जीएँ तो हमारी आधी कमाई तो वकील ही खा जाएँगे ? अगर हम स्वय वकालत सीखे हुए होगे तो हमे कायदो के फायदे मिलेगे।"

देखा, आपने ? यह है आज की विद्या, जो रोटी, रोजी, सुरक्षा और शान्ति की नही, ठगी और धोखेबाजी सीखने की विद्या रह गई है। वकालत सीखता है टैक्स चोरी करने के लिए, अर्थशास्त्र सीखता है—अधिकाधिक धन कमाने के लिए, अन्य विद्याएँ सीखता है—अपने शरीर और कुटुम्ब के मौज-शौक के लिए। बताइए, ऐसी विद्याओ से मनुष्य की आत्मा का विकास कैसे होगा, उसका चरित्र ऊचा कैसे उठेगा ?

अविद्यावान विद्यार्थी की मनोवृत्ति

विद्यावान् मे जीवन की जो तेजस्विता, निर्भयता एवं आत्मनिर्भरता चाहिए, वह आज के विद्यार्थियो मे शायद ही देखने को मिलेगी। मुझे एक विद्यार्थी की मनोवृत्ति का उदाहरण याद आ रहा है – वह इण्टर की परीक्षा देकर घर आया हुआ था। उसी अर्से मे उसके यहाँ एक मेहमान आये हुए थे, वे तत्त्वचिन्तक थे। विद्यार्थी के पिताजी ने उसे उक्त तत्वचिन्तक मेहमान से मिलाया और उसके विद्याभ्यास का परिचय दिया। तत्वचिन्तक ने उसकी विद्या-प्राप्ति की थाह लेने की दृष्टि से उसे पूछा—'क्या पढते हो ?'

विद्यार्थी—'सर ! मै इण्टर की परीक्षा देकर आया हू।'

आगन्तुक—'अब क्या करोगे ?'

विद्यार्थी—'बी० ए० पास करूँगा ?'

आगन्तुक—'फिर क्या करोगे ?'

विद्यार्थी—'फिर तो फर्स्ट क्लास पास होऊँगा तो विदेश जाकर एम० ए० करूँगा।

आगन्तुक—'एम० ए० होने के बाद क्या करोगे ?'

विद्यार्थी—'फिर कोई नौकरी करूँगा।'

उक्त तत्त्वचिन्तक तो आगे से आगे प्रश्न पूछ रहे थे। उन्होंने पूछा—'फिर ?' विद्यार्थी को उत्तर दिये बिना कोई चारा न था। अतः कह डाला—'फिर तो प्रभुता में चरण रखूँगा अर्थात्—विवाह कर लूँगा।'

आगन्तुक—'ठीक है, फिर क्या करोगे ?'

विद्यार्थी—"फिर क्या ? फिर तो वृद्ध हो जाऊँगा।"

आगन्तुक ने प्रश्न का दौर आगे बढाते हुए पूछा—'फिर ?' विद्यार्थी जरा घबराया। कोई उत्तर सूझता नही था। पिता को समक्ष देखकर उसने धीरे से कह डाला "फिर तो मर जाएँगे।"

तत्वचिन्तक ने कहा—इतनी विद्या साधना, अभ्यास और प्रवृत्ति के बाद भी मरना है ? क्या मरने के लिए इतना सब करना है ? अन्त मे, मरना ही है तो, इतना विद्याभ्यास न करो, देशाटन न करो तो भी मरा जा सकता है ? क्या अपढ आदमी नही मरता ? तुम विद्यावान् हो, तो तुम्हे कहना चाहिए था—फिर अमर बनूँगा। मृत्यु को पराजित करूँगा। दुर्वृत्तियो पर विजय प्राप्त करूँगा। जीवन को आत्मगुणो से प्रकाशित करूँगा।' आतमविद्या का अभ्यासी के लिए तो कहा गया है—'मृत्यु तरति आत्मवित्' आत्मविद्या का जानकार मृत्यु को भी पार कर जाता है। सुख-दुःख, सयोग वियोग तथा सम्पत्ति-विपत्ति मे अपनी आत्मा और मन की मस्ती न खोये, वही सच्चा विद्यावान् है।

विद्यावान् मानव सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि प्रकृति के खेलो को देखकर घबराता या रोता नही, वह समभावपूर्वक सहन करता है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य को सच्ची विद्या मिले तभी वह आत्मतत्वो का स्पर्श कर सकता है।

वर्तमान मे माताओं द्वारा आत्मविद्या नहीं, देहविद्या

वर्तमान युग का मानव प्रकृति के निर्मल तत्त्वो से, एकान्त मे आत्म-चिन्तन करने से, पुरुषार्थ से, तप और त्याग से डरता है। इसका कारण यह है कि ये माताएँ बचपन से ही रोते हुए बालक को चुप करने के लिए उसमे भय के सस्कार डालती हैं—"चुप रह, वह बाबा आया, कान काट लेगा ! वह बिल्ली आई, ले जायेगी। हौवा आया, ले जायेगा, इत्यादि।" इसका नतीजा यह होता है कि वह बालक मृत्यु के कगार पर हो तब तक डरता रहता है। जो प्राणियो से डरता है, वह मौत मे भी डरेगा ही।

क्योंकि उसे बाल्यकाल से आत्मविद्या नही मिली, आत्मा की अमरता और उसकी शक्तियो का ज्ञान नहीं मिला। माता पिता ने उसके देह का भरण-पोषण किया, परन्तु उसकी आत्मा का पोषण नही किया। देह का पोषण तो कुत्ते-बिल्ली भी करते हैं। मनुष्य का गौरव बच्चो के सिर्फ देहपोषण में नही, परन्तु उसकी आत्मा को शक्तिशाली, तेजस्वी, निर्भय और सस्कारी बनाने मे है।

माता द्वारा आत्मविद्या की प्रेरणा से आर्यरक्षित का कायापलट

आर्यरक्षित का विद्याभ्यास पाटलिपुत्र मे हुआ था। जब वह वेदादि १४ विद्याओ का अध्ययन करके दशपुर लौटा तो राजा आदि सबने उसका स्वागत-सत्कार किया, परन्तु माता सोमा उदास रही। उदासी का कारण पूछा तो माता ने कहा—'पुत्र! तुमने जितनी विद्याएँ पढी हैं वे सब ससार को बढाने वाली है, तुम अध्यात्मविद्या पढ़कर आओगे, तभी मुझे सन्तोष होगा। अध्यात्मविद्या ही ससार से पार उतारने वाली है। उसमे से एक-मात्र दृष्टिवाद का अध्ययन कर लोगे तो तुम्हारा बेडा पार है।' माता ने दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए आर्यरक्षित को यह कहकर भेजा कि 'आचार्य तोषलिपुत्र के पास जाकर इस अध्यात्मविद्या को पढो और वे जैसा कहे, वैसा ही करो, तभी मुझे प्रसन्नता होगी।'

आर्यरक्षित आचार्य तोषलिपुत्र के पास पहुचे, अपनी जिज्ञासा प्रकट की। उन्होने गृहस्थाश्रम त्यागकर श्रमण बनने और विशिष्ट तपस्या व साधना अगीकार करने पर अध्यात्मविद्या पढ़ाना स्वीकार किया। आर्यरक्षित ने उनसे मुनिदीक्षा ले ली। अध्यात्मविद्या पढी। फिर आगे के अध्ययन के लिए आचार्य ने उन्हे भद्रगुप्तसूरि के पास भेजा। उन्होने दृष्टिवाद के दस पूर्वो के ज्ञाता वज्रस्वामी के पास भेजा। आर्यरक्षित ने उनकी सेवा मे रहकर दृष्टिवाद के नौ पूर्वों तक का अध्ययन कर लिया। वज्रस्वामी ने उन्हे आचार्यपद दे दिया। फिर उनके लघुभ्राता फल्गुरक्षित बुलाने आ गये। अत्याग्रहवश वे उनके पास दशपुर चले गये। माता आदि सब उन्हे आत्मविद्यासम्पन्न देखकर अतीव प्रसन्न हुए। सारा परिवार प्रतिबुद्ध हुआ। फल्गुरक्षित भी दीक्षित हुआ। उनके निमित्त से अनेक व्यक्तियो का उद्धार हुआ। यह था बन्धनो और दुःखो से सर्वथा सर्वदा मुक्त करने वाली अध्यात्मविद्या का प्रभाव।

यह तो निश्चित है कि आत्मविद्या से कर्मबन्धन-मुक्ति अथवा दुःखो से सर्वथा विमुक्ति हो जाती है। परन्तु प्रश्न यह होता है कि इस आत्मविद्या

में दुःखों के कारणभूत कर्मों से मुक्ति का उपाय क्या है ? इसी प्रश्न के उत्तर मे अर्हतर्षि विदु कहते हैं—

> सम्म रोग-परिण्णायं, ततो तस्स विणिच्छिस ।
> रोगोसहपरिण्णाणं, जोगो रोगतिगिच्छित ॥३॥
> सम्मं कम्मपरिण्णाण, ततो तस्स विमोक्खणं ।
> कम्म-मोक्ख-परिण्णाणं, करणं च विमोक्खण ॥४॥
> बंधणं मोयणं चेव, तहा फल-परपर ।
> जीवाण जो विजाणाति, कम्माणं तु स कम्महा ॥६॥

अर्थात्—'रोग-मुक्ति के लिए सर्वप्रथम रोग का परिज्ञान होना चाहिए। तत्पश्चात् उसका निदान तथा रोग के औषध का परिज्ञान (पहचान) होना चाहिए। तभी उस रुग्ण के रोग की चिकित्सा का सयोग आ सकता है। यही बात कर्म-विमुक्ति के लिए भी है। पहले सम्यक्-प्रकार से कर्म का परिज्ञान हो, बाद मे उसके विमोक्ष का ज्ञान आवश्यक है। कर्म और उससे मोक्ष का परिज्ञान और तदनुसार आचरण आत्मा को मुक्त बना सकता है।'

'इस प्रकार आत्मा के बन्धन (रूपकर्म) और मोक्ष को तथा उसके फल की परम्परा को जो जानता है, वही कर्मश्रृंखला को तोड सकता है।'

अध्यात्मविद्या के सन्दर्भ मे ये गाथाएँ अर्हतर्षि विदु ने प्रस्तुत की हैं। रोगविमुक्ति के लिए जिस प्रकार चार बातें आवश्यक हैं—

(१) मेरे देह मे किसी प्रकार का रोग है, यह अनुभव।

(२) रोग की पहचान, कि रोग कौन-सा है ?

(३) रोग की औषध का ज्ञान।

(४) रोग की चिकित्सा शक्य और उससे रोगमुक्ति अवश्य होगी, ऐसा विश्वास।

इसी प्रकार कर्म से विमुक्ति के लिए भी चार बातें अपेक्षित हैं—

(१) कर्म है, जो आत्मा को बन्धन मे डालता है, अर्थात्—कौन-सा कर्म है ? इसकी पहचान।

(२) कर्म से मोक्ष हो सकता है।

(३) कर्म और मोक्ष का स्वरूप-विज्ञान और

(४) उस ज्ञान को क्रियान्वित करना।

ये चारों ही बातें आत्मा को बन्धन से सर्वथा मुक्त होने के लिए हैं। बौद्धदर्शन मे चार आर्यसत्य इसी से मिलते-जुलते हैं—(१) दुःख है,

(२) दु ख का हेतु है, (३) दु खहान (दुःखों का अन्त) सम्भव है, (२) हानोपाय (दु खो के अन्त करने का उपाय) है।

अध्यात्मविद्या मे आत्मविकास मे बाधक बन्ध और साधक मोक्ष का सर्वप्रथम ज्ञान आवश्यक है। वे कौन-से हेतु हैं, जिनके कारण आत्मा कर्मों से बद्ध होता है ? जब तक उन हेतुओ का ज्ञान नही होगा, तब तक आत्मा बन्धन से मुक्त नही हो सकेगा। अत बन्ध क्या है ? वह किस-किस प्रकार से होता है ? उसके कारण कौन-कौन से हैं ? बन्ध से आत्मा मुक्त हो सकता है या नही ? हो सकता है, तो किन उपायो से ? फिर तदनुसार आचरण करना यही आत्मविद्या का परम्परागत फल है, इसी से आत्मा कर्मश्रृङ्खला को तोडकर बन्धनमुक्त हो सकता है।

आत्मा की रागद्वेषरूप परिणति ही भावकर्मबन्ध का हेतु है, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच कर्मबन्ध वे हेतु हैं। भावकर्मबन्ध के द्वारा ही द्रव्यकर्म आत्मा से चिपकते हैं। उस अवस्था को द्रव्यबन्ध कहते हैं, जब कर्म और आत्मप्रदेश लोहपिण्ड मे अग्निप्रवेशवत् एक दूसरे मे प्रविष्ट हो जाते हैं, यही द्रव्यबन्ध है।

कर्मबन्ध से मुक्त होने का दूसरा उपाय

अब अर्हतर्षि विदु कर्मबन्ध से मुक्त होने का दूसरा उपाय बताते हुए कहते हैं—

> मम्मं ससल्लजीवं च, पुरिसं वा मोहघातिणं।
> सल्लुद्धरणजोगं च, जो जाणइ स सल्लहा ॥५॥

अर्थात्—एक ओर—जो मर्म (कर्म के रहस्य) और सशल्य जीव को जानता है, तथा दूसरी ओर—मोह-रहित पुरुष को जानता है, साथ ही शल्य को नष्ट करने का योग जानता है, वही शल्य को नष्ट कर सकता है।

तात्पर्य यह है कि कर्ममुक्त होने का दूसरा उपाय यह है कि साधक को एक ओर से शल्ययुक्त जीव को देखना और रहस्य जानना आवश्यक है, जिसके अन्तरतम की गूढ़ ग्रन्थियाँ दुर्भेद्य है, जो न अपने आत्मस्वरूप के प्रति स्पष्ट है, न ही परभावो के प्रति। दूसरी ओर वह मोहमुक्त वीतराग-पुरुष को देखता है, जिसकी अन्तर्ग्रन्थियाँ खुल चुकी हैं। ऐसी स्थिति मे साधक का सरल निश्छल हृदय पहली सशल्य स्थिति से मुक्त होने के लिए उद्यत हो जाता है, फिर वह उस पूर्णमुक्तस्थिति को देखकर स्वय बन्धन

को तोड़ने का उपाय करता है। शल्य नष्ट करने की साधना से साधक के मन-वचन-काय मे एकरूपता आती है।

कर्मबन्ध से मुक्त होने का तीसरा उपाय

जब तक साधक के मन-वचन-काया जरा-सी भी सावद्य प्रवृत्ति (दोषयुक्त आचरण) करते रहते हैं, तब तक उसकी मुक्ति नहीं होती। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए अर्हतर्षि विदु तीन गाथाओं द्वारा निर्देश करते है—

> सावज्जजोग णिहिल विदित्ता, त चेव सम्मं परिजाणिऊणं।
> तीतस्स णिदाए समुत्थितप्पा सावज्जवुत्ति ण सद्दहेज्जा ॥७॥
>
> सज्झाय-झाणोवगतो जितप्पा ससारवास बहुधा विदित्ता।
> सावज्जवुत्तीकरण ठितप्पा, निरवज्जवित्ती उ समाहरेज्जा ॥८॥
>
> परकीय-सव्व-सावज्जजोग, इह अज्ज दुच्चरिय णायरे।
> अपरिसेस णिरवज्जे ठितस्स, णो कप्पति, पुणरवि सावज्ज सेविसए ॥९॥

सावद्ययोग को समग्ररूप से जानकर, उसका सम्यक् प्रकार से परिज्ञान करके अतीत (सावद्य) की निन्दा के लिए समुत्थित साधक आत्मा अब सावद्यवृत्ति पर श्रद्धा न करे।

स्थितात्मा (स्थितप्रज्ञ) एव जितेन्द्रिय साधक स्वाध्याय और सुध्यान मे रत रहकर ससारवास को अनेक प्रकार से जानकर सावद्यप्रवृत्ति, के कार्य मे निरवद्यवृत्ति को स्वीकार करे।

समस्त परकीयवृत्ति (परभावों मे प्रवृत्ति) सावद्ययोग है। यह जान लेने के बाद साधक दुश्चरित्रता का समग्ररूप से परित्याग करे। निरवद्यरूप से सर्वथा स्थित साधक के लिए पुनः सावद्य-सेवन करना कल्पनीय नही।

आत्मा में जब तक सावद्ययोग है, तब तक कर्म उससे पृथक् नहीं हो सकेंगे। अत सर्वप्रथम साधक सावद्ययोग का विवेक करे कि कहाँ-कहाँ किस-किस रूप से सावद्य जीवन मे आता है? तत्पश्चात् ज्ञपरिज्ञा से वस्तुस्वरूप को जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसका प्रत्याख्यान करे। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्याख्यान (त्याग) वर्तमान मे हुई सावद्ययोग प्रवृत्ति का ही हो सकता है। अत कहा कि अतीतकाल में हुई सावद्य प्रवृत्ति की आलोचना-निन्दना (पश्चात्ताप) और गर्हणा करे। तथा भविष्य में कोई सावद्यक्रिया न हो जावे, इसके लिए भविष्यकालीन सावद्य प्रवृत्ति के प्रति श्रद्धा न करे, अगर हिंसा आदि सावद्यवृत्ति-प्रवृत्ति मे रंचमात्र भी श्रद्धा

शेष रही तो कर्मबन्ध से पूर्णतया छुटकारा नहीं होगा, फिर मोक्ष प्राप्त नहीं होगा।

एक प्रश्न फिर उठा कि जब तक शरीरहै , तब तक कुछ न कुछ सावद्यप्रवृत्ति न चाहते हुए भी हो जाती है। आँख, कान आदि पाँचो इन्द्रियो से देखना-सुनना आदि क्रियाएँ अवश्य होगी, उनसे दोष लगना भी सम्भव है। अत साधक सावद्यप्रवृत्ति से यथाशक्ति मन, बुद्धि और इन्द्रियो से दूर रहने के लिए जितेन्द्रिय और स्थितप्रज्ञ बने। साथ ही स्वाध्याय और सुध्यान मे रत रहकर ससारवास (ससार की गतिविधि) का अथवा विश्व-व्यवस्था का सही दर्शन करे, साथ ही सावद्यप्रवृत्ति मे भी राग-द्वेष-मोह न रखकर उनसे अनासक्त वीतराग होकर रहे तो सावद्यकार्य होते हुए भी पापकर्म का बन्ध न होगा। सावद्यप्रवृत्ति मे यही सम्यक् यत्नाचार है,

निरवद्यवृत्ति का स्वीकार है।

जितनी भी परभावो मे प्रवृत्ति है, वह सावद्य है। अत साधक मन-वचन-काय को परभावो में न जाने दे, उन्हे आत्मभाव मे स्थिर करे। स्वभावदशा से परे जितनी भी प्रवृत्ति है वह सब परकीय है। आत्मा का स्वभावदशा से हटकर परभाव मे जाना ही निश्चयदृष्टि से दुश्चरित्र है, चारित्रदोष है, और वही बन्ध है, सरागवृत्ति है। अत निश्चयदृष्टि से तत्त्व का निश्चय करना दर्शन है, आत्मा का विनिश्चय करना ज्ञान है और आत्मभाव मे स्थित होना चारित्र है। निश्चयदृष्टि के साधक एक ओर से स्वभाव मे स्थित हो, समस्त परभावो का त्याग करे दूसरी ओर से व्यवहारनय की दृष्टि से व्रत-समिति-गुप्तिरूप चारित्र का पालन करे। अर्थात्—अशुभ से निवृत्ति और शुभ मे प्रवृत्तिरूप व्यवहारचारित्र का पालन करे।

इस प्रकार अभ्यास करते-करते साधक भवपरम्परा के हेतु को नष्ट करने के लिए बाह्य और आभ्यन्तर समस्त प्रकार की क्रियाओ का अवरोधरूप जिनोक्त परम सम्यक्चारित्र का स्वीकार करे। यो स्वरूपस्थितिप्राप्त सावद्यवृत्ति से सर्वथा विरत होकर जब पूर्णतया निरवद्यवृत्ति मे स्थित हो जायेगा, तब उस आत्मा के लिए पुनः सावद्य का सेवन करना उसके कल्प की सीमा से बाहर है। अर्थात् सर्वथा सर्वदा पूर्णतया निरवद्य आत्मस्वरूप की स्थिति प्राप्त कर लेगा। यही मोक्ष की स्थिति है, जो आत्मविद्या के अभ्यास का परम्परागत फल है।

बन्धुओ !

प्रत्येक मुमुक्षु साधक को अध्यात्मविद्या के अभ्यास द्वारा अपने कर्मबन्ध से मुक्त होकर परमात्मदशा को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, जो मनुष्यभव मे ही हो सकता है। □

२१

पाप सांप से भी खतरनाक

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

संसार मे सबसे अधिक बुद्धिमान् प्राणी मनुष्य है। अधिकाश मनुष्यो से यदि पूछा जाए कि 'आप सुख चाहते हैं या दु ख ?' मैं समझता हूँ, सबका प्राय एक ही उत्तर होगा—'हम सुख ही चाहते हैं, दु ख नही।' परन्तु उनसे कहे कि दु ख के कारणभूत पापो को छोड दो। हिंसा, झूठ, बेईमानी, विषय कषाय आदि जिन बातो से दु ख होता है उनका त्याग कर दो तो वे कहेंगे —'महाराज ! यह काम नही हो सकता। आप कहे तो हम अमुक संस्था मे या आपकी सेवा मे अमुक रकम दे सकते है, साधन भी जुटा सकते है, पर इन (पापजनक) बातों को छोडना हमारे बस की बात नही।' इस पर मुझे दुर्योधन की मनोवृत्ति याद आती है।

दुर्योधन की राजसभा मे बडे-बडे धर्मशास्त्री थे, जो धर्म अधर्म और पुण्य-पाप की बाते खोल खोलकर सुनाते थे। इतिहासज्ञ भी थे, जो पूर्वजो के धर्ममय जीवन का इतिहास सुनाते और उससे प्रेरणा लेने को कहते थे। बडे-बडे राजनीतिज्ञ भी थे, जो धर्मपुनीत राजनीति के सूत्र सुनाते थे। जब उन्होने दुर्योधन को अनीति और अधर्म से दूर रहने और धर्म मे प्रवृत्त होने को कहा तो उसने उत्तर दिया—

> जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति ।
> जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति ॥

—मैं जानता हूँ, कि धर्म क्या है ? परन्तु मेरी उसमे प्रवृत्ति नही हो पाती। मैं अधर्म और पाप को भी जानता हू, लेकिन उसमे निवृत्त नही हो सकता।

इसी प्रकार का लाचारी भरा उत्तर आज अधिकांश लोगो के मुँह से सुनने को मिलेगा। यद्यपि सारी मानव जाति आज सुख, शान्ति, अमन-चैन

और सम्पत्ति चाहती है, परन्तु वह मिले कैसे ? इसका कभी किसी ने विचार किया है ? वह मिलता है, धर्म मे प्रवृत्त होने से तथा पाप से निवृत्त होने से। परन्तु वर्तमान युग के अधिकाश लोगो की मनोवृत्ति इस प्रकार की बन रही है।

धर्मस्य फलमिच्छन्ति, धर्मं नेच्छन्ति मानवा ।
फल पापस्य नेच्छन्ति, पाप कुर्वन्ति सादरा ॥

—मनुष्य धर्म का सुफल पाना चाहते हैं, परन्तु धर्म का आचरण करना नही चाहते। साथ ही वे पाप का (दु ख रूपी) फल नही पाना चाहते, किन्तु सारे दिन बेखटके आदरपूर्वक पाप करते हैं।

बन्धुओ !

कार्य चाहिए, परन्तु उसके कारण का विचार नही करते। भला, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? अगर किसी को आम खाने हो और वह नीम का पेड बोए तो भला आम के फल उसे कैसे प्राप्त होंगे ? इसी प्रकार अगर किसी को धर्म के मधुर फल चखने हो और पाप के कडवे फलो से बचना हो तो उसे धर्मरूपी वृक्ष के बीज बोने होगे। पापरूप वृक्ष के बीजो से दूर रहना होगा।

पाप और साँप दोनो मनुष्य को मृत्यु की गोद मे भी सुख-शान्ति मे सोने नही देते। साँप तो एक जन्म मे ही काट कर मनुष्य को पीडा पहुचाता है, परन्तु पाप जन्म-जन्म मे मनुष्य को पीडा पहुचाता है। इतना ही नही, सुख शान्ति से जीने नही देता। पाप से दुर्गति के साथ-साथ दुर्बुद्धि भी मिलती है, जिसके कारण जन्म जन्मान्तर तक पाप करने की वृत्ति उत्तेजित होती रहती है, धर्म करने की बुद्धि सूझती ही नही। पाप का डक बिच्छू और सर्प से अधिक तीखा और घातक होता है। पाश्चात्य विचारक वॉल्टर स्कॉट कहते है—

When we think of death, a thousand sins which we have trodden as worms beneath our feet, rise us against uo as fanning serpents

—जब हम मृत्यु का स्मरण करते हैं तो हजारो पाप, जिन्हे हम कीड़े-मकोडो की तरह पैरो के नीचे कुचल चुके हैं, हमारे विरुद्ध फणिधर सर्प की भाँति खडे होते हैं।

पाप के इतने भयकर परिणाम जानने-समझने पर भी मनुष्य विवेक-भ्रष्ट होकर पाप करता है। पाप का प्रारम्भ सुन्दर प्रतीत होता है, किन्तु

उसका अन्त दु:खदायी है। पाप की कल्पना प्रारम्भ में अफीम के फूल की तरह देखने में सुन्दर प्रतीत होती है, किन्तु उसका परिणाम अफीम की तरह कटु होता है।

पाप के कटु फल

प्रस्तुत अठारहवें अध्ययन मे अर्हतर्षि वरिसवकृष्ण पाप और धर्म के कटु एव मधुर परिणामो की चर्चा करते हुए पाप से बचने और धर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते हैं। सर्वप्रथम वे पाप के कटु-परिणामो के विषय मे कहते है—

प्रश्न—'*अयते खलु भो जीवो वज्ज समादियति से कहमेतं ?*'

उत्तर—"पाणातिवाएणं जाव परिग्गहेण, अरति जाव मिच्छा-दसणसल्लेण वज्ज समाइत्ता, हत्थच्छेयणाइ पायच्छेयणाइ जाव अणुपरियट्टति णवमुद्देसगमेण।"

(प्रश्न)—जो जीव पाप (वद्य) का ग्रहण (सेवन और बन्ध) करता है, वह किन कारणो से और कैसे ?

(उत्तर यह है—) जीव प्राणातिपात से लेकर परिग्रह और अरति से लेकर मिथ्यादर्शन-शल्य तक, इन अठारह पापस्थानों (के सेवन) से पाप का उपार्जन (ग्रहण या बन्ध) करता है। बाद में उसके फलस्वरूप बार-बार दुर्गतियो एव कुयोनियो मे जन्म लेकर हस्तच्छेदन, पादच्छेदन आदि असीम दु खो का अनुभव करता हुआ, अनेक जन्मो तक ससार मे परिभ्रमण करता रहता है। यह सब वर्णन नौवे अध्ययन मे हम कर चुके हैं, उसी प्रकार जान लेना चाहिए।

वस्तुत हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि से लेकर मिथ्या-दर्शनशल्य तक जो १८ पापस्थान (पाप के कारण) बताये हैं, उन पापो का सेवन करने के बाद देर-सवेर से उसका फल मिलता ही है। कई लोगो को तो तत्काल उसका कटु फल मिल जाता है। जो पाप के बीज बोता है, उसे पुण्य या धर्म के फल स्वप्न मे भी नहीं मिल सकते हैं। यही कारण है कि हिंसा आदि पाप करके मनुष्य तत्काल तो बहुत खुश होता है, परन्तु जब वह पाप कर्म उदय मे आता है, तब वह बहुत दुखी होता है। एक पंजाबी कवि ने कहा है—

हसदे ने खिल-खिल जेहड़े रोवणगे यार कल नू।
यम्मां ने लेखा लेणा, फड़के तलवार तेनू॥

जो कसाई या हत्यारे आज हस हंसकर दूसरो की गर्दन पर छुरियाँ

चलाते हैं, जो चोरी, डकैती करके दूसरो का धन हरण करते हैं, या जो ठगी, धोखेबाजी, या बेईमानी करके दूसरो से पैसे ऐंठ कर खुश होते हैं, जो निर्दोष निरपराध व्यक्तियो का कत्लेआम करते हैं, राज्य वृद्धि के लिए युद्ध छेडकर नरसहार कराते हैं, ऐसे लोग भले ही पाप करते समय खुश हो लें, परन्तु जब उन पाप कर्मों के परिणाम सामने आयेंगे, तब उन्हे घोर पश्चात्ताप होगा, तब वे भयकर आर्त्तनाद करेंगे, तब भी उस पाप कर्म के फल से छुटकारा नही मिलेगा।

कई बार तो, पापकम का फल हाथोहाथ मिल जाता है। मैने 'कल्याण' (मासिक पत्र) मे एक सच्ची घटना पढी थी वह इस तथ्य को समझने मे बहुत उपयोगी होगी।

मेरठ के निकट पाचली गाँव मे जाट परिवार के दो भाई रहते थे। वे खेती करते थे और आनन्द से जीवन यापन करते थे। एक दिन दूसरे गाँव से दो सम्पन्न किसान दो बैल खरीदने के लिए उस गाँव मे आये। पूछते-पूछते वे इन दो भाइयो के यहाँ आ पहुचे। दोनो भाइयो ने उन्हे बैल की जोडी बताई उन्हे बैल पसद आ गए। १२००) रुपये मे सौदा तय हो गया। आगन्तुको ने कहा—हम रातभर आपके यहाँ ही ठहरेंगे। सुबह आपको रुपये देकर दोनो बैल ले जाएँगे।' दोनो भाइयो ने स्वीकार किया। उन्होने आगन्तुको को भोजन कराया और दोनो के सोने के लिए दो खाट लगाकर उन पर बिछौने बिछा दिये। दोनो आगन्तुक किसान निश्चितता से सो गए। किन्तु उन जाट भाइयो के मन मे पाप जागा। मन ही मन कुविचार आया कि इन दोनो के पास १२००) रुपये तो हैं ही, और भी रकम होगी। अत क्यो न इनका सफाया कर दिया जाए। जिससे बैल भी बचगे और रुपये भी आ जाएँगे।' इस कुविचार को अमली रूप देने के लिए उन्होने अपनी पत्नियो से कहा—

"देखो, हम गन्ने के खेत मे इन दोनो को मारने के बाद गाड़ने के लिए गड्ढा खोदने जाते हैं। जब गड्ढा खुद जाएगा, तब हम कुछ जोर से कहेगे— राम राम ! बस, यह सुनते ही तुम दोनो इनकी गर्दन पर छुरी फेर देना और जब ये तडफ कर शान्त हो जाएँ, तब इनकी जेबें टटोल कर सारी रकम निकाल लेना। हम दोनो आकर इनकी लाश को ठिकाने लगा देंगे।" दोनो महिलाओ ने इस पापकर्म के लिए हामी भर ली। रात के कोई ग्यारह बजे थे। दोनो भाई गन्ने के खेत में आकर गड्ढा खोदने लगे। संयोगवश

इसी गाँव का एक व्यक्ति उस समय शौच के लिए गन्ने के खेत की ओर गया। जब वह शौच के लिए बैठा तो गन्ने के पत्तो की खड़खड़ाहट तथा इन दोनो भाइयों की आगन्तुकों की हत्या करने की बातचीत सुनी। उसके मन में राम जागा। वह तुरन्त ही दौडकर उन दोनो भाइयो के घर के बरामदे मे सोये हुए दोनो आगन्तुक किसानो को जगाया और कहा—'चलो, मेरे साथ, आपको यहाँ नही सोना है।' सौभाग्य से वे दोनो सहसा जाग गये और झटपट अपने कपडे पहनकर उस भाई के साथ चल दिये। उसने अपने घर की बैठक मे उन्हे सुला दिया, सारी बात भी समझा दी।

इन दोनो आगन्तुको के जाने के थोडी देर बाद ही उन दोनो जाट भाइयो के दो लडके, जो सिनेमा देखने मेरठ गए हुए थे, लौटकर आए, अपने कमीज खूटी पर टागे और आगन्तुको के लिए बिछाए हुए दोनो बिछोनो पर यह समझकर सो गए कि हमारी माताओ ने हमारे लिए ही ये बिछाये होगे।

इधर कुछ ही देर बाद दोनो जाटभाई गड्ढा खोद चुके तो उन्होने अपनी पत्नियो को सकेत किया। बस, दोनो महिलाओ ने अपने-अपने हाथ मे छुरी ली और सोये हुए उन दोनो अपने बच्चो की गर्दन पर फिरा दी। दोनो ही थोडी देर मे शान्त हो गए। दोनो के कमीज की जेबें टटोली तो उनमे सिर्फ डेढ रुपये मिले। दोनो को आश्चर्य और दुःख तो हुआ, किन्तु उस समय कुछ बोली नही। दोनो जाट भाइयो ने उन दोनो बच्चो की लाशे उठाकर गड्ढे मे डाल दी। ऊपर से मिट्टी डालकर गड्डे को पाट दिया। सुबह हुआ। दोनो जाटभाई कुए के पास होकर गुजरे और उन्होने उन दोनो आगन्तुको को कुए पर हाथ-मुँह धोते हुए देखा तो हक्के-बक्के रह गए। उलटे पैरो घर लौटे। अपनी पत्नियो से पूछा कि तुमने किनको मारा था ? वे दोनो तो जिंदा है, अभी हम देखकर आए है। आखिर पता लगा कि वे दोनो उनके ही लडके थे, जिन्हे उनको माताओ ने अपने ही हाथो मौत के घाट उतार दिया। गड्ढा पुन खोदकर देखा तो अब पश्चात्ताप का पार न रहा। इधर गाँव भर मे उनकी इस करतूत का पता लोगो को लग गया। पुलिस भी सूचना पाकर आ धमकी। दोनो पापियो को गिरफ्तार करके जेल मे ठूस दिया। अपने किये पाप का फल उन्हे हाथोहाथ मिल गया।

पाप के विचार मात्र से दूर रहो

बन्धुओ ! पाप का विचार भी घोर अशुभ कर्मबन्धक होता है, फिर

उस विचार को कार्यान्वित करने का फल तो और भी भयंकर होता है। पांचली किसान-परिवार को यह पापफल तो इस लोक में मिला। परलोक मे भी न जाने कितनी-कितनी यातनाएँ सहनी पड़ेगी, इसका विचार आते ही रोंगटे खडे हो जाते हैं।

अत जैसे साप सामने मिलते ही, आप उससे बचकर दूर भागते हैं, उसी प्रकार पाप का विचार मन मे आते ही उससे दूर भाग जाओ। उस विचार को तुरत मन से निकाल दो।

वाणी और चेष्टा मे कदाचित् पाप आ जाए तो उसे भी पश्चात्ताप, आलोचना, गर्हा, क्षमा एव प्रायश्चित्त द्वारा शीघ्र ही हलका कर दो। उसकी पुनरावृत्ति तो कदापि मत होने दो। पाप करके सुख-शान्ति की कल्पना करना वैसा ही है जैसा कि प्याज खाकर इलायची की डकार लेना। पाप की परिणति का विपाकोदय अशुभ ही होता है। साधक के जीवन मे पाप की एक बूँद भी उसकी अध्यात्म-साधना को चौपट कर देती है, उसके आत्म-विकास को ठप्प कर देती है। अज्ञान, अविवेक और दुर्बुद्धि से मानव बहुत से पाप अर्जित कर लेता है। अत प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय यतना—विवेक का ध्यान रखना चाहिए। ताकि पाप के दुष्परिणाम-कटुफल भोगते समय घोर पश्चात्ताप न करना पडे।

पाप से विरत साधक की स्वभाव मे स्थिति

इसके पश्चात् अर्हतर्षि वरिसवकृष्ण पापकर्मों से दूर रहने वाले साधक के जीवन के सम्बन्ध में कहते हैं—

प्र०—जे खलु णो जीवे णो वज्ज समादियति, से कहमेत ?'

उ०—'वरिसवकण्हेण अरहता इसिणा बुइत। पाणातिवात-वेरमणेण जाव मिच्छादसणसल्ल-वेरमणेण, सोइदिय-निग्गहणेण णो वज्ज समज्जिजित्ता, हत्थछेयणाइ, पायच्छेयणाइ जाव दोमणस्साइ वीतिवतित्ता सिवमचल-जाव चिट्ठिति।

(प्रश्न है)—'जो आत्मा पाप का उपार्जन नही करता, वह किन कारणो से और कैसे ?'

(उत्तर)—'वरिसवकृष्ण अर्हतर्षि बोले—प्राणातिपात से यावत् मिथ्यादर्शनशल्य (इन अठारह पापस्थानो) से विरति तथा श्रोत्रेन्द्रिय (यावत्

स्पर्शेन्द्रिय) के विषय के विग्रह द्वारा जो जीव पाप का ग्रहण (उपार्जन, नहीं करता, वह (अनेक जन्मों तक भवभ्रमण करके) हस्तच्छेदन यावत् दौर्मनस्य आदि समस्त दु खसमूह को व्यतिक्रान्त (पार) करके अन्त मे शिव, अचलरूप आत्मस्थिति (मुक्ति) को प्राप्त करता है।'

वस्तुत. पाप चाहे किसी भी प्रकार का हो, उससे विरत रहने वाला आत्मा ही अन्त मे दु खो का अन्त करता है। कुविचार ही पाप का अधिष्ठान है। पुण्य एव धर्म की तरह पाप का सम्बन्ध भी हृदय से है। जो असद् विचारो से दूर रहता है, वह पाप और उसके कटुफल से बचता है।

एक विचारक कवि कहता है—

बीज कर्म के जो बोता है, वही अकेला काटे।
पुत्र कलत्र मित्र कितने हों, कोई न उनको बाटे ॥ध्रुव॥

भाव अगर शुभ हो तो होता शुभ कर्मों का बन्धन।
अगर अशुभ होंगे तो पाप का होगा ही सवर्धन ॥
अत भाव बनते विमल, बनो दयालु और सरल।
भाव अगर बढ़ते जाएँ तो, कोई सहे नहीं घाटे। बीज०॥१॥

स्वल्प सुखो के लिए जीव ये करता ऐसे पाप है।
जब होता परिपाक है, उनका मिलता अतिसताप है॥
रो-रोकर पछताता है, कहीं शान्ति नहीं पाता है।
मधु से लिप्त खड्ग धारा को जैसे कोई चाटे ॥बीज०॥२॥

कवि ने थोडे शब्दो मे बहुत-सी तथ्यपूर्ण बाते कह दी हैं। अर्हतर्षि वरिसवकृष्ण अब पापकर्मों से आत्मा को पृथक् करने का उपाय एव परिणाम बताते हुए कहते हैं—

सकुणी सकुप्पघात च, वेरत्त रज्जुग तहा।
वारिपत्तधरोच्चेव विभागम्मि विहावए ॥१॥

—जैसे शकुनी पक्षी अपनी वज्र-सी चोच से फल को छेद देता है, वैर-भाव राज्य को विभाजित कर देता है और वारिपत्रधर—कमल, पानी को अपने से दूर कर देता है, उसी प्रकार प्रबुद्ध आत्मा कर्म और आत्मा को पृथक् कर देता है, अर्थात् पापपरिणति का परित्याग करके आत्मा को शुद्ध-परिणति (आत्म भाव) मे स्थित कर देता है।

प्रस्तुत गाथा मे तीन उदाहरण देकर आत्मा को पाप से अथवा 'स्व' को पर से हटाने या अलग करने की प्रेरणा की गई है। पक्षी अपनी तीखी चोंच से फल को और कभी-कभी गुठली तक को छेद देता है, जिससे फिर वह उग नही सकती, राजनायकों का आपसी वैर राज्य के टुकड़े टुकडे कर देता है, तथा कमल जल मे पैदा होकर भी जल से अलिप्त रहता है, वह अपने पत्ते पर जलबिन्दुओ को पृथक कर देता हैं। उसी प्रकार जागृत आत्मा अनादि कर्मपुद्‌गलो को आत्मा से पृथक कर देता है।

इस विवेचन का सार यह है, मनुष्य अज्ञान और मोह मे फसकर पापकर्म करता है, उसकी पीडा से कराहता है किंतु छुटकारा तभी मिलेगा, जब ज्ञान और वैराग्य का चिन्तन कर समता और शान्ति धारण करेगा।

□

हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

☐ ☐